आचार्य श्री योगीन्द्रदेव विरचित

ज्ञानांकुश

(तत्वचिंतन के सूत्र)

वाचनाकार

परम पूज्य आचार्य श्री वसुनन्दी जी मुनिराज

ग्रंथ : ज्ञानांकुश (तत्वचिंतन के सूत्र)

ग्रंथकार : आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्र देव

मंगल आशीर्वाद : प.पू. सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

वाचनाकार : प्राकृतभाषा चक्रवर्ती, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्व-वर्चस्व नंदिनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2025)

प्रतियाँ : 1000

ISBN : **978-93-94199-41-5**

मूल्य : 240/- (Not for Sale)

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

प्राप्ति स्थल : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति कार्यालय
मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

सम्पादकीय

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो, न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि॥

–(अमितगति श्रावकाचार, 96)

निशदिन घोर तपश्चरण भले करो, नित्य ही सम्पूर्ण शास्त्रों का अध्ययन भले करो, प्रमाद रहित होकर चारित्र भले धारण करो, परन्तु ध्यान के बिना सिद्धि नहीं।

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स॥

–(भगवती आराधना, 1896)

जैसे रत्नों में वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगन्धित पदार्थों में गोशीर्ष-चन्दन श्रेष्ठ है, मणियों में वैडूर्यमणि उत्तम है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप में ध्यान ही सारभूत व सर्वोत्कृष्ट है।

जिनागम की विराट परम्परा में असंख्य ऐसे ग्रन्थ रचे गए हैं, जो साधना-पथ के पथिकों के लिए दीपस्तम्भ सिद्ध हुए हैं। उन ग्रन्थ रूपी रत्नों में आचार्य योगीन्द्र देव स्वामी द्वारा रचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ जैन योग-साहित्य की एक अनुपम निधि है। जिस प्रकार अंकुश हाथी की गति को संयमित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ चञ्चल चित्त को संयमित कर ध्यान-मार्ग पर स्थिर करता है, साधना के अनुशासन में बांधता है। आत्मा को उसके निजस्वरूप की ओर उन्मुख करने वाली यह कृति केवल शास्त्रीय विवेचना मात्र नहीं, अपितु साधना का प्रामाणिक मार्गदर्शन भी है।

जिस प्रकार हाथी को वश करने के लिए अंकुश, बैल को वश करने के लिए नाथ, गधे को वश करने के लिए पैड, वाहन को नियन्त्रित करने के लिए ब्रेक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार चित्त को वश करने के लिए ज्ञान का अंकुश आवश्यक है। किन्तु ज्ञान के अंकुश का प्रयोग वही कर सकता है, जिसके पास संयम की शक्ति हो। जिस प्रकार छोटा शक्तिहीन बालक ब्रेक लगाकर गाड़ी को वश में नहीं कर सकता, अंकुश को उठाने की शक्ति से हीन बालक गज पर अंकुश नहीं कर सकता, उसी प्रकार संयम से हीन साधक, चित्त पर ज्ञान का अंकुश लगाने में असमर्थ होता है।

जब संयमी चित्त रूपी गज पर ज्ञान का अंकुश लगाता है, तब वह एक ही राह पर अग्रसर होता है। उसी एक राह का नाम है–ध्यान। 'ध्यान' ही जैन दर्शन की चरम साधना है; जिसके बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ध्यान के बिना पूजा–पाठ, व्रत, उपवासादि सब अर्थहीन ही प्रतीत होता है। यूँ तो विश्व के समस्त दर्शनों ने ध्यान की महिमा गायी है, अपने–अपने अनुसार उसके स्वरूप का भी निरूपण किया है, किन्तु ध्यान का जो समग्र व सम्यक् विवेचन आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्र देव स्वामी ने अपने 'ज्ञानांकुश' नामक लघुकाय ग्रन्थ में किया है, वह अन्य कहीं प्राप्त नहीं होता।

ध्यान केवल साधन नहीं, बल्कि आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। ध्यान आत्मा का वास्तविक आभूषण है। यही वह साधन है जिसके द्वारा साधक जन्म–मरण के अनन्त चक्र से मुक्त होकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। इस ग्रन्थ में ध्यान के चार स्वरूप–पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का श्रेष्ठ निरूपण है, जो साधना के क्रम को क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से परातीत की ओर ले जाता है।

यहाँ ध्यान मात्र प्रकारों तक सीमित नहीं है; अपितु ग्रन्थ में ध्यान के स्थान–ललाट, नेत्र, कर्ण, नासिका का अग्रभाग, नाभि, मुख आदि का भी

विवेचन है। समत्व भाव, तत्त्वचिन्तन, वैराग्य, निर्ग्रन्थता और परीषहजय इन्हें ध्यान का कारण बताया गया है। इन हेतुओं के माध्यम से एकाग्रता साधक को क्रमशः संयम, शान्ति और आत्म-लय की ओर ले जाती है।

ध्यान केवल साधना नहीं; बल्कि जीवन का 5D अनुभव है।

(i) Direction (दिशा)–ध्यान जीवन को सही दिशा देता है। भटकता मन और अस्थिर सोच को एक केन्द्र पर लाकर वह हमें हमारे लक्ष्यों की ओर उन्मुख करता है।

(ii) Discipline (अनुशासन)–ध्यान अनुशासन का आधार है। नियमित अभ्यास से मन नियंत्रित होता है और जीवन में स्थिरता तथा आत्म-नियंत्रण आता है।

(iii) Determination (दृढ़ता)–ध्यान साधक में मानसिक शक्ति और दृढ़ निश्चय पैदा करता है। कठिन परिस्थितियों में भी यह हमें टूटने नहीं देता है।

(iv) Detoxification (शुद्धि)–ध्यान मन, मस्तिष्क और भावनाओं का विषहरण करता है। नकारात्मकता और तनाव को दूर कर आत्मा में शांति और पवित्रता भरता है।

(v) Development (विकास)–ध्यान का अंतिम आयाम है समग्र विकास-शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक। यह युवा पीढ़ी को संतुलित, आत्मविश्वासी और जागरूक बनाता है।

अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने पाया कि नियमित ध्यान करने से stress और Anxiety कम होती है। MRI स्केन से prove हुआ कि ध्यान करने वालों के मस्तिष्क के Amygdala (जो डर व तनाव से जुड़ा होता है) की सक्रियता घट जाती है, जिससे मन शान्त, स्थिर और सन्तुलित रहता है।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में किए गए अध्ययन से सिद्ध हुआ कि मात्र दो हफ्ते का ध्यान अभ्यास भी memory और concentration को बढ़ा देता है। विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय के न्यूरोसाइंटिस्ट 'रिचर्ड डेविडसन' के शोध से ज्ञाता होता है किं ध्यान करने वाले लोगों में मस्तिष्क का prefrontal cortex (निर्णय लेने वाला हिस्सा) अधिक सक्रिय हो जाता है और नकारात्मक भावनाएँ कम हो जाती हैं। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ हेल्थ (NTH) की रिपोर्ट के अनुसार ध्यान ब्लड प्रेशर Control करता है, नींद सुधारता है और रोग प्रतिरोधक क्षमता (immunity power) बढ़ाता है।

ध्यान का वर्णन करने वाले 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ पर परम पूज्य प्राकृत भाषा चक्रवर्ती, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनन्दी जी गुरुदेव ने शब्दों की सरलता व भाव गाम्भीर्य पूर्वक जो प्रवचन दिए; प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं का सङ्कलन है। इन प्रवचनों में जहाँ एक ओर शास्त्रीय गहराई है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक मार्गदर्शन भी है। साधक के लिए यह ग्रन्थ एक मार्गदर्शक दीपक की भाँति है, जो अज्ञान के अन्धकार को चीरकर आत्मा के मार्ग को आलोकित करता है।

'ज्ञानांकुश' (तत्त्वचिन्तन के सूत्र) नामक इस सङ्कलन में आचार्य गुरुवर के वचनों की मौलिकता अक्षुण्ण रखते हुए, उन्हें मात्र क्रमबद्ध और सुगम रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि कहीं त्रुटि रह गई हो तो वह हमारी है और यदि कहीं से प्रेरणा एवं शान्ति का अनुभव हो, तो वह आचार्य गुरुवर की अनुकम्पा है। हमारा विश्वास है कि यह ग्रन्थ साधकों के लिए ध्यान-मार्ग को स्पष्ट करेगा, आत्मचिन्तन को गहराई देगा और मोक्षमार्ग की दिशा में प्रेरक सिद्ध होगा।

जैन साधना परम्परा में प्रवचन केवल वाणी का प्रवाह नहीं होते, वे आत्मा की गहराई तक उतरने वाली जीवनदायिनी धारा होते हैं। ऐसे ही पवित्र,

गम्भीर और आलोकित प्रवचनों से श्रोताओं को बार-बार सिंचित करते रहे हैं—परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज।

उनकी वाणी में शास्त्र की प्रामाणिकता है, हृदय की करुणा है और आत्मा की अनुभूति की चमक है। जब वे ज्ञानांकुश जैसे गम्भीर ग्रन्थ पर प्रवचन करते हैं, तो श्रोता केवल शास्त्र नहीं सुनता, बल्कि अपने अंतरात्मा में डूबकर आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।

गुरुवर के प्रवचन साधारण कथन नहीं, आत्मिक साधना के गहन संकेत हैं। वे बताते हैं कि ध्यान केवल आँख मूँद लेना नहीं, बल्कि आत्मा की ओर यात्रा करना है। वे स्पष्ट करते हैं कि आत्मा की गहराई में उतरने के लिए संयम, वैराग्य और तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है। उनकीं वाणी से साधक के मन में यह चेतना जाग्रत होती है कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है, और ध्यान उसका एकमात्र सेतु है।

गुरुवर का प्रत्येक प्रवचन साधक को भीतर से झकझोरता है। वे केवल शास्त्रीय विवेचना नहीं करते, बल्कि साधक की आत्मा को छूते हैं। उनके वचनों से लगता है मानो आत्मा स्वयं अपने स्वरूप की ओर पुकार रही हो। यही कारण है कि उनके प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति केवल सुनता ही नहीं, बल्कि जीने का ढंग भी बदल देता है।

इस सङ्कलन में प्रस्तुत प्रवचन-मालिका साधकों के लिए आत्मा की गहराई में उतरने का आमंत्रण है। गुरुवर की वाणी साधना-मार्ग की कठिनाइयों को सरल बनाती है और चित्त को आत्म-स्वरूप में स्थिर करती है।

गुरुदेव की वाणी का सङ्कलन आपके हाथों में सौंपते हुए हमें अति हर्ष और विनम्र गर्व का अनुभव हो रहा है। विश्वास है कि यह ग्रन्थ साधक समाज के लिए आत्मा की गहराई में प्रवेश करने का द्वार बनेगा।

हमारे द्वारा यह वृहद कार्य किया गया, यह पूज्य आचार्य गुरुवर की वात्सल्यपूर्ण आशीषानुकम्पा का ही प्रतिफल है। ग्रन्थ के पाण्डुलिपि आदि तैयार करने में सहयोगी संपूर्ण आर्यिका सङ्घ के प्रति अपनी शुभभावना रखते हैं।

यदि इस ग्रन्थ के सम्पादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ग्रन्थाध्ययन करें। भवागमननिर्गमन श्रृंखला को नष्ट करने में तत्पर, जिनेंद्र मुद्रांकित, निर्गन्थ गौरव, पंचमकाल में तीर्थंकर के समान धर्म की प्रभावना करने वाले परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव का दीर्घकालीन सानिध्य भूमिवासियों को प्राप्त हो, युगों-युगों तक उनके ज्ञान, तप, संयमादि का सौरभ समस्त विश्व को सुरभित करता रहे, उन्हें आरोग्य लाभ हो एवं परम निःश्रेयस की दुर्विलंघ्य घाटियों को शीघ्र पार करने में समर्थ हों, इन्ही भावनाओं के साथ परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृतभाषा चक्रवर्ती, महाकवि आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन।

ॐ अर्हं नमः
आर्यिका वर्धस्व-वर्चस्व नंदिनी

श्री शुभमिती
आश्विन शुक्ल 11, शुक्रवार
वी.नि.सं. 2551
3 अक्टूबर, 2025
अतिशय तीर्थक्षेत्र अहिच्छत्र

अनुक्रमणिका

क्रम सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1	प्रस्तावना	1
2	मङ्गलाचरण	12
3	आत्मभावना का फल	23
4	संसार और मोक्ष का कारण	32
5	विभावों को क्षय करने की प्रेरणा	42
6	ध्यान का लक्षण एवं फल	51
7	सङ्कल्प और उसका फल	61
8	निराश्रय ध्यान	72
9	आत्मा व ज्ञान में एकत्व	80
10	ब्रह्मविहार का फल	88
11	क्लेश का मूल कारण	97
12	सिद्धों का ध्यान	106
13	आत्मभावना	116
14	शुद्धात्मा के ध्यान का फल	122
15	धर्मध्यान के भेद	129
16	योगी का कर्त्तव्य	140
17	आत्माचरण	149
18	आत्मा का कर्त्तव्य	157
19	पुण्य की प्रेरणा	164
20	आत्मा का स्वरूप	171

21	रत्नत्रय की भावना	180
22	पाँच ज्ञान	187
23	चैत्य भक्ति	194
24	सम्यग्ज्ञान से आत्म शुद्धि	202
25	शास्त्र-गुरु व मोक्ष का लक्षण	209
26	ध्यान का महत्त्व	219
27	परमात्मा के भेद	228
28	ध्यान का फल	233
29	योगियों का तत्त्व	247
30	योगियों की स्थिति	255
31	आत्मचिन्तन का फल	261
32	प्रभात और अन्धकार	267
33	ध्यान की सफलता	274
34	ब्रह्मनिष्ठकों की दशा	281
35	चिन्ता के दुष्परिणाम	288
36	अन्यत्व भावना	298
37	अशुचित्व भावना	306
38	एकत्व भावना	313
39	निश्चय ध्यान	321
40	परम तत्त्व का लक्षण	328
41	सच्चा योगी	335
42	ध्यान के भेद	342
43	ध्यान के हेतु	358
44	ध्यान के स्थान	368
45	ग्रन्थाध्ययन का फल	376

प्रस्तावना

महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव जी ने मनोनियंत्रण के लिए **'ज्ञानांकुश'** नामक यह ग्रन्थ स्व-पर हिताय रचकर जीवमात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रज्ञ-पुरुषों का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन एवं अनर्थकारी नहीं होता। प्रत्येक कार्य के पीछे लघु वा दीर्घ, सर्वजन हिताय या बहुजन हिताय उद्देश्य होता है। निरुद्देश्य कार्य करने वाला व्यक्ति रथ्या पुरुष के समान माना जाता है। आचार्य भगवन् द्वारा इस ग्रन्थ का नाम **'ज्ञानांकुश'** इतना अच्छा रखा गया है कि प्रबुद्ध पुरुष इसके संबंध में इसको आद्योपांत पढ़े बिना ही जान सकते हैं कि इसकी विषय वस्तु क्या है। किसी वस्तु के शीर्षक के माध्यम से उसके अन्तर्गत निहित अंग-उपांगों के बारे में भी ज्ञान लगाया जा सकता है।

यदि किसी भी मनुष्य का भाल उत्तुंग है, नासिका व्यवस्थित है, आँखें सुदीर्घ हैं, कान कपोल के नीचे लटकते हुए हैं, अधर बिम्बाफल की तरह से हैं, दंतावलि अनार के दाने की तरह से है, गर्दन शंखाकृति को लिए है, मस्तक पर सुदीर्घ एवं गहरी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रहीं हैं, इतने मात्र को जानकर के प्रबुद्ध व्यक्ति उसके पूरे जीवनकाल का अध्ययन कर सकता है। भाल पर खिंची सुदीर्घ व गहरी रेखाएँ उसके निष्कलंक जीवन का परिचय देती हैं। भाल पर बिखरा हुआ तेज पुण्यवंत व्यक्ति के लक्षण का द्योतक है। इतना ही नहीं सुदीर्घ श्यामवर्णी नेत्र या अताम्र नयन ऐसे लगते हैं जैसे करुणा का जल उनमें पूरी तरह से भरा हुआ है। नासिका स्वाभिमान की प्रतीक है, ओष्ठ मधुरता-मृदुता-लालित्य एवं शब्दों की प्रवीणता के ज्ञापक होते हैं।

थुड्डी चेहरे की शोभा को बढ़ाने में उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है, जैसे शून्यों को मूल देने में अंक है, वृक्ष को समृद्धि देने वाली उसकी जड़ है। जिस प्रकार आनन को देखकर के उसके शरीर के बारे में संपूर्ण परिज्ञान किया जा सकता है उसी प्रकार 'ज्ञानांकुश' इस शीर्षक से ग्रंथ की विषय-वस्तु को समझने में विज्ञपुरुष असमर्थ न होंगे।

'ज्ञानांकुश' एक ऐसा शब्द है जिसे साहित्यिक शब्द भी कह सकते हैं और जिसे सुपरिचित शब्द भी कह सकते हैं। दो शब्दों की संधि ज्ञान + अंकुश। अंकुश शब्द का अर्थ प्राय:कर के लोकव्यवहार में या व्यवहार जगत में नियंत्रण करने का एक यंत्र लिया जाता है और मुख्यतया हाथी को नियंत्रित करने के लिए महावत उस अंकुश का प्रयोग करता है। वह छोटा सा अंकुश विशालकाय हाथी को नियंत्रण में कर सकता है। भले ही बड़ी-बड़ी लाठियाँ उसे वश में न कर पाएँ, बड़ी-बड़ी रस्सियाँ उसे नियंत्रण में न ला पाएँ अथवा अन्य प्रकार के अस्त्र-शस्त्र नियन्त्रण करने में समर्थ न हो सकें किन्तु एक छोटा सा अंकुश हाथी को नियंत्रित कर सकता है। किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रयोग उस स्थान पर करना चाहिए जहाँ से हाथी नियंत्रित हो सकता है। हाथी को नियंत्रित करने के लिए कर्ण के समीप अंकुश को फंसाकर जैसे ही महावत पीछे की ओर खींचता है हाथी वहीं के वहीं ऐसे रुक जाता है जैसे किसी गाड़ी को Power Break लगाया हो।

जो कोई भी नियंत्रित है वह लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ है। अनियंत्रित कोई भी हो वह अपना जीवन तो बर्बाद करता ही है और उसके संपर्क में जो-जो भी आता है उनके जीवन को भी तबाह किए बिना नहीं रहता है। देखो, सरिता जब पर्वतों से गिरकर दो किनारों के बीच से बहती है तो उसका प्रवाह मनोहर और सुगंधित हो उठता है। वह इठलाती-लहराती-गहराती हुई चली जाती है और सागर में समर्पित होकर स्वयं सागर हो जाती है। वही

सरिता यदि अपने किनारों का बंधन तोड़ दे, तो उसका रूप विनाशकारी बन जाता है। वह न जाने कितने ग्राम, नगर, कस्बे व क्षेत्रों को डुबो दे, खेतों और बागों को नष्ट कर दे। वही सरिता का जल जब एक छोटी नाली के माध्यम से सुदूर तक ले जाया जाए तो खेतों को हरा-भरा कर दे। जैसे नियंत्रित सरिता हरियाली-खुशहाली देती है, वृक्षों की वृद्धि और समृद्धि का कारण है, ऐसे ही नियंत्रण में बहता हुआ जीवन स्वयं के लिए और दूसरों के लिए ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि और वृद्धि का निमित्त बनता है।

लोकव्यवहार में बैल को नियंत्रित करने के लिए उसकी नाक में नथ डालकर रस्सी बांधी जाती है। ऊँट को नकेल, गधे और घोड़े को पैंदे द्वारा संयमित किया जाता है। पक्षियों को पिंजरे में और पशुओं को किसी बाड़े या कटघरे में रखा जाता है। जो मनुष्य अनियंत्रित हो जाते हैं उन्हें कारागार में डालकर दंड और अनुशासन द्वारा नियंत्रित किया जाता है। यद्यपि मनुष्यों को नियंत्रित करने के लिए चाबुक, कोड़ा, लाठी, बंधन, बेड़ी, सांकल आदि से दंड देना उचित नहीं है, किन्तु जो मनुष्य इतना अनियंत्रित हो जाता है कि उसका व्यवहार पशुओं से भी बदतर हो जाता है तब शासक को उसको नियंत्रित करने के लिए इन सबका उपयोग करना पड़ता है।

'ज्ञानांकुश' यूँ समझिये कि यह मन रूपी हाथी को नियंत्रित करने के लिए ज्ञान का अंकुश है। मन बड़ा चंचल है,

''मन के हारे हार है, मन के जीते जीत है।''

''मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो''

मन के बारे में और भी कहा-

मन की तरंगें मार ले बस हो गया भजन।
आदत बुरी सुधार ले बस हो गया भजन॥

अथवा

मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक।।

इसीलिए आचार्यों ने, प्रज्ञ पुरुषों ने, मनीषियों ने, विचारकों ने, विद्वानों ने, साहित्यकारों ने मन के नियंत्रण की बात कही, और यह बात भी अपने मन पर नियंत्रण करके कही, अन्यथा यद्वा-तद्वा कह देते। उन्होंने अपने मन पर नियंत्रण करके पाया कि मन पर नियंत्रण किए बिना जीवन सार्थक नहीं हो सकता, मन पर नियंत्रण किए बिना हम किसी बात को भी अच्छी तरह से प्रस्तुत नहीं कर सकते। और मन पर नियंत्रण हो गया तो फिर इंद्रियों को त्रास देना व्यर्थ है। आँख मत खोलो, अपने मन के विकारों को दूर कर लो। कान में सीसा पिघलाकर मत डालो वरन् मन पर नियंत्रण करो जो उपयोगी है उसे सूपे की तरह ग्रहण कर लो और जो निःसार है उसे भूसे की तरह से उड़ा दो। कवियों ने कहा है–

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देई उड़ाय।।

साधु का स्वभाव सूप के समान होना चाहिए। जैसे सूप केवल सार को ग्रहण करता है और भूसी को उड़ा देता है, वैसे ही साधु जीवन के सार को ग्रहण करे और व्यर्थ को छाड़ दे। नासिका को पकड़कर, कानों को बंद करके काम नहीं चलेगा; वरन् मन पर नियंत्रण रखो। जिह्वा कुछ खाने के लिए लपलपाती है तो जीभ को काटने से काम नहीं चलेगा, बस मन पर नियंत्रण करो। मन को भी कांटो-छांटो मत, मन को बांटो भी मत, केवल मन को प्यार से सहलाकर अपने बस में कर लो। जैसे अच्छा रईस सर्वप्रथम अपने घोड़ों पर थपथपी लगाता है, उसे अपना मित्र बनाता है, फिर वह घोड़ा उसे उसके गन्तव्य तक ले जाता है। जैसे महावत हाथी को मनाकर-खुशामत

करके प्यार से पुचकारता है, उसे भोजन कराता है, तब हाथी पर सवारी कर गन्तव्य तक जा सकता है। यह मन भी हाथी की तरह से है, श्वान की तरह से नहीं जो 100 चक्कर काटे। हमारा मन बैरी नहीं है, यह बहुत शक्तिशाली है। जिसने मन को अपने अनुकूल बना लिया तो इसके माध्यम से वह कार्य भी सिद्ध कर सकते हैं जो वचन और तन से कभी नहीं किए जा सकते। मन से रहित जीव जिसकी सिद्धि नहीं कर पाते हैं उसकी सिद्धि मन वाले जीव कर पाते हैं, अपने मन पर नियंत्रण करके।

आचार्य महोदय ने मनोनियंत्रण के संबंध में ज्ञानांकुश नामक यह ग्रन्थ यहाँ पर प्रस्तुत किया है। हमारे मन पर किसी अन्य प्रकार से नियंत्रण नहीं लगाया जा सकता, हम अपने मन को रस्सियों से नहीं बांध सकते, पिंजरे में बंद नहीं कर सकते, मन को किन्हीं सांकल-बेड़ी या हथकड़ियों से नहीं बांधा जा सकता, मन को चाबुक आदि से पीटा नहीं जा सकता, मन पर लाठी नहीं बरसायी जा सकती, मन को पत्थरों से घायल-जख्मी नहीं किया जा सकता। मन इन सब की कभी परवाह नहीं करता। मन जिसमें लग गया फिर उसे मौत का भी डर नहीं। न अंधकार उसे डराता है, न अग्नि उसे जलाती है। मन तो जहाँ लग गया, तो उसे प्राप्त करके ही रहता है। जब मन की धारा अन्य सभी जगह से सिमटकर एक जगह आ जाती है तो पानी की बूंद की तरह से अपने लक्ष्य तक पहुँच जाती है, बाधाओं को दूर कर देती है। पानी की एक-एक बूँद गिरती हुई पाषाण की शिला में छेद कर देती है। ऐसे ही मन की नियंत्रित शक्ति बड़े से बड़े विघ्नों का भी विरोध-निरोध करने में समर्थ होती है।

ज्ञानांकुश नाम का यह ग्रन्थ उनके लिए है जो अपने मन पर नियंत्रण करना चाहते हैं, उनके लिए नहीं है जो मनमानी करना चाहते हैं। यह ग्रन्थ उनके लिए है जो मन को स्वतंत्र करना चाहते हैं, उनके लिए नहीं जो मन

को स्वच्छन्द करना चाहते हैं। यहाँ आचार्य महोदय ने मन पर नियंत्रण करने की विधि बताई है। मन रूपी हाथी पर ज्ञान का अंकुश लेकर सवार हो जाओ, अपने आप में संयम के साथ बैठो और अपने गन्तव्य तक बढ़ते चले जाओ, कोई डरने की आवश्यकता नहीं है।

महानुभाव! आत्महितार्थ भव्यजीवों को सम्यग्ज्ञान की परम आवश्यकता है। जैसे प्यासे चातक के लिए स्वाति नक्षत्र की बूँदों की आवश्यकता होती है, किसी भी तृषातुर प्राणी के लिए जल की आवश्यकता होती है, देवों को भी जब क्षुधा वेदनीय का अनुभव होता है तब कंठ से अमृत निःसृत होता है। शब्दपुंज जो समीचीन भाव से युक्त होता है वह भव्य प्राणियों को सन्मार्ग दिखाने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जैसे कोई व्यक्ति अंधकार में प्रज्ज्वलित दीपक लेकर चले। उसके लिए जिस प्रकार वह दीपक का प्रकाश सहयोगी होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्गी के लिए शास्त्रों का ज्ञान परम उपयोगी होता है। किन्तु शास्त्र हैं क्या? शास्ता के वचन, जो शास्ता के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के द्वारा लिपिबद्ध हों वे शास्त्र बन जाते हैं।

शास्ता कौन? 'आप्त' अर्थात् जो परमहितोपदेशी, वीतरागी व सर्वज्ञ हों। जो सम्पूर्ण ज्ञानदर्शन से युक्त हैं, सम्पूर्ण सुख से सहित हैं, सम्पूर्ण शक्ति के भण्डार हैं, चार घातिया कर्मों से रहित हैं अर्थात् अरिहंत भगवान हैं। परम हितोपदेशी वह हैं जिन्हें किञ्चित् भी उसके बदले में कुछ नहीं चाहिए। मनसा-वाचा-कर्मणा परम वैराग्य के साथ जिनके माध्यम से परमहित के लिए शब्दों के पुंज स्वतः प्रेषित हो जाएँ वह परमहितोपदेशी हैं।

वीतरागी कौन? जिन्होंने मोहनीय कर्म का पूर्णतः नाश कर दिया है। सर्वज्ञ कौन? सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन जिसकी आत्मा में प्रकट हो गया है अर्थात् ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी का सम्पूर्ण नाश करने वाले, उसके पूर्व मोहनीय कर्म का नाश करने वाले और फिर अनंतज्ञान-दर्शन व अनंतसुख का अनुभव

करने के लिए अनंत शक्ति अर्थात् वीर्य से सहित ऐसे अरिहंत भगवान ही 'शास्ता' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त शास्ता नहीं होते हैं अनुशास्ता होते हैं। प्रमुखशास्ता तीर्थंकर केवली ही होते हैं, पश्चात् सामान्य केवली, पश्चात् गणधरादि, पश्चात् श्रुतकेवली, उसके पश्चात् आरातीय आचार्य।

जो आरातीय ऋषि परम्परा है वह परम्परा आर्षमार्ग कहलाता है। उसके द्वारा प्राप्त साहित्य शास्त्र कहलाते हैं। उन शास्त्र के शब्दों में शास्ता का अनुकरण करने वाले निर्ग्रंथ साधुओं का अनुभव छिपा होता है। जैसे कोई भी भुने अनाज आदि या अनाज से बने पकवान हों, उन्हें ऐसे ही कोई खाए तो स्वाद नहीं आता, यदि उन्हें शक्कर की चाशनी में पाग दिया जाए तो उसमें मिठास आ जाती है। ऐसे ही शब्द तो अनादिनिधन हैं। पर्याय की अपेक्षा से नश्वर हैं, सत्ता की अपेक्षा से अनादिनिधन हैं। उन शब्दों में शास्ता, अधिशास्ता, आरातीय आचार्यों के भावों की मिठास जब डाल देते हैं तब वे ही शब्द भव्यजीवों के कल्याण के निमित्त बन जाते हैं। तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली, श्रुतकेवली या गणधर परमेष्ठी अथवा आरातीय आचार्यगण, मुनिगण, ऋषिगण ये आगम के सम्पादक हैं, उत्पादक हैं।

जिन आचार्य महोदय ने करुणा कर ग्रन्थ की रचना की उन आचार्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर, उनके चरणों में नमस्कार कर ग्रन्थ प्रारंभ किया जाता है। जैसे मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः - प्रतिगणधर देवाः तेषां वचनानुसार इत्याादि पाठ का उच्चारण कर ही ग्रन्थ का पठन-पाठन प्रारंभ करते हैं। इस प्रकार आप्त द्वारा कथित, गणधर द्वारा संग्रहित, मुनियों द्वारा लिपिबद्ध ग्रन्थ आगम ग्रन्थ कहलाते हैं।

यहाँ भव्यजीवों के हितार्थ आचार्य महोदय ने ग्रन्थ की रचना की। जब अंतरंग में तीव्र रूप से करुणा बलवती होती है तब भावनाएँ शब्दों का रूप लेकर भव्यजीवों के हित में प्रस्फुटित होती हैं। पृथ्वी की प्यास जब तीव्र

हो जाती है तो आकाश में सघन श्याम मेघ हो जाते हैं और प्रकृति की प्यास को देखकर वे बरस उठते हैं। पपीहे की कूक, मयूर का नृत्य देखकर जलवृष्टि होने लगती है। पृथ्वी ये कहे कि मेरी प्यास की काबिलियत थी इसलिए वर्षा हो गई तो ये पृथ्वी का या पृथ्वी के तुच्छ पादपों का थोथा अहंकार है। मेघवृष्टि स्वतः हुई। ऐसे ही गुरु महाराज की कृपादृष्टि हो गई तो उन्होंने शास्त्र रचकर भव्यजीवों के हितार्थ दे दिया।

कोई शिष्य कहे कि मेरी योग्यता है इसलिए गुरु ने मुझे पढ़ाया या पढाना ही चाहिए था तो यह कहना शिष्य के लिए पतन का मार्ग है। शिष्य वही है जो शिष्टता से युक्त हो, इष्ट को न भूले और मिष्टता में सना रहे। ऐसा शिष्य ही अभीष्ट फल को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। योग्य शिष्य कभी यह नहीं कहता कि गुरुमहाराज आपने मुझे क्या दिया, मैंने तो अपनी योग्यता से प्राप्त किया है, यदि यह कहता है तो वह शिष्य नहीं वह तो अशिष्ट हो गया, दुष्ट हो गया।

गुरु की सहज कृपादृष्टि बरसने पर भी यदि शिष्य की कठोरता का त्याग नहीं हुआ, शिष्य में शिष्टता नहीं आ रही है तो समझो वह शिष्ट की पात्रता से रहित है। वह पाषाण की तरह से है, जैसे पाषाण को जल में डाल दो तब भी वह मुलायम नहीं होता। वह शिष्य मिट्टी की तरह से नहीं कि एक-एक बूँद को पी जाए और समा जाए पुनः अपने कठोर रूप को छोड़कर नवनीत जैसा बन जाए।

महानुभाव! आचार्यों ने ग्रन्थों को रचकर उनमें ऐसी शक्ति भर दी, जिस शक्ति के माध्यम से मोह का शत्रु तिलमिलाने लगता है, अज्ञान का तम छटने लगता है, असंयम की बेड़ियाँ तड़-तड़ टूटने लगती हैं। ये सामर्थ्य गुरु महाराज के शब्दों में ही है। शब्द तो और भी हैं किन्तु उस 'जनवाणी' में वह सामर्थ्य नहीं है जो सामर्थ्य 'जिनवाणी' में है। जिनवाणी

वह शक्ति है जो मोहकर्म को तोड़ सकती है। जिनवचन सम्यक्त्व के कारण हैं, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के कारण हैं। यदि उन वचनों को कोई अव्रती कहना चाहे, तो कह नहीं सकता।

जिनवचन तो असाधारण हैं, बहुत भारी हैं, असंयमी-अव्रती उसे कैसे उठा सकता है। जैसे कोई व्यक्ति बड़ा सा झूमरा लेकर पहाड़ को तोड़ता है तो वह तोड़ सकता है किन्तु उसका शिशु कहे कि मैं इस पहाड़ को तोड़ दूँ तो नहीं तोड़ पाएगा। यदि बालक जिद करे कि नहीं मैं तो तोड़ूँगा ही तो उसका पिता थर्माकोल का बड़ा सा हथोड़ा बना देता है और पकड़ा देता है। क्या थर्माकोल के हथौड़े से पत्थर की चट्टान टूट सकती है? क्या उस हथौड़े से लोहे की जंजीर टूट सकती हैं? क्या चित्र में बनी मोमबत्ती से अंधकार दूर हो सकता है? नहीं हो सकता। ऐसे ही अव्रती, असंयमी, भोगों में आसक्त व्यक्ति के उपदेश से न तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और न सही मायने में ज्ञान की वृद्धि होती है और न ही उसका उपदेश, भाषण या शब्दों का समूह संयम की प्रेरणा दे पाता है। जो स्वयं संयम की ओर प्रवृत्त हो उसके शब्दों में प्रभाव होता है। जब शब्द जिह्वा से नहीं हृदय से निकलते हैं तब ही वह प्रभावी होते हैं। जिन शब्दों में बस इतना भाव हो कि मुझे अच्छी विदाई मिले, उन शब्दों के सुनने से सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती, केवल पैसे कमाने का लोभ जाग्रत होता है।

आचार्य महोदय ने कृपा करके शास्त्रों की रचना की, अपना समय निकाला। वे चाहते तो उन क्षणों में निश्चिंत होकर के आनन्द में लीन हो सकते थे। जैसा विद्वतवर दौलतरामजी ने लिखा-

यूँ चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र-नाग-नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो।।

ऐसे अकथनीय आनन्द को वे आचार्य महोदय ले सकते थे, असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा करने में वे समर्थ थे, किन्तु वे शुद्धोपयोग की भूमिका से नीचे उतरकर आए और शुभोपयोग में आकर शास्त्र लिखना प्रारंभ किया। किसके लिए? परहित के लिए।

साधु श्वांस लेता है स्वहित के लिए और छोड़ता है परहित के लिए। साधु दोहरा जीवन जीता है। अंतरंग की शुद्धि-विशुद्धि स्वयं के लिए होती है और बहिरंग की क्रिया-चर्या जिनशासन की प्रभावना व परकल्याण में निमित्त बनती है। उनके शरीर से नि:सृत वर्गणाएँ, उनका आभामण्डल दूसरे जीवों के संक्लेश को दूर करने वाला होता है, विशुद्धि बढ़ाने वाला होता है। परमपूज्य आचार्य भगवन्तों ने बहुत कृपादृष्टि की जो हमें इतना साहित्य दिया।

महानुभाव! उन आरातीय आचार्यों की परम्परा में बड़े सम्मान के साथ, बड़ी भक्ति-विनय के साथ एक नाम लिया जाता है "आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव"। 'जोगीन्दु' नाम से उनकी कई रचनाएँ हैं 'परमात्मप्रकाश', योगसार, दोहापाहुड़, अमृताशीति, ज्ञानांकुश इत्यादि। उन आचार्य का नाम स्मरण करते ही अंतरंग में कुछ होने लगता है। जिस प्रकार सूर्य की किरण को छूते ही नवनीत में कुछ होने लगता है, ऐसे ही उन परम आध्यात्मिक आचार्य का नाम लेते ही चित्त की विकृतियाँ व विकार धुलने लगते हैं। सूर्य की किरण पड़ते ही बर्फ पिघलने लगती है, ऐसे ही आचार्य महाराज की छवि नेत्रों में आते ही अंतरंग का विकार तिरोहित होने लगता है।

आचार्य महाराज श्रावक अवस्था में बड़े ही संवेगी रहे उनके माता-पिता के संस्कार ही थे जो बाल्यावस्था से ही उनमें अध्यात्म की ज्योति जल गई, ऐसा नन्दादीप जला जो अबुझ था। उनके माता-पिता भी ऐसे संवेगी रहे जिन्होंने स्वयं भी कल्याण का मार्ग चुना। ऐसे आचार्य महोदय जिन्होंने एकांत में बैठकर आत्मज्ञान का आनन्द लिया और परमात्म प्रकाश आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। वे छटवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं सातवीं शताब्दी

के पूर्वार्ध में हुए। उस समय अन्य आचार्य व विद्वान भी हुए किन्तु आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव जी ने यह सोचकर कि जो विद्या मुझे प्राप्त हुई है उसे मैं अपने साथ लेकर नहीं जाऊँगा, अन्यथा इस विद्या का अभाव होगा, जो मेरे अनुभव की कसौटी पर कसकर सूत्र आए हैं उन्हें मैं प्रस्तुत कर जाऊँ अतः उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। जिस प्रकार वृक्ष भी अपने फलों का स्वयं भक्षण नहीं करता, दूसरों को देता है, उसी प्रकार साधु भी अपने आत्मकल्याण के मार्ग में बढ़ते हुए जो समय बचता है, उसे श्रावकों के लिए देता है। जो उपलब्धियाँ आचार्य भगवन् को हुईं, उसे आगे आने वालों के लिए छोड़ दिया, जिससे आगे आने वाले इन चिह्नों पर चलकर के आगे बढ़ सकें।

'ज्ञानांकुश' नामक यह ग्रन्थ 44 काव्यों में रचा गया है। इसमें 43 काव्य अनुष्टुप छन्द के हैं और एक काव्य शार्दूलविक्रीडित है। आचार्य भगवन् ने इस ग्रन्थ की रचना बड़े मनोयोग से की है। ज्ञान का अंकुश अपने ऊपर कैसे लगाया जाए यह विषय यहाँ वर्णित किया गया है। हर चीज आत्मा पर अंकुश नहीं लगा सकती, ज्ञान ही आत्मा पर अंकुश लगा सकता है। जिस प्रकार पैर में लगा काँटा सुई से निकलता है तलवार से नहीं, किसी कुल्हाड़ी-फावड़े से नहीं। जैसे मेंढ़ बनाने के लिए फावड़े का प्रयोग होता है सुई का नहीं, लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ी का प्रयोग होता है सुई का नहीं, ऐसे ही ज्ञानांकुश ग्रंथ द्वारा मन पर ज्ञान का अंकुश लगाया जा सकता है। निःसंदेह तब ही वह ज्ञान सुगति प्राप्त करा सकता है और मन, वचन व काय को सही राह दे सकता है।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

मङ्गलाचरण

शुद्धात्मानं परं ज्ञात्वा, ज्ञानरूपं निरञ्जनम्।
वक्ष्ये संक्षेपतो योगं, संसारोच्छेद कारणम्॥1॥

अन्वयार्थ–(परम्) श्रेष्ठ **(ज्ञानरूपम्)** ज्ञानरूप **(निरञ्जनम्** निरंजन **(शुद्धात्मानं)** शुद्धात्मा **(ज्ञात्वा)** जानकर **(संसार)** संसार का **(उच्छेद)** उच्छेद करने में **(कारणं)** कारणभूत **(योगम्)** योग को मैं **(संक्षेपतः)** संक्षेप में **(वक्ष्ये)** कहूँगा।

अर्थ–श्रेष्ठ, ज्ञानरूप, निरंजन शुद्धात्मा को जानकर मैं संसार का उच्छेद करने में कारणभूत ऐसे योग को संक्षेप में कहूँगा।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव कृत 'ज्ञानांकुश' ग्रंथ के मङ्गलाचरण में कुछ विशेष ज्ञातव्य है, ज्ञेय है, श्रद्धेय है, आचरणेय है, ग्राह्य है, उपादेय है। प्रयास करते हैं यह जानने का कि वह क्या है। आचार्य महोदय ने इस नाम से ग्रन्थ लेखन करने का भाव क्यों बनाया है? मङ्गलाचरण क्यों किया, क्या मङ्गलाचरण नहीं करते तो काम नहीं चलता? बहुत सारी जिज्ञासाएँ आ सकती हैं।

व्यक्ति जब मकान बनाता है तो पहले नींव खोदता है। यदि वह नींव न खोदे तो क्या हर्ज है? मकान बनने के पहले ही धराशाही हो सकता है। जीवन का प्रारंभ जन्म से मानते हैं। गर शिशु गर्भ में न रहे तो क्या हर्ज है? जन्म ही नहीं होगा। विद्यार्थी स्कूल में Admission न ले भले ही वर्ष भर पढ़ता रहे तो क्या हर्ज है? उसे परीक्षा में बैठाया नहीं जाएगा। डॉक्टर के

पास किसी रोगी को ले जाओ और चेकअप न कराओ सीधा ट्रीटमेंट प्रारंभ किए दो तो? निरोगी होने की बजाय मृत्यु भी हो सकती है। इसी तरह बिना मङ्गलाचरण किए प्रारंभ किए गए ग्रन्थ निःसार, तथ्यहीन, अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में असमर्थ होते हैं, इसीलिए मङ्गलाचरण करना आवश्यक होता है।

इस ग्रन्थ का मङ्गलाचरण अनुष्टुप छन्द में किया है, जिसमें 32 अक्षर होते हैं। इसमें चार पद होते हैं और प्रत्येक पद में 8-8 अक्षर होते हैं। इस छन्द का लक्षण साहित्यकारों, आचार्यों ने इस प्रकार किया है-

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्रं लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अनुष्टुप छन्द में श्लोक के प्रत्येक चरण में छटवाँ अक्षर नियम से दीर्घ होता है एवं पाँचवा अक्षर हर पद में ह्रस्व होता है। दूसरे व चौथे पाद में सातवां अक्षर ह्रस्व होता है व प्रथम-तृतीय पाद में सप्तम अक्षर दीर्घ होता है, ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ मङ्गलाचरण में इष्ट देवता को नमस्कार करते हैं। क्योंकि जो आस्तिक पुरुष होते हैं वे अपनी श्रद्धा व आस्था को प्रस्तुत करने के लिए निबद्ध मङ्गलाचरण भी करते हैं। यदि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता नहीं है तो अनिबद्ध मङ्गलाचरण भी करते हैं किन्तु बिना मङ्गलाचरण के आगे नहीं बढ़ते।

यहाँ आ. भगवन् प्रतिज्ञा वाक्य सहित योग की विशेषता बताते हुए मङ्गलाचरण में कह रहे हैं कि 'योग' अर्थात् ध्यान के माध्यम से भवभ्रमण का नाश होता है, जन्म-मरण की संतति नष्ट होती है और कर्म का बंध व कर्म का फल बनने की परम्परा नष्ट होती है। योग शब्द के कई अर्थ

होते हैं। योग माने जोड़, ध्यान, समाधि इत्यादि। ध्यान अगर प्रशस्त है, शुभ है, धर्मध्यान है, शुक्लध्यान है तो इस संसारी आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाला है। 'शुद्धात्मानं परं ज्ञात्वा' जो आत्मा शुद्ध है, ज्ञानरूप है, निरंजन है उसे जानकर के उस ध्यान के बारे में कहूँगा।

मङ्गलाचरण एक प्रतिज्ञा है कि हम जो कुछ भी लिखेंगे वह मङ्गल आचरण से संबंधित ही लिखेंगे। अमङ्गल शब्द नहीं लिखेंगे, अहितकारक नहीं लिखेंगे, विषय-कषाय को बढ़ाने वाले शब्द नहीं लिखेंगे, पाप का बंध कराने वाले नहीं लिखेंगे, शुभ आचरण करने वाले, सातिशय पुण्य को कराने वाले, दुर्गति-दुःख-दुरावस्था से बचाने वाले, सुखकारक, सुगतिकारक शब्द ही लिखेंगे। यह प्रतिज्ञावाक्य हो गया। और इसके साथ-साथ मङ्गलाचरण करने वाला व्यक्ति प्रमाणिक हो गया कि जो मङ्गलाचरण कर रहा है वह अपने शब्दों से भी व अपने आचरण से भी और अपने भावों से भी प्रमाणिक है, ग्रन्थ लिखने के काबिल है। जिसका आचरण मङ्गल न हो, जो अमङ्गल कर रहा हो, पापरूप आचरण कर रहा हो, वह ग्रन्थ कैसे लिखेगा, और लिख भी दे तो उसे कौन पढ़ेगा?

अतः मङ्गलाचरण करने वाला व्यक्ति श्रद्धावान् है, विवेकवान् है, क्रियावान् है। वह यह सिद्ध कर रहा है कि वह आस्तिक है, नास्तिक नहीं है। उसे सच्चे देव में विश्वास है। वह अनुशासित है और अनुशासक के अनुशासन में रहने को तैयार है। मङ्गलाचरण करते ही प्रतिज्ञा ले ली कि मेरे शब्द यद्वा-तद्वा नहीं होंगे, आर्षमार्गी आचार्यों की लीक का उल्लंघन नहीं करेंगे। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिनेन्द्रप्रभु के सर्वांग से निःसृत ऊँकारमय वाणी जिसे मागधजाति के देवों ने 18 महाभाषा एवं 700 लघुभाषा रूप किया, जिसे श्रुत का विषय बनाकर के भव्यजीवों ने सुना, जो हमें आचार्यों,

गणधरों के माध्यम से जो परम्परा से प्राप्त हुआ, उसके आधार से ही लिखूँगा, अन्यथा नहीं लिखूँगा। बस समझाने की शैली अलग होगी, शब्द अलग होंगे। वर्तमान के दृश्यों को देखकर के मैं उदाहरण नये-नये ले सकता हूँ मैं उन शब्दों का प्रयोग कर सकता हूँ जो आज वर्तमानकाल में चल रहे हैं। आप भी जब मार्केट जाते हैं तो मुद्रा वही लेकर जाते हैं जो वर्तमान में प्रचलन में हो। 70-80-100 वर्ष पहले जो सिक्के चलते थे उन्हें मार्केट में लेकर जाओगे तो वस्तु नहीं मिलेगी या जो मुद्रा सौ वर्ष बाद चलेगी उसे आज लेकर जाओगे तो भी नहीं चलेगा। वर्तमानकाल में जो मुद्रा प्रचलन में है उसे लेकर जाओगे तो परेशानी नहीं होगी। इसी तरह वर्तमानकालीन आचार्यों का यह दायित्व बनता है कि वर्तमानकाल में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर उन शब्दों का प्रयोग करें, उदाहरणों का प्रयोग करें। भगवान की वाणी को समझाने के लिए आचार्यों का ये दायित्व होता है कि उन्हीं की भाषा में समझाएँ। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी जी ने समयसार में लिखा है कि आर्य को समझाने के लिए आर्य भाषा का प्रयोग करें, म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का प्रयोग करें। यदि उसकी भाषा में नहीं बोलोगे तो आपका समय व श्रम दोनों व्यर्थ चला जाएगा। इसीलिए आचार्यों ने भी उसी भाषा का प्रयोग किया। आचार्य भगवन् ने यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा।

प्रथमतः आचार्य महोदय ने मङ्गलाचरण ही क्यों किया? तो कारण कहा है-

नास्तिक्य परिहारस्तु, शिष्टाचार प्रपालनम्।
निर्विघ्नः पुण्यवाप्तिश्च, शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥

1. **''नास्तिक्य परिहारस्तु''** सर्वप्रथम नास्तिकता का परिहार करने के लिए मंगलाचरण किया जाता है। नास्तिक व्यक्ति कहता है कौन भगवान-कैसा

भगवान? मैं नहीं मानता भगवान को, मैं ही भगवान हूँ, मैं क्यों किसी दूसरे को नमस्कार करूँ। जो अपने आपको भगवान मान बैठा है ऐसा व्यक्ति नादान है, वह शैतान या हैवान की श्रेणी में भी आ सकता है। किन्तु जो भगवान को मानता है उसमें इंसानियत है, वह मानव है और महामानव के रास्ते पर बढ़ रहा है, वह निःसंदेह एक दिन भगवत्ता की श्रेणी में आ जाएगा। इस प्रकार मङ्गलाचरण करने से नास्तिकता का परिहार होता है।

2. ''**शिष्टाचारप्रपालनं**''–मङ्गलाचरण करने से शिष्टाचार का पालन होता है। जिस व्यक्ति की आँखें, सिर, उत्तमांग, करबद्ध अञ्जुली और सम्पूर्ण शरीर अपने पूज्य के सामने नम्रीभूत नहीं होता, तब समझो उसका सम्यक्त्व अभी शंकित है। अभी शंकास्पद है कि वह धर्मात्मा है भी या नहीं। जो पुत्र अपने माता-पिता के सामने सिर झुकाने में आनाकानी करे, हाथ न जोड़े तो वह पुत्र संस्कारविहीन ही कहा जाएगा। संस्कारों की विहीनता ने उसके पुत्रत्व को शंकित कर दिया। एक आदर्श पुत्र अपने माता-पिता के सामने और आदर्श भक्त अपने आराध्य के सामने सदैव नम्रीभूत होता है। जो जिस दर्शन-संप्रदाय-आम्नाय का पोषक है, प्रचारक है, अनुयायी है, जिस पर उसे विश्वास है कि मेरा आत्मकल्याण इससे ही होगा फिर वहाँ उसके आठ अंग क्यों नहीं झुकेंगे अर्थात् वह अवश्य ही नम्रीभूत रहेगा। उसकी आँखें, शीश, हाथ अवश्य ही झुकेंगे। इसीलिए शिष्टाचार का पालन करने के लिए आचार्य महोदय ने कहा कि मैं हाथ जोड़कर पूर्ववर्ती आचार्यों को, जिनवाणी को प्रणाम करता हूँ। आज से 50-60 वर्ष पूर्व जब घर-घर में, मंदिरों में स्वाध्याय की परम्परा थी, तब पढ़ते समय किन्हीं भी आचार्यों का नाम आ जाता था तो स्वयमेव हाथ श्रद्धा से जुड़ जाते थे, कहीं किसी सिद्धक्षेत्र का नाम आ जाता तो शीश झुका लेते थे। पहले यह विनम्रता थी, श्रद्धा थी, उस समय चाहे शब्दों का आडंबर दिमाग वा कंठ में नहीं था किन्तु हृदय में श्रद्धा थी

और आज शब्द इतने ज्यादा हो गए हैं, उन शब्दों की तपन इतनी हो गई कि अहंकार आ गया, रीढ़ की हड्डी अकड़ गई, गवासन से बैठा नहीं जाता, खड़े-खड़े सेल्यूट मारते हैं, झुकेंगे तो पेन्ट की क्रीज खराब हो जाएगी। जो वस्त्रों को बहुमूल्य समझ रहा है इसका आशय है कि उसकी दृष्टि में अभी धर्म का मूल्य कम है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि शिष्टाचार का पालन करते हुए मैं मनसा-वाचा-कर्मणा परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

3. ''निर्विघ्नः''–कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भी मङ्गलाचरण किया जाता है। अगली बात कही–

4. ''पुण्यवाप्तिः'' पुण्य की प्राप्ति हेतु मङ्गलाचरण किया जाता है, क्योंकि मङ्गलाचरण करते समय तीनों योगों की क्रिया शुभ व पुण्य रूप होती है, जिससे पुण्य की प्राप्ति होती है।

शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः इसीलिए आचार्यवर शास्त्र की पहले संस्तुति करते हैं, मङ्गलाचरण करते हैं जिससे उस पुण्य से वह शास्त्र निर्विघ्न पूर्ण हो सके।

महानुभाव! आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज ने आप्त परीक्षा में कहा है–

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥2॥

अर्थात् परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की प्राप्ति और सम्यग्ज्ञान दोनों प्राप्त होते हैं। अतः शास्त्र के प्रारम्भ में मुनिपुङ्गवों, सूत्रकारादिकों ने परमेष्ठी का गुणस्तवन किया है।

आर्ष परम्परा के अनुसार ग्रन्थकार सदैव सर्वप्रथम छह अधिकारों का व्याख्यान करके अर्थात् छह बातों को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ की रचना करते हैं। यथा–

मंगलकारण हेदू, सत्थस्सपमाण णाम कत्तारा।
पढम चिय कहिदव्वा, एसा आइरिय परिभासा॥

(तिलोयपण्णत्ती-1/7)

मङ्गलाचरण, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता इन छह अधिकारों की व्याख्या करके ही ग्रन्थकार शास्त्रका व्याख्यान करते हैं। इष्ट देवता को नमस्कार करना 'मङ्गलाचरण' है। अध्यात्ममार्ग अपनी आत्मा के आश्रित होता है अतः शुद्धात्मा का स्मरण करना ही यहाँ मङ्गलाचरण है। और जिसके लिए ग्रन्थ रचना की जाती है वह उस ग्रन्थ का निमित्त कहलाता है। इस ग्रन्थ में शुद्धात्मपद का अभिलाषी भव्यजीव निमित्त है। शास्त्र बनाने का कारण बताना ही हेतु है, अतः इस ग्रन्थ में भव्यजीव योगशास्त्र (ध्यानशास्त्र) को जानकर शुद्धात्म पद के अधिकारी होवें, यह प्रयोजन है। श्लोक संख्या का कथन करना परिमाण नामक अधिकार है। इस ग्रन्थ में 44 श्लोक हैं। नामाधिकार में ग्रन्थ का नाम बताया जाता है अतः इस ग्रन्थ का नाम 'ज्ञानांकुश' है। ग्रन्थ के लेखक का नाम उच्चारण करना कर्त्ताधिकार का प्रयोजन है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता मूलसङ्घाम्नायी आगमविद् आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव जी महाराज हैं।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने मङ्गलाचरण कर सर्वप्रथम परमात्मा को नमस्कार किया। कैसे परमात्मा को नमस्कार किया, जो परमात्मा शुद्ध है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित है, जो उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त है, जिसने उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त कर लिया है, व्यवहारादि शुद्धियों को छोड़कर जिसने आत्मा को स्नापित किया है, जो ज्ञानमूर्ति है अर्थात् जिसने परमज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जो निरंजन है अर्थात् कर्मकालिमा से रहित है ऐसे परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। और अब मैं संक्षेप में मन-वचन-काय की साधना के बारे में ध्यान के बारे में कहता हूँ।

आचार्य महोदय ने इस मङ्गलाचरण में शुद्धात्मा के लिए तीन विशेषण दिए हैं, पहला है–

'उत्कृष्ट'–श्रेष्ठ, परम, उत्तम, प्रमुख और सर्वोच्च आदि इसी के नामान्तर हैं। आत्मा समस्त तत्त्वों में प्रधानतत्त्व है, समस्त द्रव्यों में प्रधान द्रव्य है, सभी पदार्थों में प्रधान पदार्थ है, समस्त पञ्चास्तिकायों में प्रधान पञ्चास्तिकाय है। यह 'जीव' तत्त्व ही ऐसा सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है जिसमें चेतना पाई जाती है, जिसमें आत्मा से शुद्धात्मा व परमात्मा होने की शक्ति पाई जाती है। अतः आचार्य महोदय ने 'आत्मा सर्वोत्कृष्ट है' ऐसा विशेषण दिया। द्वितीय बात कही– **'ज्ञानरूप'**–ज्ञान आत्मा का अनन्य रूप है। आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा–

आदा णाण पमाणं–(प्रवचनसार–23)

अर्थात् आत्मा ज्ञान प्रमाण है। जितना ज्ञान है, उतनी आत्मा है। आत्मा ज्ञान से कम अथवा ज्ञान से अधिक नहीं। वहीं उन्होंने कहा–

हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहियो वा णाणाओ, णाणेण विणा कहं णादि।।

–(प्रवचनसार–25)

अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन हो तो वह ज्ञान अचेतन हुआ, कुछ नहीं जानेगा और यदि आत्मा ज्ञान से अधिक हो तो यह आत्मा ज्ञान के बिना कैसे जानेगा। अतः आचार्य भगवन् ने आत्मा को ज्ञानरूप कहा।

आगे कहा–**'निरंजन'**– निरंजन शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे निष्कलंक, निर्दोष, मिथ्यात्व से रहित, सीधा–साधा इत्यादि। आठ प्रकार के द्रव्यकर्म, अनेक प्रकार के भावकर्म और नौ प्रकार के नोकर्म, ये आत्मा पर लगे हुए

कलंक हैं। ये कलंक शुद्धात्मा को नहीं होते अतः आत्मा शुद्ध, निरंजन है। दूसरा कारण यह भी है कि क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, अरति, विस्मय, निद्रा और विषाद ये अट्ठारह दोष तो सम्पूर्ण संसारी जीवों में पाए जाते हैं, ये दोष शुद्धात्मा में नहीं पाए जाते, अतः शुद्धात्मा निरंजन है। और शुद्धात्मा जीव चूँकि स्वभाव में रमणशील रहते हैं, वे मिथ्यात्व से रहित होते हैं इसीलिए वे निरंजन कहलाते हैं।

आचार्य महाराज यहाँ प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं संक्षेप पद्धति को स्वीकृत करके योगशास्त्र कहूँगा। योग का व्युत्पत्ति अर्थ है **'युज्यत इति योगः'** अर्थात् मन-वचन-काय की एकाग्रता को धारण करके आत्मध्यान द्वारा शुद्धात्मा से जुड़ जाना ही योग है। आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में लीन होकर, परविषयक सम्पूर्ण विकल्पों से मुक्त हो जाना ही योग है। इसे आगम में ध्यान और अध्यात्म की भाषा में शुद्धोपयोग कहते हैं। यही योग मोक्षसुख का प्रदाता है। आचार्य महोदय ने यहाँ इस ग्रन्थ के बारे में भी कहा कि यह ग्रन्थ द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, कालसंसार, भावसंसार और भवसंसार इन पाँचों संसारों का समूलोच्छेद करने वाला है।

आचार्य महोदय ने इस प्रकार मङ्गलाचरण किया और कहा कि मैं संक्षेप में ध्यान के बारे में कहूँगा। क्यों? क्योंकि विस्तार से उपदेश दिए जाते हैं, सूत्र वाक्य संक्षेप में पर्याप्त होते हैं। सूत्ररचना से भी पूर्व संकेत किए जाते हैं। संकेतों से भी पूर्व यदि कहें तो सिर्फ शरीर की भावभंगिमा ही उपदेश दे देती है और शरीर की बाह्य आकृति नहीं अंतरंग का परिणाम जो आभामंडल है वह बाहर प्रकट होता है, जो शब्दातीत ध्वनि के बिना ही उपदेश दे देता है। यहाँ आचार्य महोदय आभामण्डल से नहीं, शरीर की भावभंगिमा से नहीं, अल्पाक्षरी सूत्रों से नहीं वरन् श्लोक के माध्यम से, अनुष्टुप छन्द के

माध्यम से यहाँ पर संसार का उच्छेद करने के लिए, भवविनाश करने के लिए उपदेश दे रहे हैं।

संसार के विनाश का आशय यह नहीं कि संसार को आग लगाकर नाश करना हो। आग तो लगाना है किन्तु इस पुद्गल में नहीं लगाना जो हमें इन चक्षुओं से दिखाई दे रहा है वरन् उस पुद्गल में लगाना है जिस पुद्गल ने हमारे आत्मप्रदेशों में डेरा डाल लिया है। और वह आग ज्ञान व ध्यान की अग्नि से लगाना है, जिससे हमारी कर्मकालिमा रूपी कचरा जल जाए इस कचरे ने हमारी आत्मा को मलिन कर दिया है, अब इस आत्मा को शुद्ध करना है क्योंकि कोई भी चीज जब गंदगी में पड़ जाए, चाहे वह मूर्ति हो, बर्तन हो, स्वर्ण-चांदी का आभूषण हो तो उसे साफ करने के लिए पहले जल से धोओगे, पुनः अग्निपक्व करोगे, यदि उसके उपरांत भी ग्लानि आए तो उसे अग्नि से पूरा पिघला दोगे, जिससे धातु का वह रूप ही बदल जाए, उसे दूसरे रूप में ढाल दो।

ऐसे ही हमारी आत्मा को पहले ज्ञानामृत से धोकर साफ कर लो, पुनः संयम के माध्यम से कूड़ा-कचरा निकाल दो, फिर भी गंदगी बचे तो ध्यान की अग्नि जलाओ, इससे आत्मा की अनादिकाल से जो अनंत आकृतियाँ बनती रहीं हैं निगोदिया जीव से लेकर इस पर्याय तक, उन सभी आकृतियों को मेल्ट कर दो, जिससे शुद्ध सिद्धात्मा की आकृति आ आए। वह आकृति जो कभी नष्ट नही होगी, अशुद्ध नहीं होगी।

यहाँ पर कह रहे हैं–उस परमात्म दशा को प्राप्त करने के लिए, अपने संसार का उच्छेद करने के लिए ध्यान ही समर्थ है। ध्यान की अग्नि में ही वे कर्म दहन होते हैं। अतः संसारोच्छेद के लिए मैं यहाँ संक्षेप में योग व

ध्यान को कहूँगा। ध्यान व योग की साधना निःसंदेह ऐसी साधना है जिसके माध्यम से अपने अंदर विद्यमान वर्गणाओं को बदला जा सकता है। कैसे बदला जा सकता है? हमारे अंदर जो कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बनकर बैठ गई हैं उन्हें बदलना है।

कमरे में अंधेरा घुसकर बैठ गया है, उसे बाहर कैसे निकालोगे? यदि आपको स्विच का भान है तो उसे on कर दो, अंधकार के परमाणु प्रकाश के परमाणुओं में परिवर्तित हो जाएँगे। जो विष वृक्ष है उस विष वृक्ष को भी औषधि रूप बनाया जा सकता है, ये विधि जिसके पास है, इतना ज्ञान जिसके पास है वह अपनी आत्मा को भी परमात्मा बना सकता है।

इस प्रकार अनुष्टुप छन्द में रचित यह ग्रन्थ जो कि अष्ट अक्षरी है, आठ अक्षरीकाव्य बहुत उत्तम माना जाता है। यह आत्मा के अष्ट गुणों का प्रतीक है क्योंकि आत्मा में जब आठ गुण प्रकट हो जाते हैं तो फिर वे कभी क्षरण को प्राप्त नहीं होते। अतः सिद्धपद के प्रतीक यह आठ अक्षरी अनुष्टुप छन्द में रचा ग्रन्थ निःसन्देह बहुत ही आनन्ददायक होगा। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मभावना का फल

कायप्रमाणमात्मानं, व्योमरूपं निरञ्जनम्।
चैतन्यं भावयेन्नित्यं, ज्ञानं प्राप्नोति निश्चयम्॥2॥

(कायप्रमाणम्) शरीर प्रमाण **(व्योमरूपं)** व्योमरूप या अमूर्तिक **(निरञ्जनम्)** निरंजन **(चैतन्यम्)** चैतन्य **(आत्मानम्)** आत्मा की **(नित्यम्)** नित्य **(भावयेत्)** भावना करनी चाहिए **(निश्चयम्)** इससे निश्चय ही **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(प्राप्नोति)** प्राप्त होता है।

आत्मा जो कि कायप्रमाण, व्योमरूप तथा निरंजन रूप है, उस चैतन्य आत्मा की जो सदैव भावना करता है, वह निश्चित ही सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है।

व्याख्यान—महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्दुदेव स्वामी द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' नामक ग्रन्थ में मङ्गलाचरण को देख रहे थे। वाचना निःसंदेह श्रमण और श्रावक दोनों के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना भोजन ग्रहण करने के पश्चात् उसे पचाना आवश्यक होता है। पाचन के बिना जो भी भोजन ग्रहण करते हैं (तिर्यंच वा मनुष्य) वह अपच होकर के शरीर को कष्ट देने वाला, रोग का कारण बन जाता है। पाचन ठीक हो जाए तो वही भोजन शक्तिवर्धक, आरोग्यवर्धक, ज्ञानादिगुणों का क्षयोपशम बढ़ाने वाला होता है। आचार्यों ने श्रमण व श्रावक के चित्त को एकाग्र करने के लिए ज्ञानरूपी वृक्ष पर रमण करने की बात कही। **''श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुं''** इस मर्कट (बंदर) रूपी मन को श्रुत रूपी वृक्ष पर रमण कराना चाहिए।

इस मन रूपी बंदर को जब तक कोई विषय नहीं दिया जाए तब तक यह उत्पात मचाता है। यह मन उपद्रवी है, शैतान है, चंचल है, कार्य का विध्वंसक है। ये बने कार्यों को बिगाड़ने वाला है। जिस प्रकार पुष्प-फल-पत्र से लदे हुए किसी सघन वृक्ष पर यदि बंदर पहुँच जाता है तो एक शाखा का सहारा लेकर के शान्ति से सो जाता है, उसी प्रकार किसी भी श्रुत के पिपासु श्रावक व श्रमण को यदि किसी ग्रन्थ की कोई एक पंक्ति भी हृदय को स्पर्श करने वाली होती है तो उस पंक्ति के अंदर निबद्ध भाव को वह ऐसे ही ग्रहण कर लेता है जैसे चींटी आदि गन्ने के टुकड़े में छेद नहीं करती अपितु ऊपर से चिपककर ही उसके रस को चूस लेती हैं। श्रुत पिपासु भव्यजीव श्रुत का आलंबन लेकर इतना तृप्त व संतुष्ट होता है कि शायद कोई निर्धन भी चक्रवर्ती के वैभव को पाकर इतना संतुष्ट न हो।

महानुभाव! ज्ञानामृत का पान करते समय इतने आनन्द की अनुभूति होती है जितनी आनन्दानुभूति इंद्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र आदि को कंठ से निःसृत अमृत में भी नहीं होती है। ज्ञान आत्मा को तृप्ति देने वाला है, ज्ञान आत्मा को संतुष्टि देने वाला है, ज्ञान आत्मा को पुष्ट करने वाला है, ज्ञान आत्मा का भोजन है, ज्ञान आत्मा की औषधि है अतः ज्ञानामृत का पान तो बहुत जरूरी है।

ज्ञान का अमृत जिनवचनों में से झरता है। जैसे पर्वतों से झरने झरते हैं तो पानी के साथ संगीत भी आता है, उसके साथ रोगों को दूर करने की औषधि भी आती है, मानसिक, शारीरिक सभी आताप-संताप-व्याधियों को दूर करने में वह समर्थ होता है, ऐसे ही जिनवचनों को सुनते-सुनते जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह आनन्द शब्दातीत है, अकथ्य है। जैसे कोई बालक लोरी सुनते-सुनते माँ की गोदी में सो जाता है, उसके लिए माँ की गोद अहमिन्द्र की शय्या से उत्तम है, चक्रवर्ती की उत्तम शय्या से भी उत्तम

है, माँ की गोद उसे सर्वश्रेष्ठ लगती है ऐसे ही जिनभक्त श्रावक व श्रमण को माँ जिनवाणी की गोद, उसकी सन्निधि उतनी ही सुखद और शान्तिकारक प्रतीत होती है।

जिनागम की एक भी पंक्ति पढ़कर उसका घंटों-घंटों तक चिंतवन किया जा सकता है। दिन-रात पढ़ते रहने से जरूरी नहीं कि बहुत सारा ज्ञान प्राप्त हो जाए, एक शब्द से भी ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ाया जा सकता है। जो ज्यादा पढ़ता है वह ग्रहण कम करता है, जो ज्यादा कमाता है वह कम खाता है, जो ज्यादा मेहनत करता है वह अपने शरीर को रोगी करके उस शरीर का सुख नहीं भोग पाता। इसीलिए शास्त्र का आलम्बन लेकर के स्वाध्याय तो करो किन्तु उसके माध्यम से अपनी चेतना को पढ़ने का भी प्रयास करो। यहाँ ज्ञानांकुश ग्रन्थ के द्वितीय काव्य के माध्यम से आचार्य महोदय ज्ञान प्राप्ति का उपाय बता रहे हैं।

ज्ञान की प्रप्ति कैसे होती है। जो ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग है उस मार्ग पर चलते हैं तो निश्चित रूप से ज्ञान की प्राप्ति होती है। दीपक से प्रकाश की प्राप्ति कैसे होती है? उसका एक प्रमाणिक मार्ग है, उपाय है। दीपक में स्निग्धता हो, सुव्यवस्थित बत्ती हो और माचिस आदि के द्वारा उस दीपक को प्रज्ज्वलित करो तो दीपक से प्रकाश की प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति दीपक की बत्ती को दीपक के बाहर रख दे, उसमें स्निग्धता का मेल भी न करे तो ऐसे वह दीपक नहीं जलेगा। अथवा कोई व्यक्ति बत्ती को दीपक के अंदर भी रख दे किन्तु दीपक को उल्टा कर दे और ऊपर से माचिस की तिल्ली लगाए तो भी दीपक नहीं जलेगा। ऐसे ही हम मिथ्या उपाय के द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करेंगे तो सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त नहीं होगा।

चाबी आपके पास एक हो या हजार यह महत्त्व नहीं रखता, महत्त्वपूर्ण यह है कि आपको सही तरह से चाबी पकड़ना आता भी है या नहीं। उल्टी

चाबी से कभी ताला नहीं खुलता है। लोग कहते हैं 'हिम्मत न हारो' यदि 999 चाबियों से ताला नहीं खुला, तो हो सकता है गुच्छे की अंतिम चाबी ताला खोल दे, अरे! ताला तो तब खोलेगी न जब तुम्हें चाबी पकड़ना आता हो। ऐसे ही अनादिकाल से हमने और आपने मिथ्या कार्यों के द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने की कोशिश की, किन्तु ऐसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। एक कृषक भी जानता है कि खेत को पहले जोतना पड़ता है, बीज बोना पड़ता है, सिंचाई करनी पड़ती है, खाद डालनी पड़ती है, पुनः जब उसे उचित जलवायु मिलती है तभी फसल आती है।

एक ग्वाला, जो एक अक्षर भी पढ़ना नहीं जानता, पर यह जानता है कि अपनी गाय को खूब घास-दाना खिलाऊँगा तो वह अच्छा दूध देगी। दूध कहाँ से निकलेगा? स्तन से निकलेगा। यदि वह ग्वाला बकरी या गाय को खूब चारा खिलाए और सींग पकड़कर दुहने बैठ जाए तो क्या दूध निकलेगा? नहीं, जैसे गाय-भैंस-बकरी के सींग में से दूध नहीं निकलता, पूँछ में से दूध नहीं निकलता, ऐसे ही जो लोग शास्त्रों को काँख में लगाकर के घूमते हैं उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती या शास्त्रों को केवल कण्ठस्थ करके कहते हैं मैं इतना ज्ञानी हूँ, तो इससे ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। जिनवाणी का एक शब्द भी यदि अंदर चला जाए तो निःसन्देह भेदविज्ञान पैदा कर देता है।

एक शब्द का श्रुतज्ञान भी निःसीम भावश्रुतज्ञान को पैदा करने में समर्थ है। एक लोटा नींबू का रस लेकर आप कहो कि अब मैं देखता हूँ कि एक कटोरी दूध में उस रस का असर होता है या नहीं, तो यह मूर्खता है। जरूरी नहीं कि एक लोटा या एक कटोरा नींबू का रस हो तभी अहसास हो कि यह नींबू का रस है, ये दूध पर अपना प्रभाव दिखाता है। अरे! नीबू के रस की तो एक बूंद भी दूध में चली जाए तो दूध को फाड़ देती है, अपना प्रभाव दिखा देती है। जो जैसा है वह अपना प्रभाव वहाँ छोड़ता है। नींबू का

रस डाला तो दूध फट गया, शक्कर डाली तो मीठा हो गया, नमक डाला तो खारा हो गया। नमक का स्वभाव खारा था तो चाहे एक कण डालो या मुट्ठीभर डालो अथवा और ज्यादा डाल दो, नमक के डालने से दूध मीठा नहीं होगा। ऐसे ही मिथ्यामार्गों के माध्यम से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।

महानुभाव! सम्यक्मार्ग को प्राप्त करना है तो सम्यक्मार्ग का आश्रय लेना ही पड़ेगा, अन्य कोई विकल्प ही नहीं है, कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं है, अपवाद ही नहीं है। लोगों को भ्रमित भले ही कर दिया जाए किन्तु प्यास जमीन पर बहती नदी ही बुझाएगी, दीवार पर नदी का चित्र बनाकर उससे पानी नहीं पीया जा सकता। माँ ने सही के लड्डू बनाए हों तो उनको खाने से ही तृप्ति मिलती है, लड्डुओं का ढेर किसी चित्र में लगा दो तो उससे पेट नहीं भरता, उसे तो खाया भी नहीं जा सकता। सही में भोजन करो तभी पेट भरता है, नींद में कितना ही भोजन कर लो किन्तु पेट नहीं भरता। ऐसे ही विपरीत मार्ग, मिथ्यामार्ग, यद्वा-तद्वा मार्ग, अनिश्चित मार्गों से निश्चयज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

'काय-प्रमाणमात्मानं' आत्मा कितनी बड़ी है? कोई मानता है आत्मा छोटी सी चावल के दाने के बराबर है, कोई मानता है आत्मा मस्तिष्क में रहती है, कोई मानता है हृदयस्थान पर रहती है, कोई मानता है नाभि में रहती है, यह सब भ्रान्तियाँ हैं। आत्मा शरीर के सम्पूर्ण प्रदेशों में रहती है। शरीर का ऐसा एक भी प्रदेश नहीं जिसमें आत्मा नहीं, इसलिए शरीर के किसी भी एक हिस्से में सूई चुभाने पर अनुभूति सब जगह होती है, कष्ट-वेदना सब जगह होती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा वास्तव में सर्वत्र है। आत्मा वेदन करने वाली है, यह शरीर वेदन करने वाला नहीं है क्योंकि मुर्दा के शरीर में सूई चुभोओ तो उसको कोई वेदन नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में पैरालाइसिस अटैक पड़ जाए तो उस स्थान पर जहाँ आत्मप्रदेश सक्रिय नहीं हैं, सूई चुभाने पर भी उसे अनुभूति में नहीं आती।

परमात्मस्वरूप स्तोत्र में भी कहा–

लोकमात्र प्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।
व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः॥2॥

अर्थात् निश्चय से यह आत्मा लोक के बराबर कहते हैं, व्यवहार से आचार्यों ने शरीरप्रमाण आत्मा को कहा है, इसमें संदेह नहीं है।

महानुभाव! जिनागम में आत्मतत्त्व के आकार का वर्णन करते समय तीन प्रकार से कथन पाया जाता है, शरीर प्रमाण, लोकाकाश प्रमाण और किंचित् न्यून।

समस्त संसारी जीवों का आकार शरीर-नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाले शरीर प्रमाण होता है। आचार्यश्री ब्रह्मदेवसूरि ने लिखा है–

यद्यपि जीव निश्चयतः स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है, तथापि शरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले संकोच तथा विस्तार के वशीभूत होने से घटादि भाजनों में स्थित दीपक की भांति स्वदेह-परिमाण है। आत्मा शरीर में वैसे ही बसा हुआ है जैसे दूध में मक्खन। अर्थात्-

पाषाणेषु तथा हेमं, दुग्धमध्ये यथा घृतम्
तिलमध्ये यथा तैलं, देह मध्ये यथा शिवः॥

सुवर्ण पत्थर में जैसे सोना रहता है, दूध में जैसे घी रहता है, तिल में जैसे तेल रहता है उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामीजी ने पञ्चास्तिकाय में लिखा–

जह पउमराय रयणं खित्तं खीरं पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि॥33॥

जिस प्रकार पद्मरागनामक महामणि को दूध में डाला जाए तो वह समस्त दूध को अपनी प्रभा से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार संसारीजीव देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामीजी ने भी इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहा **'तनुमात्रः'** अर्थात् आत्मा अपने शरीर प्रमाण होता है।

दूसरी बात कही आत्मा लोकाकाश प्रमाण है। केवली समुद्घात के समय आत्मा लोकाकाश प्रमाण है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। जब केवली भगवान के आयुकर्म की स्थिति अल्प एवं शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब अन्य कर्मों की स्थिति को आयु कर्म के समान करने हेतु वे समुद्घात करते हैं। इस समुद्घात को ही केवली समुद्घात कहते हैं। इस समुद्घात में केवली के आत्मप्रदेश दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण, प्रतर, कपाट, दण्ड तथा स्वदेह प्रमाण होते हैं। जब समुद्घात के चौथे समय में लोकपूरण अवस्था होती है तब उसके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश प्रमाण प्रसरण को प्राप्त होते हैं। उसी विवक्षा से आत्मा लोकाकाश प्रमाण है।

और तीसरी बात कही 'किंचित् न्यून'। सिद्ध जीव पूर्वशरीर से किंचित् न्यून आकार वाले होते हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य भगवन् श्री नेमिचंद्र जी महाराज ने लिखा है–

'किंचूना चरमदेहदो सिद्धा' –(द्रव्यसङ्ग्रह-14)

सिद्ध जीव अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होते हैं। सिद्ध जीव अंतिम शरीर से कितने न्यून होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए ब्रह्मदेवसूरी जी ने लिखा है–

जो किंचित् न्यूनता है, सो शरीरांगोपांग कर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों के अपूर्ण होने पर, जिस क्षण में सयोगी के अन्त समय में तीस कर्म

प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ था, उनमें अंगोपांग कर्म का भी विच्छेद हो गया। अतः उसी समय (किंचित् ऊनत्व) हुआ है, ऐसा जानना चाहिए।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय ने शरीर प्रमाणत्व को ध्यान में रखकर 'कायप्रमाणम्' यह विशेषण दिया।

महानुभाव! आत्मा के स्वरूप को बताते हुए आगे कहा– **'व्योमरूपं'** मेरी आत्मा निर्मल आकाश की तरह है। आकाश में अग्नि जलाओ तो वह तपता नहीं, कीचड़ उछालो तो गंदा नहीं होता, धूल उछालो तो उस पर धूल नहीं जमती। जैसे आकाश है वैसे ही स्वभाव की अपेक्षा से मेरी आत्मा भी शुद्ध है, नित्य है, अविकारी एवं अविनाशी है। आगे कहा **'निरञ्जनम्'** आत्मा सर्वकालिमा से रहित है। अनादिकाल से इस आत्मा में कर्म कालिमा लग गई, बस एक बार यह आत्मा से छूट जाए, फिर सम्पूर्ण अनंत-अनंत पुद्गल-वर्गणाओं की भी सामर्थ्य नहीं है कि शुद्ध आत्मा के एक भी प्रदेश को बाँध सकें। एक गलती इस आत्मा से बार-बार हो जाती है कि यह राग-द्वेष-मोह कर लेती है इसलिए मूर्त्त बनकर के उन कर्मों का बंध कर लेती है। हमारी आत्मा तो नित्य, निरञ्जन, निर्विकारी है। निरंजन अर्थात् कालिमा-कज्जल से रहित। आत्मा का कज्जल है द्रव्यकर्म-भावकर्म। यह आत्मा स्वभावतः उससे रहित है। आगे कहा–**'चैतन्यं भावयेन्नित्यं'** उस चैतन्यरूप आत्मा की भावना नित्य ही करनी चाहिए।

इस सृष्टि का एक नियम है कि जीव जैसी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है। जो आत्मा की भावना करता है वह एक दिन अवश्य आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कर ही लेता है। कहा भी है–**'उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यात्'** अपनी आत्मा की चिन्ता उत्तम है। आचार्य भगवन् श्री पद्मनंदिमुनि ने पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ में निश्चय पंचाशत अधिकार में कहा है–

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम्॥18॥

''जो कोई अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूपमय ध्याता है, वह शुद्ध आत्मा को पाता है तथा जो अशुद्धरूप अपने को ध्याता है, वह अशुद्ध ही आत्मा को पाता है। जैसे कोई मनुष्य सोने से सोने का कड़ा व लोहे से लोहे का कड़ा बना लेता है।'' इसलिए यहाँ आचार्य महोदय भी कह रहे हैं– जो चैतन्य रूप आत्मा की भावना करता है वह चैतन्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त करता है। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में भी आचार्य महोदय ने कहा–

भव-तणु-भोय विरत्त मणु जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेलड्डी संसारिणी तुट्टेइ॥(1/32)

जो जीव संसार–शरीर–भोगों में विरक्तमना होकर निज शुद्धात्मा का चिन्तन करता है, उसकी संसार रूपी मोटी बेल विनाश को प्राप्त हो जाती है। महानुभाव! इसलिए आत्मकल्याण की भावना रखने वाले भव्यजीव को आत्मभावना अवश्य करनी चाहिए।

जब नित्य–नित्य ही भावना भाएँगे तब निःसंदेह उस भावना के फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो पाएँगे। जो जिसे प्राप्त करने का समीचीन मार्ग है उस पर चलकर ही मंजिल की प्राप्ति होगी।

महानुभाव! ज्ञान की प्राप्ति का यही उपाय है कि चेतना की भावना भाएँ, उसे व्योम रूप, नित्य, निरंजन समझें एवं आत्मा को काय प्रमाण मानें, तभी निश्चयज्ञान की प्राप्ति होगी। इस प्रकार इस कारिका में परम चैतन्य की भावना करने का फल बताते हुए उस भावना को सदैव भाने का सदुपदेश दिया है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

संसार और मोक्ष का कारण

शुभाशुभात्मकं कर्म, देहिनाम् भवधारिणाम्।
भावे शुभाशुभे नष्टे, देहो नश्यति देहिनाम्॥3॥

अन्वयार्थ-(शुभ) शुभ **(अशुभात्मक)** अशुभात्मक **(कर्म)** कर्म **(भवधारिणाम्)** संसारी **(देहिनाम्)** जीवों के होते हैं। **(शुभ)** शुभ **(अशुभ)** अशुभ **(भावे)** भाव **(नष्टे)** नष्ट होने पर **(देहिनाम्)** जीवों का **(देह)** देह **(नश्यति)** नष्ट होता है।

अर्थ–शुभ शुभात्मक कर्म शरीरधारक जीव संचय करते हैं। जो जीव शुभाशुभ भावों को नष्ट करते हैं, वे संसारी प्राणी शरीर का नाश करते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ में ज्ञान प्राप्ति का उपाय जानने की सम्यक् चेष्टा की, पुनः, तृतीय कारिका के माध्यम से यह जानने का प्रयास करेंगे कि शरीर से रहित अवस्था कैसे प्राप्त हो सकती है। यह शरीर संसार का कारण है **'देहः संसारस्य मूलं स्यात्'** यह देह संसार का मूल है। अगर यह देह नहीं हो तो आत्मा बिना देह के संसार में जन्म-मरण नहीं कर सकती। देह है तो दुःख है, देह है तो संसार का सुख है, देह है तो जन्म-मरण, रोग, बुढापा है और देह है तो देह की अनुकूलता-प्रतिकूलता भी है, देह की सम-विषम अवस्थाएँ हैं, देह है इसलिए इसकी पर्याएँ हैं, इसके धर्म हैं, इसकी अनेक अवस्थाएँ हैं, यदि देह न हो तो देह के आश्रित व उससे उत्पन्न वे गुण-दोष ही न रहेंगे।

महानुभाव! ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्यक् मार्ग में गति संभव है। किंतु ध्यान रखना शब्द 'ज्ञान' नहीं हैं, शब्द 'ज्ञान' का कारण हैं। जिस प्रकार माचिस अग्नि नहीं है अग्नि को उत्पन्न करने का कारण है। ज्ञान सुख नहीं है, सुख को उत्पन्न करने का कारण है। आम का पेड़ आम नहीं है, आम के फल को पैदा करने में कारण है, माता-पिता शिशु नहीं हैं अपितु शिशु को जन्म देने के निमित्त हैं। मिट्टी कलश नहीं है वरन् उस कलश को उत्पन्न करने का उपादान कारण है। कुंभकार भी कलश नहीं है बल्कि कलश को बनाने वाला है, स्वर्णकार स्वयं आभूषण नहीं है किन्तु आभूषण बनाने का निमित्त कारण है। आटा रोटी नहीं है रोटी बनने का उपादान कारण है। जो कारण है वह कार्य नहीं, जो कार्य है वह अपने ही कारण का कारण नहीं हो सकता। कारण-कार्य अलग-अलग हैं। बीज कारण है वृक्ष का और वृक्ष का फल कारण है अगले वृक्ष और बीज का। किन्तु वही वृक्ष अपने बीज का कारण नहीं है। शब्द, ज्ञान नहीं है, इस बात को बता रहे थे। किसी ने शंका की- महाराज श्री! यदि शब्द 'ज्ञान' नहीं है तो फिर श्रुतज्ञान क्यों कहा जाता है, अक्षर ज्ञान क्यों कहा जाता है? समाधान- क्योंकि ये शब्द ज्ञान का कारण है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके इसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

शंका-क्या श्रुतज्ञान सिर्फ शब्दों से ही चलता है भावों से श्रुतज्ञान नहीं होता? समाधान-हाँ होता है। ये शब्द द्रव्य श्रुतज्ञान का कारण हैं भावश्रुत ज्ञान का नहीं। शब्द तो माचिस की तरह हैं, जिससे मोमबत्ती जलाई जा सकती है किन्तु खाली माचिस से मोमबत्ती नहीं जलाई जाती। माचिस भरी भी रख दो मोमबत्ती के पास, तो भी मोमबत्ती नहीं जलती, क्योंकि मोमबत्ती जलाने के लिए कारण तो है किन्तु कार्य नहीं है। हमें शब्दों का सहारा उतना लेना है जितना सहारा एक पथिक अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए मार्ग में मिलने वाले माइल्स्टोन का लेता है। वह उसे देखकर आगे बढ़ता चला जाता है।

माइल्स्टोन उसके गन्तव्य स्थान नहीं हैं, उसके माध्यम से तो वह आगे बढ़ रहा है। जो रोड है वह भी गन्तव्य स्थान नहीं है, उस पर तो वह चल रहा है। घोड़ा गन्तव्य नहीं अपितु गन्तव्य तक पहुँचाने का साधन है। शब्द भी रथ की तरह हैं। इन शब्दों पर सवार होकर हम मुक्तिपुरी तक जा सकते हैं और अपने अनंत शाश्वत वैभव को प्राप्त कर सकते हैं।

एक बार एक शब्दपाठी विद्वान के मन में आया कि मैं अपने मित्रों के यहाँ जाऊँ। वे वहाँ पहुँचे, मित्रों ने उनकी बड़ी खातिर की, स्वागत-सम्मान किया। किसी ने उनके आदर-सत्कार में कोई भी कमी नहीं छोड़ी। अब वे एक ऐसे मित्र के यहाँ पहुँचे जो उनसे पद में कनिष्ठ था। प्रातःकाल का समय था, वह मित्र भगवान की पूजा पाठ करने के लिए स्नान आदि कर रहा था। उसने विद्वान महाशय से निवेदन किया आप भी स्नान आदि कर लीजिए जिससे हम सभी मिलकर भगवान की पूजा-पाठ आदि कर लें। पुनः बैठकर ज्ञान की दो-चार बातें करेंगे और आराम से भोजन पानी ग्रहण करेंगे।

विद्वान ने कहा-"तुम्हें मालूम नहीं मैं कौन हूँ? मैं तुम्हारा ज्येष्ठ हूँ, मुझे ज्यादा समझाने की चेष्टा मत करो। मैं स्नान क्यों करूँ? ये सब बाहर की क्रियाएँ हैं, इनसे क्या होता है, मेरी आत्मा तो परम पवित्र है, मेरी आत्मा में निरंतर ज्ञान की सरिता बह रही है, जब ज्ञान गंगा बह रही है तब तुम्हारे ये दो लोटा पानी डालने से क्या होगा? इससे क्या पवित्रता होती है? उस शब्दपाठी विद्वान ने मित्र को डाँट दिया। वह मित्र स्वयं नहा-धोकर, पूजापाठ से निवृत्त होकर अपनी पत्नी से बोला आज भोजन अच्छे से बनाना। क्योंकि आज मेरे बहुत बड़े विद्वान मित्र आए हैं, जितने व्यंजन बना सकती हो उतने बनाना, पत्नी ने भी जितने व्यंजन वह बना सकती थी उतने बनाए और ऐसे पकवान बनाए, जिनके साथ दुगुना पानी पीओ तब तो वे पकवान पचें अन्यथा पेट को फुलाकर गुब्बारा बना दें।

अब विद्वान महाशय भोजन स्थल पर पहुँचे, और मित्र ने उनकी आवभगत करना प्रारंभ कर दिया। महाशय ये दालबाटी लीजिए, अरे! कचौरी भी लीजिए, महाशय इमरती-रसगुल्ले भी खाइये, अरे! रसमलाई तो आपने चखी भी नहीं और खिला-खिला कर बेचारे विद्वान को पानी पीने ही नहीं दिया। विद्वान ने कहा—अरे! पहले एक गिलास पानी तो पीने दो, नहीं-नहीं महाशय पानी छोड़ो आप तो ये मीठी-मीठी शक्कर की चाशनी पीजिए। विद्वान ने कहा मेरा मुँह तो बहुत मीठा-मीठा हो गया, तो क्या हुआ महाशय ये लीजिए खट्टा पानी, पानीपूरी का यह चटपटा पानी, इसमें नमक, मिर्ची, खटाई अच्छी पड़ी है इसे लीजिए। अब तो महाशय ने वह पीया और हुआ यह कि उनका उठना-बैठना बड़ा मुश्किल हो गया। मित्र ने कहा आप नहीं उठ पा रहे तो कोई बात नहीं, आप यहीं बैठिए मित्र उस कमरे से बाहर चला गया और कमरे की बाहर से सांकल लगा कर बोला आप अंदर बैठे-बैठे आत्मा का ध्यान करो। आप तो ज्ञान-आत्मा हो, आपके अंदर से तो ज्ञान की सरिता बह रही है।

उस शब्दपाठी विद्वान को अंदर बैठे हुए दस मिनट भी नहीं हुए कि प्यास के कारण कंठ सूखने लगा। वह अंदर से पानी-पानी की आवाज लगाने लगा। क्योंकि इतना गरिष्ठ भोजन किया था, जिसके लिए पर्याप्त पानी की आवश्यकता थी। पेट में जो भोजन था वह फूलने लगा और विद्वान महाशय पानी के लिए व्याकुल होकर लोट-पोट होने लगे, वे मित्र को आवाज लगाते, मित्र! एक लोटा पानी तो दे दो। मित्र बोला—अरे मित्र! आप कैसी बात कर रहे हैं, आपके अंदर तो निस्सीम ज्ञान की गंगा बह रही है। सतत् प्रवाही जो सरिता आपके अंदर बह रही है उसमें से एक लोटा पानी निकालो और पी लो। क्या करना बाहर के पानी से। बाहर के जल से आपका कोई प्रयोजन ही नहीं।

महाशय उठे, उन्होंने दरवाजे को खूब खटखटाया, दरवाजा तोड़ने का प्रयास किया किन्तु वे इतने मजबूत थे कि टूटे नहीं। वह बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर

थक गया और मूर्छा खाकर गिर गया, जब बहुत देर हो गई विद्वान महाशय की आवाज नहीं आयी, तब मित्र ने दरवाजा खोला, उन पर पानी डाला, जिससे उन्हें होश आया। महाशय उठे, बोला–क्या हुआ विद्वान! ज्ञान की गंगा सूख गई क्या? महाशय बोले–मुझे अब क्षमा कर दे, मुझे ज्ञान का अहंकार हो गया था। वास्तव में प्रभु पूजा–वंदना–भक्ति–अर्चनादि करना भी अनिवार्य है, इसमें उपहास–परिहास नहीं कर सकते। तूने मुझे सही सबक सिखा दिया अन्यथा मेरी दुर्गति हो जाती।

महानुभाव! वे शब्दपाठी विद्वान कौन थे, हम नहीं जानते किन्तु वे सुधर गए। यदि आज भी कोई शब्दपाठी विद्वान हों तो उन्हें भी सुधर जाना चाहिए, अन्यथा कौन से मित्र से पाला पड़ जाए कह नहीं सकते। यदि व्यवहार की क्रियाओं को छोड़ेंगे, लोप करेंगे तो गड़बड़ हो सकता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय इस ज्ञानांकुश ग्रन्थ की तृतीय कारिका में कह रहे हैं **'शुभाशुभात्मकं कर्म'** कर्म दो प्रकार के होते हैं। शुभ (पुण्य) रूप, अशुभ (पाप) रूप। तीसरा प्रकार कोई नहीं होता। एक बार एक आलसी व्यक्ति जो कोई काम–धंधा नहीं करता था, उसकी पत्नी ने कहा आप कुछ धनार्जन करके लाइए, ऐसे घर में पड़े–पड़े कैसे काम चलेगा। वह व्यक्ति जहाँ भी जाता वहाँ आलस से भरा पड़ा रहता। किसी भी दुकान पर कोई काम नहीं करता, जैसे दुकानदार ने कहा–ये वस्तु उठाकर देना, तो वह कहता–अरे साहब! आप ही उठाकर ले लो ना, इतनी छोटी सी ही तो वस्तु है, कोई बहुत भारी थोड़े ही है। आप ही उठा लो। दुकानदार कहता–मेरा नौकर होकर मुझे ही ऑर्डर दे रहा है, चल भग यहाँ से। ऐसे करते–करते वह व्यक्ति कई दुकानों से लौटा दिया गया। घर जाकर पत्नी ने कहा–तुम कहीं भी जाते हो, वहाँ से निकाल दिए जाते हो, अच्छे से काम क्यों नहीं करते हो? तुमसे कुछ नहीं होगा, मैं ही तुम्हारे लिए कोई नौकरी ढूँढती हूँ।

पत्नी की जानकारी में एक मैश वाला था, उसने वहाँ अपने पति के काम धंधे के लिए बात की, जान-पहचान अच्छी होने से वहाँ नौकरी के लिए बात पक्की हो गई। पति ने भी कहा-हाँ-हाँ यहाँ अच्छा रहेगा, मैं सब काम कर लूँगा।

किन्तु वह तो बड़ा आलसी व्यक्ति था। मैश के मालिक ने उससे कहा-मैं बाजार सब्जी लेने जाता हूँ, जब तक मैं आता हूँ तब तक तुम एक काम करना, यहाँ मटर रखी हुई हैं, इन मटर को छील लेना और मटर के छोटे-छोटे दाने एक जगह रखना और बड़े-बड़े दाने दूसरी जगह रखना। वह बोला-जी, ठीक है। मालिक जब लौटकर आया तब देखा कि महाशय जी तो खर्राटे मारकर सो रहे हैं। उसे जगाया, उठो-उठो, वह काम हो गया जो मैं बता कर गया था। वह बोला मैं तो काम कर ही रहा था किन्तु...। किन्तु क्या? साहब! बात ये है कि मैंने जैसे ही पहली मटर की फली उठायी तो मैंने देखा कि उसमें एक दाना छोटा था, एक दाना बड़ा था और एक दाना बीच का था। आप तो यह कहकर गए थे कि छोटे दाने एक तरफ रखना, बड़े दाने दूसरी तरफ रखना, किन्तु आपने यह तो बताया ही नहीं कि बीच वाला दाना किधर रखना है, इसलिए मैंने मटर नहीं छीली।

महानुभाव! आलसी व्यक्ति ऐसे ही होते हैं वे सदैव काम से बचना चाहते हैं। यहाँ बता रहे हैं शुभाशुभ दो ही कर्म हैं, तीसरा कोई विकल्प है ही नहीं। मटर के दानों में तो विकल्प हो सकते हैं किन्तु यहाँ पुण्य-पाप रूप दो ही कर्म के भेद हैं, तीसरा कोई भेद नहीं है। दो में ही सर्व कर्म समाहित हो जाते हैं। शुभ भावों से शुभ गति की प्राप्ति होती है और अशुभ भावों से अशुभ गति की प्राप्ति होती है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने भी रयणसार में कहा-

असुहादो णिरयाऊ, सुह-भावादो दु सग्ग-सुहमाओ।
दुह-सुह-भावं जाणदु, जं ते रुच्चेइ तं कुज्जा।।57।।

अशुभभाव करने से अशुभ नरकादि गति की प्राप्ति होती है या नारकी जीव का, तिर्यंच का अथवा पापिष्ठ जीव का शरीर प्राप्त होता है अथवा कुमानुष, देवदुर्गति, व्यंतरादि पर्याय की प्राप्ति होती है। अर्थात् जितनी भी कष्टप्रद देह हैं वे सभी पाप कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं। और शुभ भावों से स्वर्ग के देवों की विभूति प्राप्त होती है। इन्द्र, नरेन्द्र वा अहमिन्द्र आदि के शरीर प्राप्त होते हैं। मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर-कामदेव-चक्रवर्ती आदि के शरीर प्राप्त होते हैं। उत्कृष्ट-पुण्य भोगसामग्री प्राप्त होती है। शुभभाव से शुभफल की, अशुभभाव से अशुभ फल की प्राप्ति होती है। शुभ-अशुभ दोनों भावों के फलों को जानकर जो तुम्हें रुचे सो करो।

महानुभाव! देह का बीज 'कर्म' यदि आपके पास है तो देह को नष्ट नहीं कर सकते। देह का कारण वह 'कर्म' बीज है, उसे नष्ट कर दोगे तो देह रूपी फसल पैदा नहीं होगी। जिसने बीज को ही जला दिया तो उसके खेत में पेड़ कैसे पैदा होंगे। किसान चाहता है मेरे खेत में बबूल के-बेशरम के पेड़ न हों इसलिए वह उन्हें काटता है। अरे! उनको काटने से वे पेड़ नष्ट नहीं हो पाएँगे, यदि फिर कोई बीज गिर गया तो और उगते जाएँगे। अतः समूल नष्ट करने के लिए जो बीज आपने बो दिए थे उन बीजों को जला दो, तब वे पुनः पैदा ही नहीं होंगे।

कर्मास्रव के जितने भी कारण हैं वे सभी मोक्षाभिलाषी जीव के लिए त्याज्य हैं। आचार्य भगवन् उमास्वामी जी मुनिराज ने कहा-

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।-(तत्त्वार्थसूत्र/-6/3)

अर्थात् शुभयोग पुण्यास्रव और अशुभयोग पापास्रव का कारण है। शुभ योग क्या है? तो आचार्य भगवन् अकलंक देव स्वामी ने बताया-

अहिंसास्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः।
सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः।
अर्हदादि-भक्ति-तपोरुचिश्रुतविनयादि शुभो मनोयोगः।

–(राजवार्तिक/6/3/2)

अर्थात् अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ कृत्य शुभकाययोग है। सत्य, हित-मित-प्रिय वचन बोलना आदि शुभ वाणी शुभवचनयोग है तथा अर्हन्तादि भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि शुभ विचार शुभ मनोयोग है। तथा इसके विपरीत अशुभ योग हैं। वह कहा–

प्राणातिपातादत्तादान-मैथुन-प्रयोगादिरशुभकाययोगः।
अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः।
वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः। –(राजवार्तिक/6/3/1)

अर्थात् हिंसा, दूसरे की बिना दी वस्तु का ग्रहण करना (चोरी), मैथुन प्रयोगादि अशुभकाययोग है। असत्यभाषण, कठोर-मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है तथा हिंसकपरिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है।

इन दोनों योगों में शुभयोग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभयोग पापास्रव का कारण है। पुण्य से मनुष्यपर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, सातिशय सम्पत्ति, आरोग्य लाभ तथा अभ्युदय की प्राप्ति होती है। और पाप इससे विपरीत दशा को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार किसी रोगी को कुशल वैद्य सर्वप्रथम साधारण भोजन करने का उपदेश देता है, जिससे पाचन शक्ति ठीक हो जाए, फिर पूर्ण स्वस्थ होने के लिए शक्तिवर्द्धक भोजन देता है, उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्यजीव को परम कृपालुमुनि, आचार्य परमेष्ठी अशुभ से निवृत्त होकर सर्वप्रथम शुभ में प्रवेश करने का उपदेश देते हैं। किन्तु हमें

आत्मा को परमात्म दशा तक पहुँचाना है इसीलिए आचार्य महोदय ने यहाँ कहा शुभ–अशुभ अर्थात् पुण्य–पाप दोनों को नष्ट करके ही यह संसारी आत्मा मुक्तात्मा बन पाती है। ये दोनों शुभ–अशुभ कर्म भी बंध के प्रत्यय होने से संसार परिभ्रमण कराने वाले हैं। अतः मोक्षेच्छु जीव के लिए दोनों समान रूप से हेय हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी जी ने समयसार ग्रन्थ में लिखा–

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥

जिस प्रकार सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, इसी प्रकार शुभ या अशुभ किया हुआ कर्म जीव को बाँधता है, दोनों ही बन्धन रूप हैं। अतः शुभाशुभ कर्मों का नाश करने के लिए अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञायक शुद्धस्वभाव का आश्रय लेना चाहिए।

आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी जी ने आत्मानुशासन ग्रन्थ में भी कहा कि जीव ने जिस शुभ वा अशुभ कर्म का बंध किया है उसका उदय आने पर सुख अथवा दुःख प्राणी को प्राप्त होता ही है। किन्तु जो अज्ञानी जीव है, वह चूंकि पुण्य के फल स्वरूप सुख में तो अनुराग करता है और पाप के फलभूत दुःख में द्वेष करता है, इसीलिए उसके पुनः नवीन कर्मों का बंध होता है। परंतु जो जीव विवेकी, आत्मकल्याण के लिए पुरुषार्थी है, वह विचार करता है कि पूर्व पुण्य से जो प्राप्त हुआ वह भी अस्थायी ही है अतः उसमें अनुराग करना उचित नहीं और जो पूर्व में पाप किया है उसका फल भी भोगना ही पड़ेगा, फिर उसमें खेद क्यों? इस प्रकार वह पुण्य–पाप में हर्ष–विषाद से रहित होता है जिससे उसके नवीन कर्मों का बंध नहीं होता, साथ ही पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। इस प्रकार वह संवर व निर्जरा से युक्त होकर समस्त कर्मों से रहित मुक्त अवस्था को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् देवसेन स्वामीजी ने भी भाव संग्रह में कहा–

भावेणकुणइपावंपुण्णंभावेणतहयमुक्खंवा।
इयमंतर णाऊणं जं सेयं तं समायरहं।।5।।

यह जीव अपने ही परिणामों से पाप का व पुण्य का उपार्जन करता है और अपने ही परिणामों से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने ही शुभाशुभ परिणामों का अंतर समझकर हे भव्यजीव! आत्मा के जो परिणाम आत्मकल्याण करने वाले हों, उन्हीं शुद्ध परिणामों का तू आश्रय ले।

महानुभाव! अशुभ भाव तो त्यागने योग्य हैं ही परंतु शुभ भाव भी त्याग करने योग्य हैं। दोनों ही शुभ वा अशुभ कर्मबंध करने वाले हैं। केवल शुद्धभाव ही कर्मबंध से छुड़ाकर मुक्ति प्रदान करने वाला है। वह शुद्धभाव ही उपादेय है। अन्य दोनों शुभ व अशुभ भाव त्याज्य हैं। अतः आत्म कल्याणार्थी भव्यजीवों को शुद्धोपयोग को प्राप्त करना चाहिए।

महानुभाव! ऐसा ही यहाँ ग्रन्थकार भी कह रहे हैं कि उन शुभ-अशुभ कर्म को नष्ट कर दो। वे कर्म नष्ट कैसे होंगे? उन कर्मों का कारण जो भाव है उन्हें नष्ट कर देने से होंगे। संसारी प्राणियों की देह शुभाशुभ कर्मों के नष्ट होने से स्वयं नष्ट होती है। देह नष्ट होने पर ही देहातीत-शरीरातीत आत्मा को आनन्द की प्राप्ति होती है, आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति होती है इसलिए हम और आप शुभ-अशुभ भावों को नष्ट करने का लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ें। पहले अशुभ से बचें, शुभ में प्रवृत्ति करें, पुनः शुभ से शुद्ध में प्रवृत्ति करें तभी हम इस शरीर से व इससे संबंधित सुख दुःख से मुक्त हो सकते हैं। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

विभावों को क्षय करने की प्रेरणा

भावक्षये समुत्पन्ने, कर्म नश्यति निश्चयात्।
तस्माद्भावक्षयं कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।4।।

अन्वयार्थ-(भाव) भावों का **(क्षय)** क्षय **(समुत्पन्ने)** होने पर **(निश्चयात्)** निश्चय से **(कर्म)** कर्म **(नश्यति)** नष्ट होता है **(तस्मात्)** इसलिए **(भावक्षयम्)** भावक्षय **(कृत्वा)** करके **(किञ्चित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करें।

शुभाशुभ भावों का क्षय होने पर निश्चय से कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिए उनका क्षय करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना में विगत श्लोक में ज्ञान प्राप्ति का क्या उपाय है और किस प्रकार जीव शुभ-अशुभ कर्मों को नष्ट करे, ऐसा बताया। इस चतुर्थ श्लोक में भी ऐसा ही कह रहे हैं कि शुभ अशुभ कर्म ही शरीर प्राप्ति का कारण हैं। जब तक शरीर है तब तक जन्म-मरण है, जब तक शरीर है तब तक रोग है। जब तक शरीर है तभी तक जीव कर्मों को ग्रहण करता है और मन-वचन-काय के निमित्त से आस्रव करता है। इस शरीर को ऐसे नष्ट नहीं करना है। यूँ तो इस शरीर को मृत्यु नष्ट कर ही देती है किन्तु वह एक शरीर को नष्ट करती है, शरीर के कारणभूत कर्म को नष्ट नहीं करती।

शरीर नष्ट होता है तो आप कहते हो उसका देहान्त हो गया। एक देह छूट गई किन्तु देहों का अन्त नहीं हुआ। एक बार किसी भी आत्मा की देह

का अन्त हो जाए अर्थात् समग्र देहों का अन्त हो जाए वह देहान्त कहलाता है। अंत शब्द का अर्थ समाप्ति के अर्थ में लगाएँ। ''कृत्स्नदेहविप्रमोमो मोक्षः'' सम्पूर्ण देहों से आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाना, वह देहान्त है।

महानुभाव! ऐसे देहान्त को प्राप्त करने के लिए पहले शुभाशुभ कर्मों का क्षय करना अनिवार्य होता है। मिथ्यादृष्टि जीव देहान्त से डरता है, मिथ्यादृष्टि जीव देह का पोषण करता है। वह ऐसा क्यों करता है क्या आपने कभी सोचा? वह देह का पोषण इसलिए करता है क्योंकि चेतना उसके दृष्टिगोचर नहीं होती। माली उस गमले को सींचता है जिसमें पौधा उगता दिखाई देता हो। जिस गमले में पौधा दिखाई नहीं दे रहा उसमें पानी डालता ही नहीं। यदि उसे ज्ञान हो कि इस मिट्टी में भी बीज पड़ा है, तो उस गमले में पानी डालेगा। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि को आत्मा दिखती नहीं, आत्मा की प्रतीती नहीं होती, आत्मा का विश्वास नहीं होता, वह आत्मा के बारे में कुछ जानता नहीं, कुछ मानता नहीं, आत्मा के प्रति उसकी दृष्टि में या उसके शब्दकोष में आत्मा नाम की वस्तु केवल कहने सुनने के लिए है, अनुभव वाली बात नहीं।

इसलिए मिथ्यादृष्टि जो अनुभव में आता है उसका व्यवहार करता है। वह कहता है व्यवहार रूप यह शरीर मिला है इसे अच्छी तरह से रखो, क्यों शरीर को कष्ट दो, क्यों उपवास करो, क्यों त्याग-तपस्या करो, खूब खाओ-पीओ और मौज करो, चार्वाक की नीति अपनाओ। वह कैसे-

'यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः?

जब तक जीओ तब तक घी पीओ, पैसे न हों तो कर्ज लेकर आओ, अर्थात् खूब हृष्ट-पुष्ट रहो, खूब भोगविलास करो, जो शरीर चाहे उसे वो देओ। क्यों? शरीर नष्ट हो जाएगा तो आत्मा भी नष्ट हो जाएगी इसलिए इस

आत्मा को कष्ट मत दो। क्योंकि वे मानते हैं कि शरीर ही आत्मा है। ऐसी उनकी धारणा है। मिथ्यादृष्टि की भी तो ऐसी ही धारणा होती है।

देह जीव को एक गिने, बहिरातम तत्त्व मुधा है।

बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि देह और जीव को एक मान रहा है इसलिए तो कह रहा है अरे भाई! इस शरीर में ही तो आत्मा है, ज्ञानी-ध्यानियों सुनो-इस शरीर में ही तो आत्मा है, जब शरीर ही सूख जाएगा तो आत्मा कूच कर जाएगी। अर्थात् शरीर को मत मरने दो, शरीर में कील चुभती है तो आत्मा को कष्ट होता है न, ऐसे ही शरीर को सुख मिलता है तो आत्मा को भी मिलता होगा, ऐसी उसकी धारणा है। पंचेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य पदार्थों का सेवन करने से वह मानता है कि शरीर को नहीं मानो आत्मा को ही सुख मिल रहा हो, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव चेतना की सेवा नहीं करता, वह चेतना का ख्याल ही नहीं रखता, वह नहीं जानता कि चेतना का पोषण कैसे हो।

माना आपका एक मित्र ऐसा है जो विदेश में रहता है, जिसने आपको बचपन में तन-मन-धन सब प्रकार से बहुत सहयोग किया या यूँ कहें जो सहयोग माता-पिता, परिजन नहीं कर सके उससे ज्यादा उसने किया। कई बार उसने अपना जीवन दांव पर लगाकर आपके प्राण बचाए किन्तु वह बचपन में जब से गया है तब से अभी तक आपके पास लौटकर नहीं आया। पहले कुछ दिनों तक तो उसकी बहुत याद आई, उससे पत्राचार भी हुआ, उससे वार्तालाप भी हुआ किन्तु अब कई साल हो गए, मालूम नहीं कि वो कहाँ रहता है, उसका Contact Number भी नहीं है, उससे सब सम्पर्क टूट चुका है, अब बताओ उस मित्र का उपकार आप कैसे करोगे? नहीं कर सकते। और जो मित्र आपके सामने रह रहा है, अड़ोस-पड़ोस में रह रहा है उसका उपकार तो किया जा सकता है।

ऐसे ही मिथ्यादृष्टि की दृष्टि से आत्मा ही गायब हो गई। उसने आत्मा से सम्पर्क करने के लिए तो कुछ सोचा ही नहीं। पहले तो उस मित्र का Address था, किन्तु अब उसने फ्लैट भी बदल लिया है, उसने Phone Number भी Change कर लिया है, आपका भी तबादला हो गया, अब इस स्थिति में दोनों आपस में सम्पर्क कैसे करें, कोई ऐसा Mediator हो, आपको भी जानता हो और आपके मित्र को भी जानता हो, दोनों के स्थान को जानता हो तो वह सम्पर्क करवा सकता है।

वह Mediator है 'गुरु' जो दोनों को मिला सकते हैं, यह बता सकते हैं कि यह तन है, ये चेतन है। यदि ऐसा Mediator न हो तो सम्पर्क छूट ही जाता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव उस उपकारी मित्र को ढूंढ़ने का प्रयास ही नहीं करता। वह सोचता है नहीं मिल रहा तो कोई बात नहीं, जिसने तत्काल में भूसा देकर उपकार किया है उसी (शरीर) का उपकार कर लो। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव इस शरीर का उपकार करने में लग जाता है, वह आत्मा का उपकार कर नहीं पाता।

जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है वह कहता है ये शरीर तो मैंने अनंत बार धारण किए और अनंत बार छोड़े। यह शरीर मैं नहीं हूँ, इस शरीर का पोषण करने से क्या लाभ? यह तो किराये का मकान है, जैसे किसी व्यक्ति ने 11 महीने के एग्रीमेण्ट पर किराये का मकान लिया, किराया तय किया था वह तो हर माह दे ही रहा है, किन्तु उसके साथ-साथ बिजली आदि का बिल भी भरना पड़ता है। ऐसे ही इस शरीर को बिजली का बिल भरने की तरह से भोजन पानी देओ, कोई हर्ज नहीं है, हाँ त्यौहार के दिनों में थोड़ी Denting-Panting कर लो, यहाँ तक भी चलेगा किन्तु कोई व्यक्ति कहे कि इस किराये के मकान की छत जीर्ण-शीर्ण हो रही हो आप दूसरा लेण्टर डलवा डो, इसकी दीवारों पर सोना लगवा

दो, तो वह कहेगा मैं पागल नहीं हूँ। किराये के मकान में अपना धन क्यों खर्च करूँ, इतना धन मैं अपने मकान में खर्च करूँगा, इस घर को तो कुछ समय बाद मुझे छोड़कर जाना ही है। मेरा एग्रीमेण्ट पूरा होने वाला है, मालिक मुझे कभी भी आकर यहाँ से निकाल सकता है और एग्रीमेण्ट के बीच में भी निकाल सकता है।

कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्य की आयु कभी भी पूरी हो सकती है, उनका अकालमरण भी हो सकता है, यह शरीर इस आत्मा को कभी भी निकाल सकता है। ऐसे इस जीर्ण-शीर्ण मकान में या यूँ कहें दो कोड़ी की झोपड़ी में मैं 2 करोड़ के हीरे चिपकाऊँगा क्या? मेरे जीवन का प्रत्येक समय 2-2 करोड़ हीरे के बराबर है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि सोचता है मैं अपने बहुमूल्य समय को इस शरीर रूपी कुटिया में लगाकर क्यों व्यर्थ करूँ। मैं स्वयं का (चेतन का) महल बनवाऊँगा, मैं अपने महल को सजाऊँगा। लाखों, करोड़ों या कहें कि संख्यात-असंख्यात भव निकल गए, किन्तु हमें आज तक अपने राज्य की प्राप्ति नहीं हुई। हम भी तो सिद्धक्षेत्र के राजा हैं। हम अपने राजस्व गुणों को प्रकट कर लें तो हमें भी कोई राजगद्दी पर बिठा सकता है, हमारा भी राज्याभिषेक कर सकता है। हमारे अंदर राजस्व के गुण नहीं हैं तब कौन बिठायेगा हमें। राजस्व के गुण प्रकट करने की योग्यता का प्रमाण पत्र है–अरिहंत अवस्था। यदि हमने अरिहंत अवस्था प्राप्त कर ली तो निश्चित मान लीजिए कि हमारे राज्य वैभव को कोई छीन नहीं सकता। हमें सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी ही होगी।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि चेतना की सेवा करना चाहता है, वह अपनी चेतना को शुद्ध बनाना चाहता है। वह जन्म- मरण के चक्कर में पड़ना नहीं चाहता इसलिए वह शरीर को नष्ट करने की प्रक्रिया खोजता है। यह शरीर बार-बार

दुःख देता है, और जो सुखाभास है वह भी शरीरगत ही है। मिथ्यादृष्टि शरीरगत सुखों में लीन होकर दुःखों को विस्मृत कर देता है किन्तु हमें विस्मृत नहीं करना है। शरीर से आभास होता है कि यह सुख देने वाला है किन्तु शरीर सुख नहीं देता, किराये के मकान से आत्मीय सुख की प्राप्ति नहीं होती। यदि पड़ौसी का घर धन से भर गया तो इससे स्वयं के घर में समृद्धि नहीं आएगी, अगर स्वयं भिखारी है तो भिखारी ही रहेगा। अपने स्वयं के पुरुषार्थ से ही धन का उपार्जन होगा। जैसे आप कहते हैं 'स्वयं के मरे बिना स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती।' भले ही पड़ोस से सभी व्यक्ति स्वर्गवासी हो गए हों किन्तु उनके स्वर्गवासी होने से स्वयं को स्वर्ग का सुख अनुभव में नहीं आता। इसी प्रकार अन्य व्यक्ति के सम्यग्दृष्टि हो जाने से हमें सम्यक्त्व का फल नहीं मिलेगा।

दूसरों की थाली में 56 प्रकार के व्यंजन होने से हमें उन व्यंजनों का स्वाद नहीं मिलेगा। उसके लिए हमें स्वयं ही भोजन करना पड़ेगा। अपनी इंद्रियों से ही पदार्थों का सेवन किया जाता है। स्वयं की नासिका से सूँघे बिना गंध का आनन्द नहीं ले सकते, स्वयं की जिह्वा से चखे बिना हम किसी वस्तु का इष्ट-मिष्ट स्वाद ग्रहण नहीं कर सकते, अपने नेत्रों के बिना किसी वर्ण को देखने का आनन्द नहीं ले सकते, अपने कानों से सुने बिना संगीत के स्वरों का आनन्द नहीं ले सकते, स्पर्शइंद्रिय से स्पर्श किए बिना स्पर्श का आनन्द नहीं ले सकते, अपने मन में सद्चिन्तन किए बिना हम शुभचिंतन का आनन्द नहीं ले सकते। ये सब आप जानते हैं, तो अब यह भी जान लीजिए कि अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त किए बिना मुक्ति का आनन्द भी नहीं ले सकते।

महानुभाव! इस आत्मा को कर्म मुक्त कैसे किया जाए? संसारी आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से सहित है। सिर्फ नोकर्म नष्ट करने से काम

नहीं चलेगा, कोई आत्महत्या कर ले और सोचे मैंने शरीर नष्ट कर दिया, तो नहीं। द्रव्यकर्म विद्यमान हैं वे दूसरा शरीर दे देंगे। किसी समस्या रूपी वृक्ष के पत्ते तोड़-तोड़कर मत फेंको। ये वृक्ष तो बेशर्म के वृक्ष जैसा है, उसके चाहे पत्ते तोड़ो या फल-फूल, शाखा-उपशाखा तोड़ो अथवा तने से काट भी दो तो भी यह कर्मवृक्ष ऐसे नष्ट होने वाला नहीं है। इसको तो मूल-समूल जड़ से उखाड़कर फेंकना पड़ेगा।

इस नोकर्म का मूल क्या है? इसका मूल है द्रव्यकर्म। इन द्रव्यकर्म को उखाड़ कर फेंक दो तो नोकर्म नहीं मिलेगा, किन्तु द्रव्यकर्म जब तक रहेगा तब तक नोकर्म को उखाड़ा नहीं जा सकता। द्रव्यकर्म कब उखाड़कर फेंकेंगे? द्रव्यकर्म को तब तक उखाड़कर नहीं फेंक सकते जब तक भावकर्म है। एक कर्म की स्थिति पूरी हो गई, उसका फल भोग लिया किन्तु जो भावकर्म हैं वे पुन-पुनः द्रव्यकर्म पैदा कर देंगे। द्रव्यकर्म दूसरा नोकर्म पैदा कर देंगे। तो इसका आशय यह हुआ कि मूल है-भावकर्म। उस भावकर्म को नष्ट करना है।

यदि आपने अपने चित्त में से कुभावों को नष्ट कर दिया तब यह निश्चित मानिये कि आप पाप के फल को नहीं भोगोगे। पाप का बंध नहीं होगा तो वह उदय में भी नहीं आएगा। यदि किसी व्यक्ति ने अपने चित्त में से पाप और पुण्य दोनों कर्म नष्ट कर दिए तो वह पाप और पुण्य दोनों फल नहीं भोगेगा। अशुभ परिणाम पहले नष्ट किए जाते हैं, शुभ बाद में स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जैसे-किसी राजा के महल के बाहर सेना सुरक्षा में तैनात है। उस सेना में बड़े-बड़े धुरंधर, संग्रामादित्य, वीरमार्तण्ड, महारथी, कोटिभट्ट-सहस्रभट्ट जुटे हुए हैं और उसी सेना के समीप में कुछ सज्जन पुरुष भी हैं, जो इतने दयालु हैं कि किसी की मृत्यु की सूचना सुनकर ही उनका हृदयघात हो जाता है।

राजा महल में सुरक्षित है। वह राजा कौन? कर्म रूपी राजा, मिथ्यात्व रूपी राजा सुरक्षित है। यदि सेना नष्ट हो गई तो ये दयालु व्यक्ति जो महल के बाहर खड़े हैं, वे सेना की मृत्यु देख स्वयं पहले मर जाएँगे। वह सेना पाप प्रकृतियों के समान है और पुण्य सज्जन व्यक्तियों के समान है। जब पाप समग्र नष्ट हो जाता है तो पुण्य तो स्वतः ही नष्ट हो जाता है। काँटों को तोड़कर फेंका जाता है, वृक्ष के फूल तो स्वयं झरने लगते हैं इसलिए पाप को नष्ट करना है, पाप के भावों को नष्ट करना है। इसी बात को आचार्य महाराज यहाँ कह रहे हैं।

महानुभाव! शुभ और अशुभभाव आत्मा के वैभाविक भाव हैं, जब आत्मा में विभावभाव उत्पन्न होते हैं तब उनका निमित्त प्राप्त करके आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, यह परिस्पन्दन ही योग है। यह योग कर्मास्रव का हेतु बन जाता है। फलतः प्रकृति-प्रदेशबंध होता है। शुभभाव राग परिणति है व अशुभ भाव द्वेषात्मक है। ये राग-द्वेष कषायात्मक होते हैं। अतः उनसे स्थिति व अनुभाग बंध होता है। इससे सिद्ध होता है कि शुभाशुभ भाव संसार के ही कारण हैं।

आचार्य महोदय ने यहाँ यही कहा कि क्रम-क्रम से शुभाशुभ भावों का क्षय करके ही बढ़ना है। अर्थात् अनादिकाल से यह जीव संसार में इन्हीं शुभाशुभ भावों के कारण संसार परिभ्रमण कर रहा है। संसार की संतति को नष्ट करने का उपक्रम एक भव्यजीव ही कर सकता है। इसीलिए ऐसे आत्मकल्याण के इच्छुक जीवों को आचार्य महोदय ने उपदेश दिया कि पहले जो अभी तक सद्मार्ग पर बढ़े ही नहीं वे सम्यक् आचरण पथ को स्वीकार करें, जिन्होंने अणुव्रत रूप में आचरण स्वीकार किया है उनके लिए महाव्रतरूप आचरण करने का उपदेश दिया, जो महाव्रतों का निर्दोष पालन

करते हैं उन सकलसंयमी मुनियों के लिए श्रुतधर आचार्यों ने शुभाशुभ भावों को त्याग कर आत्मा में स्थिर रहने का उपदेश दिया है। यह उपदेश के क्रम की समीचीनता है। शुद्धत्व का ध्येय बनाकर अपनी-अपनी भूमिकानुसार क्रियाओं का आचरण करना चाहिए।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं–**'भावक्षये समुत्पन्ने'** भावों का समूल क्षय करने के उपरांत कर्म निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं इसलिए भावों का क्षय करके कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिए, फिर तो ध्यान में लीन हो जाना चाहिए। वह चिंतन भी ध्यान से परे अवस्था है, इसलिए आचार्य महोदय ने इस चतुर्थ श्लोक में यही बात कही है कि हम पहले कुभावों को नष्ट करें, शुभभाव स्वतः नष्ट हो जाएँगे। दोनों भावों के नष्ट होने पर कर्मों का आना नष्ट हो जाएगा, संवर हो जाएगा, पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा हो जाएगी और सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होने का नाम ही मोक्ष है। उसकी प्राप्ति भी क्रमशः अवश्य होगी।

साधना के चरम समय में शुभ और अशुभ रूप दोनों ही भाव त्याज्य हैं। यही इस कारिका का सार है।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान का लक्षण एवं फल

ध्यानं स्थिरमनश्चैव फलं स्यात्कर्मनिर्जरा।
एवं विध विचारेण, योगं निश्चयमाचरेत्॥5॥

अन्वयार्थ–(स्थिर) स्थिर **(मनः)** मन **(एव)** ही **(ध्यानम्)** ध्यान है **(च)** और **(कर्म निर्जरा)** कर्म निर्जरा उसका **(फलम्)** फल **(स्यात्)** है। **(एवंविध)** इस प्रकार का **(विचारेण)** विचार करके **(निश्चयम्)** निश्चय से **(योगम्)** ध्यान का **(आचरेत्)** आचरण करें।

अर्थ–मन का स्थिर होना ही ध्यान है व कर्मनिर्जरा होना उसका फल है। ऐसा विचार करके निश्चयपूर्वक ध्यान का आचरण करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव विरचित ज्ञानांकुश नामक ग्रन्थ की वाचना में विगत श्लोक में देख रहे थे कि भाव कर्मों के नष्ट होने से द्रव्य कर्म-नोकर्म भी नष्ट होते हैं; उनके नष्ट होते ही फिर संसार का क्षय हो जाता है। भाव का क्षय हुए बिना भव का क्षय नहीं होता। भाव भव का कारण हैं और भाव शिव का साधन हैं। शुभ-अशुभभाव भववर्धक होते हैं और शुद्धभाव सिद्ध साधक होते हैं।

अशुभ भावों के माध्यम से दुःख ही दुःख मिलता है। इसलिए अशुभभाव दुःखकारक हैं और शुभभाव भौतिक वा संसारजन्य सुखदायक हैं। किन्तु मुक्ति के कारक सिर्फ और सिर्फ शुद्धभाव ही होते हैं इसलिए चतुर्थ कारिका में कहा कि भावों का क्षय होने पर ही देह नष्ट होती है। यदि भावों का क्षय नहीं किया जाए तो अनंतबार देह को नष्ट करने के बाद भी देह पूर्णतः नष्ट

नहीं होती, अर्थात् तैजस और कार्माण ये दोनों शरीर नष्ट नहीं होते। चाहे औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर अनंतबार प्राप्त किया-नष्ट किया किन्तु जब तक तैजस व कार्माण शरीर नष्ट नहीं होते हैं तब तक देहान्त शब्द उचित नहीं है। केवल औदारिक और वैक्रियक शरीर के परिवर्तन से यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर अन्त को प्राप्त हो गया।

महानुभाव! यहाँ पाँचवें श्लोक में आचार्य महोदय ध्यान के विषय में विशेष व्याख्या कर रहे हैं कि ध्यान क्या है? ध्यान का फल क्या है? और ध्यान किस प्रकार से उपयोगी है? कौन से ध्यान संसार वर्धक होते हैं? कौन से ध्यान संसार अवशोषक होते हैं? जहाँ एक ओर ध्यान के माध्यम से मुक्ति और निर्जरा भी होती है, वहीं दूसरी ओर ध्यान के माध्यम से आस्रव और बंध भी होता है। यहाँ पर आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं–

मनः स्थिरं चैव ध्यानं–मन की स्थिरता का नाम ही ध्यान है। मन की स्थिरता ही क्यों करना? इन्द्रियों की स्थिरता क्यों नहीं करना? शरीर की स्थिरता क्यों नहीं करना? वचनों की स्थिरता क्यों नहीं करना? मन को ही विशेष क्यों कह दिया? स्थिर मन ध्यान संज्ञा को क्यों पाता है? ऐसी बहुत सारी जिज्ञासाएँ आपके मानस पटल पर नदी में तैरते पुष्प की तरह उतराती हैं। कभी मल की तरह से चित्त को भी मलिन करने वाली होती हैं। जैसे किसी जलाशय में पड़ी हुई शैवाल या गंदगी उस पानी को मलिन करने में समर्थ होती है ऐसे ही वह जिज्ञासाएँ जब तक अनुत्तरित होती हैं तब तक चित्त को आन्दोलित करती रहती हैं। जिस प्रकार मथानी के माध्यम से दही मंथन किया जाता है वैसे ही किसी जिज्ञासा या शंका के माध्यम से चित्त का मंथन होता है। यदि उस जिज्ञासा का सही समाधान हो जाए तो वही जिज्ञासा समाधान प्राप्त कर समाधि तक पहुँचाने में समर्थ होती है। जैसे दधि का पूर्ण मंथन कर लिया जाए तो उसमें से नवनीत प्राप्त होता है, ऐसे ही यहाँ

पर जिज्ञासाओं के धरातल पर पहुँच करके हम इन जिज्ञासाओं के बीजों को समुचित खाद-पानी और जलसिंचन करें तो जिज्ञासा के वृक्ष पादप, पुष्प और फल देने वाले होंगे, उनका सही समाधान उत्तम फल को देने में समर्थ होगा।

प्रथम जिज्ञासा आयी कि मन की स्थिरता ही ध्यान है तो मन को स्थिर किसमें करें, पुनः जिज्ञासा आई कि इन्द्रियों की स्थिरता ध्यान क्यों नहीं है, अगली जिज्ञासा शरीर की स्थिरता के विषय में क्यों कुछ नहीं कहा, पुनः पूछा वचनों की स्थिरता के बारे में आपका क्या ख्याल है, उसका जिक्र क्यों नहीं किया? इस प्रकार की जिज्ञासाएँ आईं। अब यहाँ क्रमशः इनका समाधान देखते हैं–

प्रथमतः मन को स्थिर किसमें करें? क्योंकि मन की स्थिरता ही ध्यान बनती है। आचार्यों ने कहा है मन जहाँ संतुष्ट होता है, जहाँ सुदीर्घकाल तक तृप्ति मिलती रहती है वहाँ पर मन को स्थिर कर दो। कोई व्यक्ति कह सकता है कि मन तो भोगों में आनन्द पाएगा, मन तो रौद्रध्यान में आनन्द पाएगा, पापकर्म में आनन्द पाएगा, तो क्या यह स्थिरता ध्यान हो जाएगी? हाँ, वह भी ध्यान हो जाएगी। तो क्या वह ध्यान कल्याण का कारण है? नहीं। ध्यान के जो आर्त्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल ये चार भेद किए हैं, उनमें आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी महाराज ने कहा–**'परे मोक्ष-हेतुः'** अंत के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। उन्होंने 'परं' नहीं कहा, 'पराणि' भी नहीं कहाँ क्योंकि परं कहते तो अंत का एक ध्यान 'पराणि' तो अंत के तीन ध्यान या तीन से अधिक ध्यान आते। यहाँ 'परे' अर्थात् द्विवचन का प्रयोग किया अंत के दो ध्यान ही मोक्ष के हेतु हैं।

प्रारंभ के दो ध्यान, ध्यान नहीं होते क्या? होते हैं। यदि मन की स्थिरता इष्टवियोग में हो गई, उसके चित्त में अपने इष्ट का चिंतन अहर्निश चलता

रहता है, चलचित्र की तरह से दिखाई देता रहता है, पुन–पुनः स्मरण करके उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहती रहती है तो यह इष्टवियोग नाम का आर्त्तध्यान चल रहा है। यदि अनिष्ट का संयोग हो गया और दिन–रात वहीं चिंतन चल रहा है। वह उस आर्त्तपरिणाम से पागल जैसा बैठा है, आँख भी नहीं झपका रहा। वह सोच रहा है कि यह शत्रु मानो मेरे सीने पर आकर ही बैठ गया हो, न जाने कब यहाँ से जाएगा, मेरे प्राण लेकर ही जाएगा क्या? समझ नहीं आ रहा। इसके कारण मैं न खा पा रहा, न पी पा रहा हूँ, न जी पा रहा हूँ। न रो पा रहा हूँ, न सो पा रहा, यह मेरे सामने खड़ा हुआ है। उस व्यक्ति को देखकर उसकी आत्मा कुंठित हो रही है। वह दुःखी हो रहा है। कई बार तो स्थिति ऐसी बन जाती है कि दुश्मन के सामने व्यक्ति रो भी नहीं पाता, हंस भी नहीं पाता, जैसे जाल में फँसी मछली तड़पती है, ऐसे ही अनिष्ट संयोग नामक आर्त्तध्यान में पड़े व्यक्ति का चित्त अनिष्ट का वियोग कब हो इस चिन्ता में लीन रहता है, तो यह भी उसका आर्त्तध्यान हो गया।

पीड़ाचिन्तन नामक आर्त्तध्यान भी होता है। यदि शरीर में कोई व्याधि हो, डॉक्टर–वैद्य–हकीम सब ठीक करने में लगे हैं, कभी लगता है कि क्षणभर में रोग ठीक हो गया तो कभी पीड़ा तीव्र होने लगती है। उस पीड़ा में उसका मन लीन हो गया, वह इतना तड़प रहा है कि पीड़ा के अलावा उसे और कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा, वह सब कुछ देखता हुआ भी देख नहीं रहा, सब कुछ जानते हुए भी जान नहीं रहा। उसका उपयोग सिर्फ और सिर्फ उस पीड़ा में लगा हुआ है। लगता है जिस स्थान में पीड़ा हो रही है आत्मा के समस्त प्रदेश वहीं सिमटकर पहुँच गए हों। उसने क्या खाया–क्या पीया उसे कुछ ज्ञात नहीं, ऐसा लगता है कि प्राण ही निकल जाएँगे। प्राण निकल भी नहीं रहे हैं और प्राण निराकुल रह भी नहीं रहे हैं। जिसका मन ऐसी पीड़ा में लीन हुआ है, वह भी आर्त्तध्यान में संलग्न है।

इसके बाद 'निदान'। निदान भी आर्त्तध्यान का भेद है। वह तपस्या कर रहा है, त्याग कर रहा है, संयम की साधना कर रहा है, अकामनिर्जरा कर रहा है, किन्तु सोच वही रहा है कि कुछ भी हो मुझे तो उत्तम भोग चाहिए, मनुष्य अवस्था के उत्कृष्ट भोग चाहिए। जैसे कोई विद्यार्थी अध्ययन करता है और अध्ययन करते समय सोचता है कि मुझे तो इतने प्रतिशत नंबर चाहिए, उसे सिर्फ अपनी मार्कशीट दिखाई दे रही है। जैसे कृषक को खेती करते समय अपनी फसल दिखाई दे रही है, व्यापारी को व्यापार करते समय यथेष्ट लाभ दिखाई दे रहा है, कुंभकार को घट बनाने से पूर्व मिट्टी में ही घट झलकता है कि मुझे ऐसा कलश बनाना है, सब कुछ काम करते हुए उसके चित्त में वही-वही व्याप्त हो रहा है, उस कार्य की पूर्णता की छवि उसके नेत्रों में बस जाती है और सब कुछ काम करते हुए भी उसे काम का ख्याल नहीं रहता।

जैसे अरिष्टनेमि नाम का शिल्पकार भगवान बाहुबली की मूर्ति बनाते समय इतना लीन हो गया कि उसे यह तक ज्ञात नहीं रहा कि मैं जो भोजन कर रहा हूँ उसमें नमक है भी या नहीं, मैं क्या खा रहा हूँ ख्याल ही नहीं, बस जो कुछ भी आया उसे खाया और झट से काम में लग गया। कुछ भी पुण्य कार्य करते हुए जिसका चित्त भोगों की आकांक्षा में लीन हो गया तो उसका वह निदान नाम का आर्त्तध्यान है।

कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है जिसे हिंसा करने में आनन्द आ रहा है, उसके हिंसानन्दी नाम का रौद्रध्यान है। कोई झूठ बोलकर आनंदित हो रहा है, लोगों को ठगकर मस्त हो रहा है, उसका चित्त उसमें लीन हो गया तो मृषानन्दी नामक रौद्रध्यान हो गया। कोई व्यक्ति चोरी करके आनंदित हो रहा है, बार-बार चोरी करने की योजना बना रहा है अथवा मैंने कैसे चोरी

की, उसे सोच-सोचकर आनंदित हो रहा है, उसका चित्त उसी में डूबा है। इस चौर्यकर्म में जिसका चित्त स्थिर हो गया तो यह चौर्यानन्दी नाम का रौद्रध्यान हो गया।

अथवा विषयों का सेवन करने के लिए परिग्रह का संचय कर रहा है, परिग्रह देख-देख कर आनंदित हो रहा है, उसकी दृष्टि और चित्त परिग्रह के अतिरिक्त अन्य कहीं चलायमान नहीं हो रहा तो यह परिग्रहसंरक्षणानन्दी नाम का रौद्रध्यान हो गया। महानुभाव! इस प्रकार चार आर्त्तध्यान और चार रौद्रध्यान नियम से संसार का, दुर्गति का कारण होते हैं।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं ''मनस्थैर्यं चैव ध्यानं'' मन की स्थिरता ही शुभध्यान है। अशुभध्यान की यहाँ व्याख्या नहीं है। ज्ञान में चित्त की एकाग्रता होना ध्यान कहलाता है। आ. शुभचन्द्र स्वामी जी ने ज्ञानार्णव में कहा-**'ज्ञानमेव स्थिरभूतं ध्यानमिति मुच्यते बुधैः।'** बुधजनों के द्वारा ज्ञान में लीन हो जाना ध्यान कहलाता है और **'ध्यानं स्थिरमनश्चैव समाधिरिति कथ्यते'** ध्यान की स्थिरता समाधि कहलाती है। आचार्य भगवन् वीरनन्दी जी महाराज ने लिखा है।

ध्यानं तपः परं चित्तैकार्थलीनप्रवर्तनम्।
कीर्त्यन्तेऽन्तर्मुहूर्त्तविस्थानं स्वर्गमोक्षसाधनम्।। -(आचारसार-6/100)

अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त अवस्थान है जिसका, ऐसे चित्त का एकार्थ में लीन होकर प्रवर्तन करना, स्वर्ग और मोक्ष का साधन ध्यान नामक सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है।

मन अत्यन्त चंचल है। वह संकल्प और विकल्पों के जाल में उलझकर चैतन्यामृत के पान से जीव को वंचित कर देता है। उस मन को एकाग्र करना ध्यान है। ध्यान एक ऐसा वायुयान है, जो साधक को आनन्द और अक्षय सौभाग्य के साम्राज्य में उड़ाकर ले जाता है। ध्यान ही मोक्ष की प्राप्ति

का राजमार्ग है। केवलज्ञान के उपवन को महकाने के लिए ध्यान खाद के समान है। कर्मपंक का प्रक्षालन करने के लिए ध्यान नीरके समान है। ध्यान अपवर्ग का राजमार्ग है।

ध्यान चेतना का सम्यक् रूपान्तरण है। ध्यान के बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। ध्यान के द्वारा ही आत्मा अपनी प्रगति करता है। जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आने पर सुवर्ण की किट्ट–कालिमा नष्ट होती है और सोना शुद्ध होता है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के सम्पर्क में आने वाली आत्मा अपने पर लगी हुई कर्मों की किट्ट–कालिमा को भस्म करके शुद्ध हो जाती है। ध्यान ऐसा तप है जिसके द्वारा मन, वचन और काया को पवित्र बनाया जाता है। अशान्त मन को शान्ति का अथाह भण्डार प्रदान करने वाला एकमात्र कुबेर ध्यान ही है। आत्माभिमुख होकर समस्त दुःख के कारणों का उच्चाटन करने का एकमात्र साधन ध्यान ही है। अतएव ध्यान समस्त तपों में सारभूत तप है, जो स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करा सकता है। जो हित में नियोजित करता है तथा अहित का परिहार करता है, उसे गुरु कहते हैं। ध्यान के द्वारा ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं। इसीलिए ध्यान सर्वोत्तम गुरु है।

जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र के सम्पूर्ण दोषों को दूर कर उसका सम्यक् विकास करता है, उसी प्रकार ध्यान आत्मा के दोषों को दूर करता है। अतः आध्यात्मिकशक्ति के विकास के लिए व दोषमुक्ति के लिए ध्यान सुयोग्य मित्र है। ध्यान ही सच्ची माता है, जो चैतन्यगुण को परिपुष्ट करती है। ध्यान के द्वारा जीव अपनी आत्मशक्ति को भौतिक भावनाओं से स्वतंत्र कर लेते हैं। ध्यान ही स्वर्गापवर्ग की वांछित सम्पत्ति को देने वाला कल्पतरु है। ध्यान मनोवांछित पदार्थों को प्रदान करने वाली कामधेनु है। ध्यान मोक्षफल का प्रदाता है। संसार में जितने हितकारी गुण हैं उनमें ध्यान का स्थान प्रथम है।

महानुभाव! उस ध्यान का फल क्या है? **''फलं स्यात् कर्म निर्जरा''** उस शुभध्यान का फल है कर्मों की निर्जरा। अभी कुछ जिज्ञासाएँ और अनुत्तरित हैं जैसे वचन की स्थिरता क्यों नहीं कही? शरीर-इंद्रियों की स्थिरता क्यों नहीं कही? जब मन की स्थिरता के लिए कह दिया तो अलग से इंद्रियों की स्थिरता कहने की आवश्यकता ही नहीं। मन तो इन्द्रियों का मालिक है, मन को control करने से इंद्रियाँ स्वयं नियंत्रित हो जाती हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति रथ में बैठकर जा रहा है, उस रथ में पाँच घोड़े हैं, सारथी से मालिक ने कहा, रथ रोको, तो घोड़ों से नहीं कहा, सारथी से कहा, सारथी ने बलगा खींची घोड़े स्थिर हो गए। सारथी के स्थिर होने से घोड़े स्थिर होते हैं। घोड़ों के स्थिर होने से सारथी स्थिर नहीं होता। घोड़ों का मन इधर-उधर हो रहा है तो सारथी चाबुक मारेगा और सारथी इधर-उधर हो रहा है तो घोड़े उसे स्थिर नहीं कर सकते। इसलिए मन स्थिर होना चाहिए क्योंकि मन वह सारथी है जो इंद्रियों को चलाने वाला है। मन स्थिर होते ही शरीर, इन्द्रिय और वाणी स्वयमेव स्थिर हो जाते हैं।

महानुभाव! इसलिए कहा कि मन को स्थिर करने में समर्थ हो जाओगे तो ध्यान में उतर जाओगे। जिस प्रकार किसी झील- नदीं के outer पर घूमने से तैरने का आनन्द नहीं आता। घाट से उतरकर उस जलाशय में जितना-जितना डूबते जाओगे उतना-उतना आनन्द आता जाएगा। जैसे—छोटा बालक ज्यादा पानी प्राप्त करता है तो ज्यादा आनन्द लेता है, कभी पानी उछालता है, कभी टब में डूबता है। ऐसे ही जो ज्ञान के जलाशय में डूब जाता है उसे आनन्द आता है। केवल थोथी चर्चाओं के तट पर भ्रमण करने से ध्यान का आनन्द नहीं आता। ज्ञान में लीनता ध्यान है और शुभध्यान (धर्म-शुक्लध्यान) का फल है कर्मों की निर्जरा और परम्परा से ध्यान का फल है मोक्ष की प्राप्ति। इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं ध्यान का फल कर्म निर्जरा है। क्या

अकेली कर्मनिर्जरा होती है, संवर नहीं होता? हाँ, संवर की प्राप्ति भी होती है क्योंकि संवर सहित निर्जरा और निर्जरा के साथ संवर ये दोनों तत्त्व ही मोक्ष के कारण हैं।

ध्यान के महाफल का निरूपण करते हुए आचार्यश्री शुभचन्द्र जी महाराज ने लिखा है–

ध्यानमेवापवर्गस्य, मुख्यमेकं निबन्धनम्।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनः॥ –(ज्ञानार्णव–23/7)

मोक्ष का मुख्य कारण ध्यान ही है। वही ध्यान पाप- समूहरूपी विस्तृत वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान है।

आचार्यश्री शिवकोटिजी महाराज लिखते हैं–जैसे गर्भगृह वायु से रक्षा करता है, वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायु के लिए गर्भगृह है। जैसे धूप से बचने के लिए छाया है, वैसे ही कषायरूपी घाम से बचने के लिए ध्यान छाया के समान है। जैसे दाह को नष्ट करने के लिए सरोवर उत्तम है, वैसे ही कषायरूपी दाह को नष्ट करने के लिए ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीत के बचाव के लिए आग है, वैसे ही कषायरूपी शीत से बचाव के लिए ध्यान आग के समान है।

जैसे वैद्यपुरुष रोगियों के रोगों की चिकित्सा में कुशल होता है, वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करने में कुशल वैद्य है। जैसे अन्न भूख को शान्त करता है, वैसे ही विषयों की भूख दूर करने के लिए ध्यान अन्न के समान है तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है, वैसे ही विषयरूपी प्यास को दूर करने के लिए ध्यान पानी के समान है। अपने सहज स्वभाव का अनुभव ध्यान के द्वारा किया जा सकता है।

जब विशुद्ध बुद्धि के धारक योगीगण नाना आलम्बनों में वर्तने वाली चिन्ता को खींचकर उसे एक आलम्बन में ही स्थिर कर लेते हैं, अन्यत्र नहीं जाने देते, यह स्थिति ही ध्यान कहलाती है और वह ध्यान इष्ट फल प्रदान करने वाला अर्थात् मुख्यतः निर्जरा तथा संवर के रूप में फलित होता है।

'तत्त्वानुशासन' में उस ध्यान का फल बताते हुए यही कहा–

तद्ध्यानं निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम्।-56

एकाग्र ध्यान में निर्जरा और संवर दोनों की शक्तियाँ होती हैं।

महानुभाव! ध्यान के द्वारा सच्चा और परिपूर्ण संयम प्राप्त होता है। संयम के द्वारा ही जीव समस्त कर्मों का विनाश करता है। अतः ग्रन्थकार ने ध्यान का फल कर्मनिर्जरा बताया है। इस प्रकार सत्य स्थिति को जानकर प्रत्येक भव्यजीव को आत्मकल्याण कर लेना चाहिए।

'एवं विध विचारेण' इस प्रकार से विचार करके **'योगं निश्चय माचरेत्'** योग में आचरण करना चाहिए। अर्थात् ध्यान में प्रवृत्ति करनी चाहिए। यही योगी का प्रथम धर्म है, यही प्रथम कर्त्तव्य है, यही उसका संयम है, आचरण है और यही उसका मार्ग है। यही उसकी सामायिक है, ध्यान है, प्रतिक्रमण आदि सब कुछ है। एक बार ध्यान में बैठ गए तो सब कुछ प्राप्त कर लिया। इसलिए योगियों को इसी प्रकार की प्रवृत्ति करना चाहिए। श्रावकों को इसलिए नहीं कि श्रावक वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। श्रावकों के जीवन में इसकी भावना-अनुभावना व चिंतन होता है, इसलिए निर्विकल्प ध्यान की प्राप्ति योगी ही कर सकते हैं, भोगी कदापि नहीं। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

संकल्प और उसका फल

संकल्पएव जन्तूनां, कारणं बंध मोक्षयोः।
वीतरागोऽपवर्गस्य, सरागो बंध कारणं॥6॥

अन्वयार्थ–(संकल्पः) संकल्प **(एव)** ही **(जन्तूनाम्)** प्राणियों के **(बन्ध)** बन्ध और **(मोक्षयो:)** मोक्ष का **(कारणम्)** कारण है। **(वीतरागः)** वीतराग संकल्प **(अपवर्गस्य)** मोक्ष का और **(सरागः)** सराग संकल्प **(बन्धः)** बन्ध का **(कारणम्)** कारण है।

अर्थ–संकल्प ही प्राणियों के बंध व मोक्ष का कारण है। इन दोनों में से वीतराग संकल्प अपवर्ग का और सराग संकल्प बन्ध का कारण है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव स्वामीजी की आप और हम पर बड़ी निःसीम कृपा व करुणा दृष्टि की भावना रही जिन्होंने अपनी साधना के समय में से थोड़ा समय निकालकर के भव्यजीवों के कल्याणार्थ व स्वयं के अशुभ से बचने के लिए, शुभ में प्रवृत्ति करने हेतु ज्ञानांकुश नामक ग्रन्थ का लेखन किया।

पूर्व कारिका में उन्होंने बताया कि चित्त का स्थिर हो जाना ध्यान है। ज्ञान में चित्त का स्थिर हो जाना ध्यान बन जाता है। मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह, असंयम, विषय-कषाय में चित्त का स्थिर हो जाना दुर्ध्यान कहलाता है। सम्यक्त्व में, सम्यग्ज्ञान में, सम्यक्चारित्र में, सम्यक्तप में, वैराग्य में, आत्मस्वरूप में व परमेष्ठी के गुणानुचिंतन में चित्त का स्थिर हो जाना शुभध्यान है, वही शुभध्यान परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है और

साक्षात स्वर्गादि के वैभव को देने वाला होता है। शुभध्यान को परम्परा से मोक्ष का कारण इसलिए कहा क्योंकि शुभध्यान के पश्चात् शुद्धध्यान की प्रवृत्ति होती है। वह शुद्धध्यान कहलाता है शुक्लध्यान।

शुक्लध्यान के विषय में आचार्यों के मन्तव्य हैं कि शुक्लध्यान का प्रारंभ आठवें गुणस्थान से होता है। 8, 9, 10, 11 गुणस्थानों में शुक्लध्यान का प्रथम पाया, होता है। बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का द्वितीय पाया तेरहवें गुणस्थान में तृतीय पाया और चौदहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का चौथा पाया होता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी की धारणा इससे कुछ पृथक् है। वे युक्ति और तर्कपूर्वक इस बात को प्रस्तुत कर रहे हैं कि शुक्लध्यान का प्रारंभ ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। पहला पाया ग्यारहवें गुणस्थान में, दूसरा बारहवें में, तीसरा तेरहवें में और चौथा चौदहवें गुणस्थान में। यहाँ तक तो कोई विसंवाद नहीं है कि 12-13-14 में द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ पाद शुक्लध्यान के होते हैं किन्तु प्रथम पाद के संबंध में आचार्य वीरसेन स्वामीजी कहते हैं कि ग्यारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का प्रथम पाद प्रारंभ होता है क्योंकि उनका मानना है कि जब तक कषाय शेष है, उदय में हैं तब तक शुक्ल परिणाम कैसे हो सकते हैं। कषाय रूपी काली-काली छाया के पड़ते धवलता कैसे आ सकती है। आकाश में यदि सघन बादल हो जाते हैं तो पृथ्वी पर अँधेरा छा जाता है। आत्मा में कषाय की कालिमा उदय में आती रहे और परिण ाम धवल हो जाएँ, ऐसा संभव नहीं है।

कोई आचार्य परमेष्ठी ऐसा भी कहते हैं कि जब श्रेणी पर चढ़ना प्रारंभ हो गया, कषाय की अतिमंदता हो गई क्योंकि छठवें गुणस्थान में कषायों का तीव्र उदय होता है, सातवें गुणस्थान में मंदता हो जाती है। आठवें गुणस्थानवर्ती

जीव या तो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वाला होता है या क्षायिक सम्यक्त्व वाला होता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला उपशम व क्षपक दोनों श्रेणी माड सकता है किंतु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वाला केवल उपशम श्रेणी माड सकता है। वहाँ पर परिणामों की निर्मलता आ गई। कैसे आ गई? कषाय मन्द हो जाने से। बादल आकाश में है तो सही किन्तु ऐसे ही है जैसे मई और जून के महीने में कहीं कोई बादल उड़ता दिखाई दे जाए तो उतने से बादल से पृथ्वी पर अँधेरा थोड़े ही हो जाता है। इसलिए आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान के पहले पाए का प्रारंभ हो जाता है। ऐसा कुछ आचार्य महोदय मानते हैं।

किन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी जी कहते हैं कि थोड़ा सा बादल तो है। यदि थोड़ा सा टुकड़ा सूर्य के विमान के नीचे आ गया तो प्रकाश को कुछ तो कम करता है, कुछ तो दोष लगाता है। जो प्रकाश सदोष है, यदि धूप सदोष आ रही हो तो उसे शुक्ल नहीं कह सकते, शुक्ल की पूर्णता तो ग्यारहवें गुणस्थान से प्रारंभ हो रही है, जहाँ पर कोई भी कषाय किञ्चित भी उदय को प्राप्त नहीं है। दसवें गुणस्थान में लोभ भी चला गया। उसे या तो उपशांत कर दिया या क्षय कर दिया। दोनों आचार्यों की अपेक्षा अलग हैं।

अब यहाँ आचार्य महोदय ध्यान की बात को विभिन्न प्रकारों से कहेंगे, विभिन्न उदाहरणों से कहेंगे, विभिन्न पद्धतियों से कहेंगे कि किस प्रकार चित्त को बाँधा जा सकता है। चित्त को बांधने की कई प्रणाली हैं। जैसे किसान अपने खेत का कैसे अच्छा उपयोग कर सकता है। कोई कहता है अरे कृषक भाई! तुम अपने खेत में अरहर बो दो, पानी नहीं देना पड़ेगा, अरहर ऐसे ही पैदा हो जाएगी। उसने पूछा-कितनी हो जाएगी? बोला एक-दो क्विंटल। अरे! इतने बड़े खेत में बस एक-दो क्विंटल, वो भी कितने की होगी, ज्यादा से ज्यादा 10-20 हजार रुपए की होगी। वह कृषक कहता है इतने बड़े खेत में

बस इतनी सी अरहर, मुझे नहीं बोनी। तभी दूसरा व्यक्ति कहता है एक काम करो चना बो दो, पानी नहीं देना पड़ेगा। पूछा—वह कितना हो जाएगा? अरहर से ज्यादा हो जाएगा, कितना पैसा मिल जाएगा? अमुक राशि मिल जाएगी। वह कहता है नहीं-नहीं, मैं चना भी नहीं बोऊँगा।

फिर कोई कहता है—गेहूँ बो दो, उसमें पानी देना पड़ेगा, पर वह चने से बहुत ज्यादा होगा। पुनः पूछा कितने पैसे मिलेंगे? अमुक-अमुक राशि मिल जाएगी। चलो ठीक है, सोचता हूँ। चौथा व्यक्ति कहता है—अरे भाई! क्यों किसी चक्कर में पड़ते हो, सरसों बो दो, अधिक फसल आएगी व धन भी ज्यादा आएगा। अगला व्यक्ति कहता है ठहर-ठहर, अभी जल्दी न करो, तुम अपने खेत में ईख बो दोगे तो बहुत सारे गन्ने होंगे और एक बार बोकर के तीन बार फसल आएगी। कोई सलाह देता है कि यदि तुमने आम के पेड़ लगा दिए तो 2-4 साल बाद आम आने प्रारंभ हो जाएँगे और सालों तक आएँगे। इस प्रकार कई-कई सलाह उस कृषक को मिलती हैं। अब वह कृषक सोचता है कि मुझे किस फसल के माध्यम से अधिक लाभ हो सकता है। मेरी भूमि का अच्छे से अच्छा उपयोग क्या हो सकता है, वही मैं करूँगा। ऐसे ही एक योगी-धर्मात्मा सोचता है कि मैं अपने समय का अच्छा उपयोग कैसे करूँ? अपने समय को किस प्रकार अच्छी तरह जिनधर्म में लगाऊँ। वह अपने मनुष्य जीवन के समय का अच्छे से अच्छा उपयोग करना चाहता है।

धर्मात्मा जीव अपने समय का किंचित् भी दुरुपयोग करना नहीं चाहता। वह सोचता है कि मेरा यह संयमी जीवन परीक्षाकाल है, मै परीक्षा हॉल में बैठा हूँ, उस परीक्षा हॉल में बैठकर विद्यार्थी मटरगस्ती नहीं करते, वहाँ तो जो याद है उसे फटाफट लिखो। ऐसे ही धर्मात्मा कभी जाप लगाएगा, कभी

चिंतवन करेगा, कभी मौन साधना करेगा, कभी पाठ, कभी स्वाध्याय आदि में अपने मन को लगाए रखेगा। इस प्रकार इस मन को शुभ में लगाना है। इस श्लोक के माध्यम से आचार्य महाराज का यही कहना है।

शरीरधारियों के लिए बंध और मोक्ष का **'बन्धमोक्षयो'** कारण संकल्प ही है। मन प्रतिसमय संकल्प और विकल्पों के जाल बुना करता है। जिस प्रकार मकड़ी जाल बनाती है और स्वयं उसमें उलझकर अपने प्राण गवाँ बैठती है, उसी प्रकार यह जीव राग और द्वेष रूपी विभाव परिणति का वशवर्ती होकर संकल्प व विकल्प का जाल बुनता है और उसमें फँसकर पतन के गर्त अर्थात् नरक व निगोद में जाकर गिरता है। तो संकल्प शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य ब्रह्मदेव जी ने लिखा है–

''पुत्र-कलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना संकल्पः''

–(वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका–41)

पुत्र, कलत्र आदि बाह्य द्रव्य मेरे हैं ऐसी कल्पना करना संकल्प है। आचार्य भगवन् जयसेन स्वामीजी ने भी कहा–

''बहिर्द्रव्ये चेतनाचेतनमिश्रे ममेदमित्यादि परिणामः संकल्पः''

–(पंचास्तिकाय–7)

चेतन, अचेतन, मिश्रद्रव्यों में ये द्रव्य मेरे हैं इत्यादि परिणाम करने को संकल्प कहते हैं। लोक में प्रचलित है कि मन में होने वाली विचारधारा को संकल्प कहते हैं। इत्यादि परिभाषाएँ संकल्प के विषय में आगम में आती हैं। इस श्लोक में आचार्य महोदय ने संकल्प से आशय 'चैतन्यानुविधायी परिणाम' अर्थात् उपयोग के विषय में कहा है। जीव में अशान्ति एवं अन्तर्बहिर्जल्प रूप वृत्ति इसी संकल्प (उपयोग) के कारण उत्पन्न होती है।

आचार्यों ने दूसरे शब्दों में यह भी कहा है–**'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो'** संज्ञी जीवों के पास जो मन है, चाहे वे मनुष्य हों, देव हों, तिर्यंच हो या नारकी, यह मन बंध का भी कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी कारण है। मनुष्य शब्द इसलिए कह दिया कि मनुष्य अवस्था से साक्षात मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है, अन्य तीन गतियों से साक्षात मोक्ष का मार्ग प्राप्त नहीं होता। पंचेन्द्रिय मनुष्य को वहीं से साक्षात नरकगति का मार्ग भी मिल जाता है, देवगति का भी मिल जाता है, तिर्यंच एवं मनुष्यगति का मार्ग भी मिल जाता है।

मनुष्यभव एक ऐसा जंक्शन है जहाँ से सब गतियों के लिए ट्रेन जाती है। वह मनुष्य कहीं भी जा सकता है स्थावरों में, विकलत्रयों में, संज्ञी–असंज्ञी जीवों में, यहाँ तक कि निगोद में भी जा सकता है। वह भवनवासी, ज्योतिष, व्यंतर या वैमानिक भी हो सकता है। वह कल्पवासी या कल्पातीत भी हो सकता है। नवग्रैवेयक, नवअनुदिश व पाँच अनुत्तरों में भी जा सकता है और पहले से सातवें नरक तक भी जा सकता है, भोगभूमि–कुभोगभूमि या कर्मभूमि सब जगह जा सकता है। उसके लिए सभी द्वार खुले हैं इसलिए इस मनुष्य के लिए कहा यह मनुष्य इस मन से जैसा संकल्प लेता है उसे उस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! मनुष्य का मन तो ऐसा समझिए जैसे कल्पवृक्ष। कल्पवृक्ष के समक्ष पहुँचकर जैसी कल्पना करो कल्पवृक्ष वैसा फल दे देता है। गृहांग के सामने कहो गृह चाहिए तो घर मिल गया, वस्त्रांग के सामने कहो वस्त्र चाहिए तो वस्त्र मिल गए, वाद्यांग के सामने कहो कि वाद्य यंत्र चाहिए तो वाद्ययंत्र मिल गए, मालांग के सामने कहो कि माला चाहिए तो वह मिल गई, पानांग के समक्ष पानांग मिल गए, तूर्यांग के सामने तूर्य, दीपांग के

सामने दीप। इस प्रकार जैसे-जैसे कल्पवृक्ष हैं उन कल्पवृक्षों से वह सब मिल जाता है अथवा यह मन तो मनुष्य के पास चिंतामणि रत्न की तरह से है। चिंतामणि रत्न से चिंतित वस्तुओं की प्राप्ति होती है। अब मन से क्या माँगना है? वचनों से जो कुछ भी माँगोगे वह मिल ही जाए यह जरूरी नहीं, वचनों की भावना राजा भी पूर्ण कर पाए या न कर पाए किन्तु मन की भावना तुम्हारा पुण्य जरूर पूरी करेगा। यदि भावना अशुभ है तो तुम्हारा पाप पूरी कर देगा। मन से पाप कमाओ तो पाप का फल मिलेगा, पुण्य कमाओगे तो पुण्य का फल मिलेगा। मन को पुण्य-पाप दोनों बंधनों से रहित कर दो तो यह आत्मा को स्वतंत्र बना देगा।

आचार्यदेव ने यहाँ 'संकल्प' शब्द ही क्यों कहा, मन क्यों नहीं कहा? आचार्य भगवन् ने मन इसलिए नहीं कहा कि वे आपका कार्य से परिचय कराना चाहते हैं। कार्य को दिखाने से व्यक्ति को जल्दी समझ में आता है, कारण समझ में नहीं आता। यदि व्यक्ति को आम की गुठली दिखाकर कहो कि ये मनुष्य के शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने वाला है, लोग कहेंगे इस गुठली को तोड़कर देखें तो सही आखिर इसके अंदर क्या तत्त्व छिपा है, कुछ नहीं। किंतु कोई ऐसे समझाए कि इस गुठली को जमीन में बोकर जलसिंचन- खाद आदि दो, इसे सूर्य का प्रकाश आदि मिले तो यह पौधा वृक्ष बनेगा, जिस पर बौर आएँगे, फिर छोटे-छोटे आम आएँगे, फिर बड़े-बड़े आम्रफल आएँगे, जो कोई भी इस गुठली का समीचीन उपयोग करे तो मिष्ट आम्र फल उसे अवश्य ही प्राप्त होंगे। इस प्रकार गुठली आम्रफल को देने वाली है, बात समझ में पूरी-पूरी आ गई।

इसी प्रकार आचार्य महोदय कहना चाहते हैं कि मन की उपज है 'संकल्प'। वह दिखाई नहीं दे रहा। कोई व्यक्ति अपनी आँखों को दोष दे कि मेरी आँख

वहाँ चली गई, अब क्या आँखों को फोड़ लूँ। अरे भैया! आँखों को फोड़ने से कुछ भी होने वाला नहीं है। अपने आप को संभाल। अरे! मेरे कानो में ऐसा शब्द पड़ गया इसलिए मेरी लड़ाई हो गई। नहीं, अपने कानों को दोष मत दो अपितु अपने आप को संभालो। अरे! मेरी जीभ वहाँ चली गई तो मैंने चोरी करके अमुक वस्तु खा ली, अरे! इसके लिए अपनी जीभ को क्यों काटता है, अपने परिणामों को संभाल।

यदि मन को संभाल लोगे तो इंद्रियाँ अपने आप संभल जाएँगी। यदि कहीं लाइट जल रही है और आप उसके सामने जाकर कहो जल्दी बुझ, जल्दी बुझ, तो ऐसे नहीं बुझेगी, जहाँ उसका स्विच है उसे ऑफ कर दो सब अपने आप बंद हो जाएगा। ऐसे ही आपकी इंद्रियाँ बगावत करती हैं वे ऐसे पकड़ में भी नहीं आती तो उन इंद्रियों की चोटी पकड़ लो। मन पाँचों इंद्रियों की रस्सी पकड़कर रखता है। आप उस मन की चोटी पकड़ लो।

जो बड़ी कम्पनियों के बॉस यानि (CEO) होते हैं वे एक-एक कर्मचारी (employee) से बात नहीं करते, वे उन्हें काम सौंपकर कहते हैं—मुझे इतने दिन में इतना काम चाहिए। ये Target है, आपको कैसे पूरा करना है आप जानो। ये उसकी Duty है। यदि CEO एक-एक employee को पकड़ेगा तो काम नहीं चलेगा। ऐसे ही यहाँ पर मन को पकड़ने की बात कही। मन की उपज है संकल्प। संकल्प अच्छा हो तो अच्छे फल की प्राप्ति होती है, बुरा हो तो बुरे फल की प्राप्ति होती है। सद्संकल्प मोक्ष का कारण एवं असद्संकल्प बंध का कारण होता है।

आगे कहा—**'वीतरागोऽपवर्गस्य'** आर्ष भाषा में इसे शुद्धोपयोग भी कहा जाता है। शुद्धोपयोग कर्म निर्जरा का सर्वश्रेष्ठ कारण है, इसीलिए आचार्य

महोदय ने इसे अपवर्ग (मोक्ष का) कारण बताया है। इस शुद्धोपयोग का फल बताते हुए आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने कहा–

अइसयमादसमुत्थं,विसयातीदंअणोवममणंतं।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धुव ओगप्पसिद्धाणं।। –(प्रवचनसार-13)

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय, आत्मा से उत्पन्न, विषयों से रहित अनुपम, अनंत एवं अविच्छिन्न है।

जब निजतत्त्व के आनन्दामृत का पान करने वाले मुनिराज अपने आत्म-परिणाम को राग व द्वेष से पूर्ण विविक्त कर लेते हैं, जब वे सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोगादि अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समचित्तवान हो जाते हैं, संयम-तप रूप आभूषण युक्त जो मुनि सूत्र व पदार्थों के ज्ञाता हैं वे जब उत्तम ध्यान में लीन होकर ध्यान-ध्येय के विकल्प से विहीन हो जाते हैं, उस परिणति को वीतराग संकल्प कहते हैं। इस संकल्प में कषाय व योग दोनों का सद्भाव नहीं होता अतः उस समय आस्रव एवं बंध नहीं होता।

यदि मन में वीतरागता को प्राप्त करने का संकल्प ले लिया तो मन वीतरागता को प्राप्त करने का जितना भी यत्न करेगा, मोक्ष जब तक नहीं मिलेगा तब तक स्वर्ग और नरभव का उत्कृष्ट-सर्वोत्कृष्ट सुख भोगेगा। और यदि संकल्प 'सरागो बंध कारणं' राग को प्राप्त करने का ले लिया, राग-द्वेष को प्राप्त करने का संकल्प के लिया अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप असद् संकल्प ले लिए कि मैं उसे छोड़ूँगा नहीं, तुम नहीं जानते कि मेरी क्रोध की अग्नि कितनी तीव्र है, मैं कभी किसी के आगे झुक नहीं सकता, मेरी मायाचारी को कौन पकड़ सकता है, जिस वस्तु का लोभ मेरे

मन में एक बार आ गया मैं उसे प्राप्त करके ही रहूँगा, ऐसे अशुभ, कषाय पोषक संकल्प लेता है या पंचेन्द्रिय विषयों का पोषण करता है अथवा राग-द्वेष की पुष्टि करता है तो समझ लीजिए वह अशुभ बंध कर रहा है, वह नरकादि दुर्गतियों के दुःख भोगेगा, स्वर्गादि के सुख नहीं भोगेगा। किन्तु विशुद्धि रूप सरागसंकल्प पुण्यबंध का कारण है। सरागसंकल्प वह है जब यह जीव वीतरागदशा से च्युत हो जाता है, तब उसकी परिणति संक्लेश अथवा विशुद्धिरूप हो जाती है। वह परिणति रागमय होने से वह सरागसंकल्प कहलाता है। संक्लेश और विशुद्धि को परिभाषित करते हुए आचार्यश्री वीरसेन स्वामी जी ने लिखा-

असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम।

का विसोही? साद बंध जोग्ग परिणामो।। -(धवला पु. 6 पृष्ठ-1)

असाता की बन्धयोग्य परिणति को संक्लेश कहते हैं तथा विशुद्धि किसे कहते हैं? साता के बंधयोग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। संक्लेश परिणाम का अपर नाम अशुभोपयोग है। उससे विपरीत योग शुभयोग कहलाता है। दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी ने लिखा है-

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभं निर्मितम्,
विज्ञायेत्यशुभं निहन्तुमनसो ये पोषयन्ते तपः।
जायन्ते शमसंयमैक निधयस्ते दुर्लभा योगिनो-
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते?

पूर्व भव में बाँधा हुआ अशुभकर्म असाता (दुःख) और शुभकर्म साता (सुख) उत्पन्न करता है। ऐसा जानकर जो इस अशुभकर्म को नाश करने के भाव से तप करते हैं और समता तथा संयम रूप हो जाते हैं, ऐसे योगी भी

दुर्लभ हैं। परन्तु जो पुण्य और पाप इन दोनों ही प्रकार के कर्मों के नाश में लवलीन हैं, उन योगियों की तो बात ही निराली है।

अतः विशुद्धिरूप संकल्प परम्परा से मोक्षमार्ग है और वीतराग संकल्प साक्षात मोक्ष का मार्ग है। अतः मोक्षाभिलाषी जीवों को सराग संकल्प के माध्यम से वीतराग संकल्प में लीन रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

महानुभाव! आचार्य महोदय की इस कारिका को समझकर आप सभी अपने संकल्प को बदलें। यह मन आपके हाथ में है, आपकी आज्ञा में है। इस मन से जैसा कहोगे वैसा यह शुद्ध संकल्प ले लेगा। तब आत्मकल्याण का मार्ग निःसंदेह प्राप्त होगा। आप सभी आत्मकल्याण के मार्ग पर तीव्रगति से अपनी शक्ति के अनुसार गमन करें, इन्हीं सद्‌भावनाओं के साथ।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

निराश्रय ध्यान

अभावं भावनं चैव, भावं कृत्वा निराश्रयम्।
निश्चलं हि मनः कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥7॥

अन्वयार्थ–(अभाव) अभाव **(भावम्)** भावों की **(भावनम्)** भावना **(कृत्वा)** करके **(हि)** निश्चय से **(निराश्रयम्)** निराश्रय होना चाहिए **(च एव)** और **(मनः)** मन को **(निश्चलम्)** निश्चल **(कृत्वा)** करके **(किंचित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** चिन्तें।

अर्थ–अभाव भावों की भावना करके निराश्रय होना चाहिए तथा मन को निश्चल करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना में विगत दिवस ध्यान के सम्बन्ध में कहा कि ध्यान क्या है, क्यों आवश्यक है, ध्यान के माध्यम से किस प्रकार शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति होती है। चतुर्थ गुणस्थान में भावना होती है, पंचम गुणस्थान में अनुभावना होती है, षष्टम गुणस्थान में तत्त्वचिंतन होता है और सप्तम गुणस्थान से निर्विकल्प ध्यान होता है। यद्यपि चौथे, पाँचवें, छटवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान माना है किन्तु वह निर्विकल्प नहीं सविकल्प होता है। जब चित्त किसी एक विषय में अन्तर्मुहूर्त के लिए स्थिर हो जाए तो वह ध्यान बन जाता है। ध्यान विषय से संबंधित है। जैसा विषय वैसा ध्यान। मतलब? यदि चित्त अशुभ में लीन है तब वह अशुभध्यान है। जब चित्त शुभ में लीन है तो शुभ ध्यान है।

अब यहाँ पर कहा यह चिंतनपरक ध्यान ज्यादा कर्म की निर्जरा करने में समर्थ नहीं है। जब ध्यान लीनतारूप हो जाता है तब वह ध्यान प्रचुर मात्रा में कर्मों का दहन करने में समर्थ हो जाता है। चित्त जहाँ लीन है वही ध्यान है। दूसरे शब्दों में कहें कि व्यक्ति वही है जो उसके चित्त में चल रहा है। शुभ चल रहा है तो शुभ है, अशुभ चल रहा है तो अशुभ है। पुण्यरूप परिण ाम हैं तो पुण्य है, पापरूप परिणाम हैं तो पाप है।

जिस समय जीव जैसा बंध कर रहा है उसे उस बंध की अपेक्षा से वह संज्ञा दी जा सकती है। वर्तमान में जो संज्ञा दी जाती है वह उदय से दी जाती है। यदि किसी के जीवन में पाप का उदय चल रहा है तो लोग उसे पापात्मा कहते हैं और किसी के जीवन में पुण्य का उदय चल रहा है तो लोग उसे पुण्यात्मा कहते हैं। पुण्य के उदय से वह बहुत सुख भोग रहा है, विषयों में लीन भी हो गया, दुनिया की दृष्टि में वह भले ही पुण्यात्मा कहा जाए किन्तु यदि वह पाप का बंध कर रहा है तो सिद्धान्त उसे बंधकर्ता के रूप में पापी ही स्वीकार करता है। और जिसके जीवन में वर्तमान में पाप का उदय चल रहा है किन्तु उसकी आत्मा पाप से प्रभावित नहीं हो रही है, वह शुभ कार्यों में संलग्न है, तो वह पुण्यात्मा है।

कोई मुनि महाराज तपस्या कर रहे थे, पापकर्म के उदय से उन पर घोर उपसर्ग हो रहा है, किन्तु वे ध्यान में संलग्न हैं, उनके सिर पर जलती सिगड़ी रख दी गई, स्वर्णाभूषण गरम-गरम करके पहनाए गए या उन्हें घानी में पेल दिया गया या सिंहनी-स्यालिनी भक्षण कर रही है अथवा शिला को गर्म कर दिया या अन्य प्रकार से उन्हें कष्ट दिया जा रहा है। ऐसा हो रहा है अर्थात् तीव्र पाप कर्म का उदय है। किन्तु उस समय वे मुनि महाराज शुभभावों से परिणत हैं, शुद्धभावों से परिणत हैं, तो क्या उन मुनिमहाराज को पापी कहेंगे?

सकलभूषण मुनिराज साधना में संलग्न थे, उनकी पत्नी ने व्यंतरी बनकर कितना उपसर्ग किया, किन्तु वे ध्यान में संलग्न रहे। वे मुनिराज पाप के उदय को भोग रहे हैं, पाप की निर्जरा कर रहे हैं, पाप की उदीरणा कर रहे हैं तो क्या वे पापी हो गए? सिद्धान्त की अपेक्षा से कहें तो पापकर्म को नष्ट कर रहे हैं। कोई व्यक्ति यदि कर्ज चुका रहा है तो क्या वह कर्जदार कहलाएगा? किसी ने दस लाख चुकाये पुनः तीस लाख चुकाये आगे भी वह चुकाता चला जा रहा है, वह चुकाने वाला कर्जदार नहीं है। कर्जदार तो वह है जो कर्ज ले रहा है अर्थात् जो पापकर्म को बांध रहा है वह पापिष्ठ है। जो पाप की निर्जरा कर रहा है वह पापी नहीं है। इसलिए आचार्य महोदय कहते हैं कि अशुभ बंध से बचो।

यदि आपने पूर्व में पाप प्रकृतियों का बंध कर लिया है, अब उन्हें पुण्य में संक्रमित करने में समर्थ नहीं हैं तो कोई बात नहीं, पाप प्रकृतियाँ स्वमुख से भी उदय में आ जाए तो भी घबराने की बात नहीं, कोई चिन्ता नहीं करना क्योंकि कोई भी प्रकृति एक बार उदय में आ गई तो वे कर्मप्रदेश, वे कार्माण-वर्गणाएँ दुबारा फल नहीं देंगी। एक बार किसी साहूकार का किसी कर्जदार ने कर्ज चुका दिया तो अब वह दुबारा माँगने नहीं आएगा। और जो व्यक्ति पुण्य के फल को भोग रहा है तो मानो वह उसे बर्बाद कर रहा है, तो वह पुण्यात्मा नहीं, पुण्यात्मा तो पुण्य का बंध करने वाला होता है, पाप की निर्जरा करने वाला होता है। पाप का बंध करने वाला पुण्यात्मा नहीं होता।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं यदि कर्मों की प्रचुर मात्रा में निर्जरा करना चाहते हो तो उसका एक ही उपाय है, वह है 'आत्मलीनता'। आत्मलीनता ही प्रचुर मात्रा में कर्मों को जलाने का साधन है। किन्तु वह आत्मलीनता कैसे हो? अनादिकाल से परपदार्थों में लीन इस आत्मा को आत्मा

में लीन कैसे किया जाए? जिस आत्मा को आत्मा का भान ही न हो, जो आत्मा केवल पुद्गल से अपना परिचय कर चुकी हो, जिसे सिर्फ पुद्गल ही पुद्गल दिखाई देता हो, कर्मबंध की कथाएँ, कामसेवन की चर्चाएँ ही जिसे बार-बार याद आती हों, जैसा कि आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने समयसार में कहा–

सुद-परिचिदाणुभूदा,सव्वस्सविकाम-भोग-बंधकहा
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ (1/4/4) –समयसार

संसार के प्रत्येक प्राणी ने काम, भोग और कर्मबंध की कथाएँ सुनी हैं, वह उनसे परिचित है, अनुभूत है और दीर्घकालीन अनुभवी है। किन्तु वह कर्मों के दहन करने में बहुत पीछे है। कर्म तो दुनिया से लेता रहा किन्तु चुकाने का तो नाम ही नहीं लिया। कुछ थोड़ा बहुत चुक गया तो चुक गया, किन्तु चुकाना तो पड़ेगा। आचार्य महोदय कह रहे हैं जो पाप अज्ञान में, मिथ्यात्व अवस्था में, मोहवश बाँध लिया, वो तो बंध गया, अब चाहे वह उदय में आकर छूटे या उदीरणा से छूटे या अविपाक निर्जरा से छूटे किन्तु आगे के लिए बाँधो मत, ध्यान में लीन हो जाओ और ध्यान में लीन होने का कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इनके आश्रय से ही पहले व्यवहार रत्नत्रय का पालन, व्यवहार मोक्षमार्ग में गमन और चिंतन रूप सविकल्प धर्मध्यान उसके उपरांत आत्मा में लीनता रूप निर्विकल्प धर्मध्यान। जिसके बारे में आचार्य महाराज कह रहे हैं–

'अभाव भावनं चैव' जिन भावों का आज तक जीवन में अभाव रहा उन भावों की अब भावना करना और जिन भावों का अनादिकाल से सद्भाव रहा उनका अब अभाव कर दो। 'भावं कृत्वा निराश्रयम्' जिनका मन से अभाव था उनका सद्भाव करके और जिनका सद्भाव था उनका अभाव करके निराश्रय

हो जाओ। वह कैसे? तो आचार्य भगवन् नेमिचन्द्रजी सिद्धान्तिदेव ने द्रव्य सङ्ग्रह में लिखा–

मा मुज्झह मा रज्झह मा दुस्सह इट्ठ णिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छह जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए।। –(द्रव्यसंग्रह–48)

विचित्र (अनेक प्रकार) ध्यान की सिद्धि के लिए इष्ट–अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग–द्वेष मत करो। आत्मा को आत्मा में लीन करना परम ध्यान कहलाता है। महानुभाव! परम–ध्यान की प्राप्ति के लिए इस प्रकार की व्यवस्था दी कि शरीर से कोई चेष्टा नहीं करना, वचन जो अन्तर्जल्प हैं उनका भी प्रयोग नहीं करना। आचार्य भगवन् ने दूसरी गाथा भी कही।

मा चिट्ठ ह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं।। –(द्रव्य सङ्ग्रह–56)

कोई चेष्टा मत करो, कोई अन्तर्जल्प नहीं कुछ चिंतन मत करो। फिर क्या करो? आत्मा को आत्मा में लीन कर लो, यही परम ध्यान कहलाता है।

यहाँ भी आचार्य महोदय इसी बात को कह रहे हैं कि जिन–भावों से संसार का वर्धन होता है उन भावों का अभाव करना जरूरी है और फिर निराश्रय हो जाओ। देखो! जब तक पक्षी आश्रय ले रहा है तब तक पक्षी मुक्त नहीं हो सकता। वह चाहे पिंजरे का आश्रय ले रहा है, चाहे किसी भवन, रस्सी, दीवार आदि किसी का भी आश्रय ले।

नलिनी से तोता कैसे पकड़ा जाता है? रस्सी बांधकर उस पर छोटे–छोटे बांसुरीनुमा पाइप लगा दिए। अब वहाँ पर चुग्गा डाल दिया। चुग्गा चुनने तोता आदि पक्षी आए और दाना चुगने ज्यों ही रस्सी पर बैठे, रस्सी में लगा पाइप जैसे ही पकड़ा, पाइप घूम गया तो तोता उल्टा लटक गया। तोता समझता

है कि इस रस्सी ने मुझे पकड़ लिया है, अब वह रस्सी छोड़ नहीं सकता। ऊपर भी बैठा हो तो पंख फैलाकर उड़ जाए किन्तु वह लटका हुआ है। उसे लगता है कि पंख खोलूँगा तो मैं नीचे गिर जाऊँगा, तो वह उड़ नहीं पाता। इस प्रकार वह बहेलिया आता है और उन्हें पकड़कर ले जाता है। ऐसे ही जब तक हम किसी परपदार्थ को पकड़े हैं तब तक हमें लगता है कि किसी परपदार्थ ने हमें पकड़ लिया है। आश्रय कैसा भी लिया, चाहे वह आश्रय सुखाभास का अनुभव करा रहा हो या दु:खाभास का अनुभव करा रहा हो किन्तु ये सुखाभास–दु:खाभास दोनों ही संसार के कारण हैं, मोक्ष का कारण दोनों में से एक भी नहीं।

जब पक्षी आश्रय छोड़ देता है, जब वह न शाखा पर बैठा है न घोंसले में, न दीवार पर न शिखर–कलश पर, कहीं नहीं बैठा, न रस्सी पर बैठा है न लटका है, जब वह पक्षी आकाश में उड़ रहा है तब मुक्त गगन के उस पक्षी को अपने जाल में कौन फँसा सकता है। जाल में जब भी फँसेगा तो उसके मन में कहीं न कहीं चुग्गा–दाने का लोभ आएगा, ज्यों ही नीचे आएगा और आलम्बन लेगा तो कोई भी बहेलिया जाल फैलाकर उसे पकड़ सकता है, पक्षी उसमें फँस सकता है। ऐसे ही यह संसारी आत्मा जब किसी पुद्गल का आश्रय लेती है तब कार्माण वर्गणाएँ आकर के उसे जकड़ लेती हैं। और जब भी ये चित्त निरालम्ब होकर ध्यान करता है तब कार्माण वर्गणाएँ उससे दूर रहती हैं। इसीलिए कहा–अपने भावों को निराश्रय करो।

पहले यतिजन–योगीजन ध्यान करते हैं तो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान करते हैं। बाद में उस ध्यान को निरालम्ब भी करते हैं। 'निश्चलं हि मन: कृत्वा' इस मन को निश्छल करो क्योंकि निश्छल मन ही निश्चय होने में समर्थ है। जब तक मन में छल–कपट है, तब तक वह

निश्चल नहीं हो पाता। ''न किञ्चिदपि चिंतयेत्'' जब मन निश्चल हो जाए फिर कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिए। यदि कुछ भी चिंतन किया जा रहा है, कुछ भी अच्छा लग रहा है तो समझो हम उसके द्वारा पकड़े गए।

कोई मेहमान घर में आया, यजमान ने कहा–भोजन–नाश्ता ग्रहण करो। उस मेहमान ने कुछ भी ग्रहण किया तो उससे वह रागान्वित हुआ। अगर मेहमान कहे, मुझे कुछ चाहिए ही नहीं तो राग भाव भी नहीं। जब तक मन में किसी वस्तु को ग्रहण करने का भाव नहीं आएगा तब तक पकड़ नहीं सकते। वह चाह ही उस आत्मा को बंदी बनाने में समर्थ है, न चाहे तो कोई बंदी नहीं बना सकता। रास्ते पर चलने वाले को कोई भी पुलिस वाला पकड़ेगा नहीं, किन्तु रास्ते पर चलने वाला इधर–उधर झांकता हुआ, कभी इस घर–कभी उस घर में घुसता है तो उसे चोर समझकर पकड़ लिया जाता है, क्योंकि उसने कोई न कोई आश्रय लिया। यदि वह सीधा–सीधा चलता चला जाए, न राग की, ओर मुड़े न द्वेष की तो इस निरालम्ब निराश्रय ध्यान को करके योगी कर्मों से मुक्त हो जाता है।

ध्यानेच्छुक जीव को ऐसा विचार करना चाहिए कि मुझमें निश्चय से विभाव भावों का अभाव है, विकारों का एक अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है। विभावों की उद्भूति परनिमित्त होती है वस्तुतः वह वस्तु का परसंयोगज भाव है, स्वभाव नहीं है। स्वात्मपरिणति में विभावों का कोई काम नहीं। आत्मा का स्वभाव प्रगट होते ही विभावों के मण्डराते बादल ऐसे छँटते चले जाते हैं जैसे बादलों के छँट जाने पर बादलों की ओट में छिपा सूर्य का प्रकाश एवं प्रताप प्रकट हो जाता है।

इसीलिए योगीजन के लिए कहा यदि वह आत्मा में लीन है तो प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, ध्यान, धारणा, समाधि आदि जो भी विकल्प हैं उन विकल्पों को छोड़ दे, क्योंकि उस समय आत्मलीन योगी के लिए सब विषकुम्भ की तरह से हैं। यदि लीन नहीं है तो ये प्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ की तरह से हैं। इसलिए आत्मलीन योगी को परम आत्मलीन अवस्था में कुछ भी नहीं सोचना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में इस कारिका का यही अर्थ है कि स्वभाव आत्मा की सहज परिणति है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप स्वचतुष्टय में स्वचतुष्टय के द्वारा उत्पन्न होकर वह अपनी अवस्थिति वहीं पर रखती है। अतः विभावों का अभाव हो जाने पर आत्मा परसे निराश्रय हो जाता है। पर से निराश्रित हुआ आत्मा अपने मन व पाँचों इंद्रियों के अनुकूल वृत्ति नहीं करता और जिसकी इंद्रियाँ व मन दमित हो चुके हैं उसे क्रोधादि विभाव कष्ट नहीं दे पाते। कषाय के अभाव में और स्वभाव में रमणरूप कारणों से उस योगी का उपयोग निर्मल हो जाता है। यही परम ध्यान की अवस्था आत्मोत्थापक निमित्त है। अतः प्रत्येक भव्यप्राणी को उस आत्मध्यान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मा व ज्ञान में एकत्व

आत्मा हि ज्ञानमित्युक्तं, ज्ञानात्मनौ विकल्पकम्।
ज्ञानेन ज्ञान मालम्ब्य, योगिन्! कर्मक्षयं कुरु॥8॥

अन्वयार्थ–(आत्मा) आत्मा **(हि)** निश्चय से **(ज्ञानम्)** ज्ञान है **(इति)** ऐसा **(उक्तम्)** कहा गया है। **(ज्ञान)** ज्ञान और **(आत्मनौ)** आत्मा में भेद करना **(विकल्पकम्)** व्यवहार है। **(योगिन्)** हे योगी! **(ज्ञानेन)** ज्ञान से **(ज्ञानं)** ज्ञान का **(आलम्ब्य)** आलम्बन करके **(कर्मक्षयं)** कर्म क्षय **(कुरु)** करो।

अर्थ–आत्मा निश्चयसे ज्ञान है, ऐसा कहा गया है। ज्ञान और आत्मामें भेद करना व्यवहार है। हे योगी! तुम ज्ञानसे ज्ञानका आलम्बन लेकर समस्त कर्मोंका क्षय करो।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव स्वामी द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत विगत श्लोक में देख रहे थे कि जिन भावों का हमारी भावना में अनादि से सद्भाव है उन कुभावों का अभाव करके और जिन सद्भावों का अभाव रहा उनका सद्भाव करके निरालम्ब ध्यान का आलम्बन लेना चाहिए। निरालम्ब ध्यान यदि प्राप्त हो गया तो फिर कुछ भी चिंतन नहीं करना चाहिए।

महानुभाव! निरालम्ब ध्यान को प्राप्त करने के लिए बहुत साधनों का उपयोग करना पड़ता है। साध्य की सिद्धि होकर के फिर विकल्प नहीं आते। विकल्प साधनों में आते हैं साध्य में नहीं। आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी

जी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में साढ़े नौ अध्यायों में मोक्षमार्ग के विकल्प कहे किन्तु मोक्ष के संबंध में दशवें अध्याय में कुछ सूत्रों में ही बता दिया। अर्थात् मार्ग विकल्पों से युक्त होता है, मार्ग बहुत लम्बा होता है, मार्ग में अनेक अनुकूलता-प्रतिकूलता होती हैं, मार्ग भटकाने वाला होता है, मार्ग पर चलकर के विरला व्यक्ति ही लक्ष्य तक पहुँच पाता है, भटकने वाले ज्यादा होते हैं, किन्तु मंजिल पर आज तक कोई नहीं भटका, लक्ष्य को प्राप्त करके कोई नहीं भटका। साध्य की सिद्धि करके साधनों को किसी ने नहीं देखा। जो कार्य सिद्ध करना था वह कर लिया, अब साधनों की कोई आवश्यकता नहीं।

आपने ग्रामीण क्षेत्रों में देखा होगा कि लोग दातून करने के लिए बबूल आदि की दातून लेते हैं और घिसकर के उसे फेंक देते हैं क्योंकि उससे प्रयोजन सिद्ध हो गया। या दुकानदार से दोने में मिठाई ली, मिठाई खाई और दोना फेंक दिया। जिस प्रयोजन के लिए जो वस्तु तैयार की है, प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर जब वह निष्प्रयोजनीय हो जाता है तो उसे फेंक दिया जाता है और जब तक प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है तब तक उसके विकल्प आते हैं।

परमपूज्य आचार्य भगवन् गुरुदेव श्री विद्यानन्द जी मुनिराज कई बार बताया करते थे-एक सेठ ने अपने सेवक रामू से कहा-हरिविलास के बाग में जाना, वहाँ से दशहरी आम लाना है, आम साठ रुपया किलो लाना है, दो किलो आम लाना है, जाने के लिए साइकिल ले जाना, जल्दी जाना-जल्दी लौटकर आना। वह सेठ सोच रहे हैं रामू आम लेने जाएगा, साइकिल से हरविलास के बाग में जाएगा, साठ रुपये किलो दशहरी आम लाएगा, कहीं आम 62 रु. किलो न हो गए हों, अरे! 58 रु. किलो भी तो हो सकते हैं। रामू जल्दी आ जाए, कहीं बहुत महंगे न ले आए या कहीं सड़े आम न उठा लाए, रामू भी सोच रहा है, सेठजी ने मुझसे कहा है कि साइकिल से जाना,

हरिविलास के बाग में जाना है। वहाँ मुझे साठ रुपये किलो दशहरी आम मिलेंगे, दो किलो आम लाना है आदि-आदि बात सोचता जा रहा है। और इस प्रकार सेठ-सेवक दोनों के मन में विकल्प चल रहे हैं।

रामू आम लेकर के वापस आ गया। सेठ जी आम देखकर खुश हुए, फिर भी उन्होंने रामू से पूछा-तू साइकिल से गया था न, हरिविलास के बाग के ही आम लाया है न, आम दशहरी ही है न, क्या भाव लाया है आदि-आदि सब बातें हो गईं। अब सेठ जी ने आम छीला और आम खाना प्रारंभ किया। आम इतना मीठा था जैसे किसी ने शक्कर की चाशनी या मुनक्के का रस निकालकर ही उसमें डाल दिया हो। सेठजी आनन्दपूर्वक आम खा रहे हैं, उन सेठजी को अब न रामू दिखाई दे रहा है, न हरिविलास का बाग दिखाई दे रहा है, न साइकल दिखाई दे रही है, न आम के भाव दिखाई दे रहे हैं, मात्र स्वाद ले रहे हैं, उस समय उनके मन में कोई विकल्प नहीं है।

महानुभाव! विकल्प तब तक आते हैं जब तक हम आलम्बन लेते हैं। जब तक व्यक्ति समुद्र-नदी-झील या तालाब आदि के किनारे घूम रहा हो, चक्कर लगा रहा हो कि यहाँ ऊँचा है-नीचा है, यहाँ कंकड़-पत्थर हैं, बहुत गहरा पानी है, गंदा पानी है आदि-आदि खूब विकल्प आए किन्तु जैसे ही दूसरा व्यक्ति आया उसने कपड़े उतारे और नाक पकड़कर सीधी डुबकी लगा दी और तैरता चला जा रहा है, उसे उस समय कोई विकल्प नहीं आ रहे। ऐसे ही योगी जब अपनी आत्मा में डूब जाता है तब उसे कोई विकल्प नहीं आते। विकल्प तब तक ही है जब तक डूबा नहीं है। अपनी आत्मा के आनन्द के सागर में डूब जाएगा तो विकल्प एक भी रह नहीं पाएगा और जब तक एक विकल्प भी शेष रहेगा तब तक मन कच्चा रहेगा, मन डूबेगा ही नहीं। एक पैर पानी में रखेगा फिर लौटकर वापस आ जाएगा। डूबने से डरता रहेगा

तो वह जल में अवगाहन करने का आनन्द नहीं ले पाएगा। आचार्य महोदय इस कारिका नंबर आठ में बता रहे हैं कि वह किस प्रकार निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त करें, आचार्य महाराज के शब्दों में ही देखते हैं–

'आत्मा हि ज्ञानमिति' आत्मा ही ज्ञान है 'ज्ञानमेव आत्मा' ज्ञान ही आत्मा है। क्योंकि ज्ञान आत्मा के अलावा कहीं और पाया नहीं जाता और कोई आत्मा बिना ज्ञान के इस संसार में है नहीं इसलिए ज्ञान और आत्मा दोनों अविनाभावी हैं। ज्ञानचेतना ही आत्मा है, दर्शनचेतना ही आत्मा है। ज्ञानचेतना मात्र आत्मा है ये कथन कह भी दिया तो कोई दोष नहीं है। जितने में ज्ञान है उतने में दर्शनगुण भी है, अन्य गुण भी हैं किन्तु ज्ञान नहीं है तो आत्मा नहीं है, इसलिए ज्ञान को आत्मा, आत्मा को ज्ञानरूप कहा जा सकता है।

वह आत्मा कितनी बड़ी है? जितना बड़ा ज्ञान है। ज्ञान कितना बड़ा है? जितनी बड़ी आत्मा है। जब केवली भगवान समुद्घात करते हैं तो उनके आत्मप्रदेश पूरे लोक में फैल जाते हैं, तो ज्ञान भी इतना बड़ा है। क्योंकि ज्ञान में लोक-अलोक सब झलकता है तो आत्मा भी इतनी बड़ी हो गई। आत्मा की शक्ति सब कुछ झलकाने की है। जो शक्ति आत्मा की है वह शक्ति ज्ञान की भी है इसलिए **'ज्ञान आत्मनौ विकल्पकम्'** ज्ञान और आत्मा व्यवहार में विकल्प हैं।

यह मेरी आत्मा का ज्ञानगुण है, यह मेरी आत्मा का दर्शनगुण है, यह मेरी आत्मा का सुखगुण है, यह वीर्यगुण है या अव्याबाध, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि मेरी आत्मा के गुण हैं अथवा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि ये भी मेरी आत्मा के गुण हैं, इन गुण से बाहर कोई आत्मा नहीं है। आत्मा के गुण आत्मा के अलावा कहीं और नहीं पाए जा सकते। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि में है, जहाँ उष्णता है वहाँ

अग्नि है, अग्नि और उष्णता कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकती। जल की शीतलता और जल कभी अलग नहीं हो सकते, ऐसे ही ज्ञान और आत्मा कभी भी किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में अलग-अलग नहीं हो सकते। ज्ञान ही आत्मा है, आत्मा ही ज्ञान है।

किसी ने प्रश्न किया कि आत्मा ही ज्ञान है, ज्ञान ही आत्मा है तो फिर हम शास्त्रों का स्वाध्याय क्यों करते हैं? शास्त्रों में ज्ञान नहीं है क्या? यदि शास्त्रों में ज्ञान नहीं है तो शास्त्र का स्वाध्याय करते ही क्यों हो? यदि है तो फिर यहाँ क्यों कहा जा रहा है कि आत्मा ही ज्ञान है, ज्ञान ही आत्मा है। समाधान–आपकी जिज्ञासा तो बहुत अच्छी है। हम आपसे सीधे-सीधे कहेंगे कि शास्त्रों में ज्ञान नहीं है तो शायद आपको अच्छा नहीं लगेगा किन्तु हम आपको समझाकर कहेंगे तो आपको बात समझ में अच्छे से आ जाएगी।

ये बताइये कि माचिस की डिब्बी में जो दियासिलाई है उसमें अग्नि है कि नहीं? यदि अग्नि है तो जहाँ माचिस रखी है वह स्थान जल क्यों नहीं जाता। यदि दियासिलाई में अग्नि मानते हैं तो फिर तो सब जल जाना चाहिए क्योंकि जहाँ अग्नि की एक चिंगारी भी है तो वह पूरे वन को जलाकर नष्ट करने की सामर्थ्य रखती है और फिर इस माचिस की डिब्बी में इतनी सारी काड़ी हैं कि एक-एक काड़ी से सैकड़ों जंगल जलाये जा सकते हैं, किन्तु जिस तिल्ली में मसाला लगा है वह काड़ी तक भी डिब्बी में रखी हुई जलती नहीं है, यदि अग्नि होती तो सबसे पहले उसे जल जाना चाहिए किन्तु वह जलती नहीं और यदि मानें कि इसमें अग्नि नहीं है तो फिर अग्नि कहाँ से आई। फिर मोमबत्ती को किसने जलाया, फिर काड़ी रखी ही क्यों है।

महानुभाव! व्यवहार में बिना माचिस को जलाए अग्नि पैदा नहीं होती और निश्चय में माचिस की आवश्यकता नहीं, सूर्य की किरणों से भी अग्नि

पैदा हो सकती है। काष्ठमध्ये वह्नि कहलाती है। यदि लकड़ी में जलने की सामर्थ्य नहीं है तो कोई भी अग्नि उसे जला नहीं सकती। क्योंकि जिस वस्तु में जलने की सामर्थ्य नहीं होती है उसे कोई भी वस्तु जला नहीं सकती। कोई ऐसी अग्नि है क्या जो बर्फ को जला दे? नहीं जला सकती। अग्नि लकड़ी को जला सकती है क्योंकि उसमें जलने की सामर्थ्य है। माचिस की तिल्ली में अग्नि नहीं किन्तु अग्नि का कारण है, वह नियामक कारण है। ऐसे ही आचार्य भगवंतों द्वारा लिपिबद्ध शास्त्रों में श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी है जो गणधर परमेष्ठियों ने संग्रहित की है, उन शब्दों को जब अपनी आत्मा पर रगड़ते हैं तब ज्ञान की ज्योति पैदा हो जाती है। शब्द चाहे हम शास्त्रों से ग्रहण करके लें, चाहे शब्द साक्षात जिनेन्द्रप्रभु के समवसरण में जाकर उनकी दिव्यध्वनि से ग्रहण करें, चाहे शब्द गुरु महाराज के श्रीमुख से सुनें किन्तु ये बात सत्य है कि वे शब्द पुद्गल हैं, ज्ञान नहीं है। पुद्गल आत्मा का गुण नहीं हो सकता और आत्मा का गुण पुद्गल नहीं हो सकता इसलिए ज्ञान तो चैतन्य रूप है किन्तु उस ज्ञान को प्रकट करने के लिए इन शब्दों का सहारा लेना जरूरी है। इनके बिना आत्मा में ज्ञान प्रकट नहीं होता।

कनक पाषाण में सोना पाया जाता है किन्तु उस कनकपाषाण के आभूषण नहीं बनाए जाते। उस कनक पाषाण में से शुद्ध स्वर्ण निकाला जाता है। जब शुद्ध स्वर्ण पैदा हो जाता है तब अनावश्यक तत्त्व जल जाता है। जब आत्मा में ज्ञान प्रकट हो जाता है तब शब्दों का कोई भी महत्व नहीं होता। शब्द केवल श्रुतज्ञान को पैदा करने में निमित्त हैं और श्रुतज्ञान केवलज्ञान का कारण है, केवलज्ञान नहीं है। शब्दों के अलावा भी भावश्रुतज्ञान होता है। अवधिज्ञान में, मनःपर्ययज्ञान में शब्दों का व्यापार नहीं है, दूसरों के हित के लिए यदि

मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का प्रयोग किया जाता है तब शब्दों का सहारा लिया जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति गन्तव्य की ओर जा रहा है तो वह जिस वाहन से जा रहा है वह वाहन गन्तव्य नहीं है, गन्तव्य तक पहुँचाने का साधन है। ऐसे ही शब्द वाहन हैं जो हमें भावश्रुतज्ञान तक पहुँचा सकते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं–निश्चय से आत्मा ही ज्ञान है, व्यवहार में ज्ञान और आत्मा दोनों अलग-अलग माने जाते हैं, निश्चय से ज्ञान व आत्मा दोनों एक ही हैं। **'ज्ञानेन ज्ञानमालम्ब्य'** अतः ज्ञान के द्वारा ज्ञान का आलम्बन लेकर हे योगी! 'कर्मक्षयं कुरु' तुम कर्मों का क्षय करो। जैसे कोई कहे, हे कृषक! तुम्हारे खेत में बहुत सारे झाड-झंकर व काँटे हो गए हैं। जब तक इस काँटे आदि के ढेर को अलग नहीं किया जाएगा तब तक इस खेत में खेती नहीं की जा सकती। जब तक उस खेत में पड़े कंकर-पत्थरों को दूर नहीं किया जाएगा तब तक समुचित फसल प्राप्त नहीं की जा सकती इसलिए सर्वप्रथम उन काँटों को जलाओ। कृषक ने पूछा उन काँटों को कैसे जलाऊँ? क्या उनके लिए अलग से कोई ईंधन लाऊँ? कितना ईंधन चाहिए? क्या करूँ? नहीं, ये स्वयं अग्नि बन जाएँगे, इन्हें अग्नि बनाने के लिए थोड़ी सी अग्नि की आवश्यकता है। सूखे काँटे के ढेर में एक छोटी सी अग्नि की चिंगारी डाल दो, वे स्वयं जल जाएँगे। ऐसे ही हमारी आत्मा में अज्ञानता के कांटों का, लक्कड़ का, कचरे का ढेर लगा हुआ है, इसे जलाने के लिए एक शब्द रूप चिंगारी की आवश्यकता है। उसके जलते ही अपनी आत्मा में शुद्धता प्रकट हो जाएगी, शुद्धज्ञान प्रकट हो जाएगा।

प्रत्येक भव्य आत्मामें शुद्धज्ञान शक्तिरूप से विद्यमान है, बस वह अज्ञान की परतों से ढका हुआ है। अज्ञान की परतें हटाने की आवश्यकता है, ज्ञान

स्वतः प्रकट हो जाएगा। महानुभाव! इस कारिका में आचार्य महोदय ने ज्ञान को ही आत्मा कहा है। ज्ञान और आत्मा में जो भेद किया जाता है, वह प्राथमिक शिष्यों के सम्बोधनार्थ अर्थात् विस्तार रुचि वाले मन्द बुद्धि शिष्यों को समझाने के लिए किया जाता है। आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि ज्ञान से ज्ञान का ही अवलम्बन लेना चाहिए अर्थात् रागादिक परभावों से हटकर मात्र ज्ञानानुभूति में रत रहना चाहिए। ज्ञानानुभूति ही शुद्धात्मानुभूति है, ज्ञानानुभूति ही निश्चय रत्नत्रय है। उसके अतिरिक्त समस्त विकल्प स्वयं के स्वभावभूत न होने से असत्य हैं। इसीलिए हे योगी! तुम ज्ञान के द्वारा ज्ञान का आलम्बन लेकर के अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा का आलम्बन लेकर के आत्मलीन होकर के सकल कर्मों का क्षय करो और अपनी स्वाभाविक मुक्ति अवस्था को प्राप्त करो अपने परमानन्द को प्राप्त करो। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ब्रह्मविहार का फल

गृहस्थो यदि वा लिङ्गी ब्रह्मचारी विशेषतः।
ध्यानं करोति शुद्धात्मा मुच्यते नात्र संशयः॥9॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि **(गृहस्थः)** गृहस्थ **(वा)** अथवा **(लिङ्गी)** साधु जो **(विशेषतः)** विशेषतया **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी है, वह **(ध्यानं)** ध्यान **(करोति)** करता है, तो **(शुद्धात्मा)** शुद्धात्मा बनता है, वह **(मुच्यते)** मुक्त होता है, **(अत्र)** इसमें **(संशयः)** संशय **(न)** नहीं है।

अर्थ–गृही हो अथवा निर्ग्रन्थ हो, जो विशेषतः ब्रह्मचारी है अर्थात् आत्मरमण करने वाला है, वह ध्यान करता है, तो शुद्धात्मा बन जाता है। उसके द्वारा कर्मों का समूलोच्छेद होता है, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान के संबंध में सहज-सरल बोधगम्य व्याख्याओं को हम देख रहे हैं। विगत श्लोक में आचार्य महाराज ने निर्विकल्प ध्यान की बात कही। आगे आचार्य महोदय नौवें श्लोक में बता रहे हैं कि जो ध्यान निराश्रय होता है, ज्ञान के द्वारा ज्ञान का आलम्बन लेने पर होता है वह ध्यान कर्म की निर्जरा करने वाला है, उस ध्यान को कौन कर सकता है? उस संबंध में पात्रों की बात कहते हुए संक्षेप में आचार्यवर विवरण कर रहे हैं।

अत्यन्त सरल संस्कृत का आलम्बन लेते हुए आचार्य महोदय ने अपनी बात कही। हो सकता है सरल संस्कृत का आलम्बन लेने से चित्त भी सरल

हो। जब क्लिष्ट शब्द प्रयोग किए जाते हैं तब उनके समझने में ही मन उलझ जाता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा को जब सहज रूप में बोलता है तो संभव है कि सुनने वाले के परिणाम भी सहज होते हैं। आप जिस वातावरण में हैं उस वातावरण का सहज भाव क्या है? यह जानना भी आवश्यक है। यदि कोई ग्रामीण कृषक अशुद्ध हिन्दी बोलता है और सुनने वालों को प्रिय लगती है तो वह उसकी सहज भाषा है। यदि वह शुद्ध हिन्दी बोलने लगे तो उसे औपचारिकता को निभाना पड़ता है। सुनने वाले भी उत्तर औपचारिक भाषा में ही देते हैं। गाय चराने वाला ग्वाला हिन्दी भाषा को भी इतना बिगाड़कर बोलता है कि उसकी भाषा को पशु भी समझ लें। वह स्पष्ट शब्द भी नहीं बोलता फिर भी पशु समझ लेते हैं।

यदि वह ग्वाला कहे हे प्रिय पशुओं! इधर आ जाईये, तो वह उपहास का पात्र बन जाएगा। अहो! पुण्यवान् गाय माता आओ, तो लोग उसका उपहास उड़ाएँगे। ये बात बोलना अनुचित नहीं है किन्तु वातावरण से हटकर के बोलना अनुचित हो जाता है। जो व्यक्ति शुद्ध हिन्दी बोलने वाले हैं उनके लिए अशुद्ध हिन्दी बोलना असहज होगा और शुद्ध हिन्दी से भी परिमार्जित अलंकार युक्त हिन्दी बोलना भी उसके लिए असहज होगा। असहज शब्दों को सुनने में व्यक्ति को अधिक जोर लगाना पड़ता है और सहज शब्द यदि नींद में भी सुन ले तो व्यक्ति जाग जाता है। यदि कोई सो रहा हो और उसे जगाने के लिए उसका कोई प्यार का नाम बोले तो सोते से शीघ्र जग जाता है और कोई उसके नाम को श्री अथवा जी लगाए या महिमामण्डित करके बोले तो व्यक्ति जगेगा ही नहीं, सोचेगा किसी की स्तुति की जा रही है, सोते रहो। सहज शब्दों का अर्थ समझने में व्यक्ति को मानसिक, वाचनिक या

शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है और असहज शब्दों को पहले इन्द्रियों से ग्रहण किया पुनः मन से सोचा कि इसका यह अर्थ भी हो सकता है, ज्यादा श्रम लगा। जिन शब्दों के साथ अहर्निश व्यापार चल रहा है वे शब्द कर्णगोचर होते ही उनका भाव-अर्थ तुरंत समझ में आ जाते हैं। इसी तरह आचार्य महाराज ने इतनी सरल संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है कि पढ़ते-पढ़ते ही उसका अर्थ हृदयंगम होता है और फिर चिन्तन करने बैठें तो बहुत गहराई में पहुँच सकते हैं।

महानुभाव! रास्ता सरल हो तो चढ़ने व उतरने में आसानी होती है। रास्ता कठिन हो तो चढ़ने व उतरने में कठिनाई होती है। यदि सीढ़ियाँ 1-1 फीट या डेढ़-डेढ़ फीट की हों तो उतरने वाले व्यक्ति को बहुत सावधानी का आश्रय लेना होता है और चढ़ने में भी बहुत सावधानी बरतनी होती है। इसी तरह जब अपनी क्षमता से अधिक शब्द आ जाएँ, क्लिष्ट हों या निकृष्ट हों तो व्यक्ति को उन्हें समझने में समय लगता है और उतनी विशुद्धि भी नहीं बढ़ती।

यहाँ श्लोक में कहा-**'गृहस्थो यदि वा लिङ्गी ब्रह्मचारी विशेषतः'** यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द विशेष है। ब्रह्मचर्य क्या है? आचार्य भगवन् शिवकोटि जी मुनिराज ने ब्रह्मचर्य शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है-

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचेरं विमुक्क परदेहतित्तिस्स॥

-(भगवती आराधना-878)

अर्थात् ब्रह्म शब्द को जीव कहा जाता है। उस ब्रह्म में ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापार से विरत हुए मुनिराज अनन्त पर्यायात्मक जीव के स्वरूप का अवलोकन करते हुए उसी में रमण करते हैं, वह ब्रह्मचर्य है।

आचार्य भगवन् श्री पद्मनन्दी जी महाराज ने भी लिखा है–

आत्मा ब्रह्म विविक्त बोधनिलयो यत्तत्रचर्यं परम्,
स्वाङ्गासङ्ग विवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः।
एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनी पुत्री समाः प्रेक्षते,
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्॥

–(पद्मनन्दी पंचविंशतिका–12/2)

ब्रह्म का अर्थ निर्मलज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस विविक्त आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के संबंध में भी निर्ममत्व हो चुका है, उसी के यह ब्रह्मचर्य होता है। ऐसा होने पर वह इंद्रियजयी होकर वृद्धा आदि सभी स्त्रियों को अपनी माता, पुत्री व बहन के समान समझता है।

ब्रह्म में जिसकी निष्ठा होती है ऐसे जीव के लिए बाह्यलिङ्ग विशेष महत्त्व नहीं रखते इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने कहा चाहे वह गृहस्थ हो या साधक हो किन्तु वह ब्रह्मचारी जरूर हो। जो भव्यजीव अपने ब्रह्म में चर्या करता है, अपनी आत्मा में चर्या करता है, चाहे अभी वह गृहस्थ जीवन में रह रहा है या साधु बन गया। अपनी ब्रह्म में चर्या करने वाला यदि शुद्ध आत्मा का चिंतवन करता है, सविकल्प ध्यान करता है, भावना–अनुभावना भाता है या निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाता है, तब ऐसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला साधु व गृहस्थ नियम से कर्मबन्धन से छूट जाता है, इसमें संशय नहीं है।

विशेषण देखना जरूरी था। पहला विशेषण दिया ब्रह्मचारी होना, दूसरा कहा **'ध्यानं करोति शुद्धात्मा'** शुद्धात्मा का ध्यान करना। अकेला ये नहीं

कहा 'ध्यानं करोति' अपितु कहा वह शुद्धात्मा का ध्यान करता है। पहला यदि वह ब्रह्म का पालन नहीं करता है तो जितना भी धर्मध्यान के माध्यम से पुण्य कमाएगा उससे स्वर्गादि का वैभव तो प्राप्त कर लेगा किन्तु मोक्ष नहीं जाएगा। साधु भी यदि ब्रह्म का शुद्ध पालन नहीं करेगा तो पुण्य का आस्रव करके प्रचुर भोगों को प्राप्त कर सकता है और श्रावक भी यदि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करेगा तो निदान और आकांक्षा के माध्यम से वैभव प्राप्त करेगा।

ब्रह्म में चर्या करने से आशय क्या है? केवल शरीर से ब्रह्म का त्याग कर दिया तो क्या ब्रह्म में चर्या हो गई? मन में यदि विषय-कषायों की आँधी आ रही हो, चित्त रूपी सरोवर में विषयों की लहरें उठ रही हों, विषयाग्नि से इतना धुँआ निकल रहा हो जिससे उसका चित्त ही दूषित हो रहा हो तो केवल शरीर से त्याग करने से क्या ब्रह्मचारी हो गया? काय ब्रह्मचारी कह सकते हैं, यदि वचनों से अब्रह्म संबंधी शब्द नहीं बोल रहा तो वाचनिक ब्रह्मचारी मान लो और यदि मन में भी अब्रह्म का चिंतन नहीं करता है तो मानसिक ब्रह्मचारी मान लो। चित्त को चित्त में लीन कर देने वाला आत्मिक ब्रह्मचारी हो गया।

यदि कोई व्यक्ति शरीर से व वचनों से ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, मन से नहीं कर रहा है, तो मन से भी इतना अब्रह्म जनित पाप हो सकता है कि उस पाप को धोने में वाचनिक व कायिक ब्रह्मचर्य समर्थ नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन मनसा भी करना चाहिए। ऐसा नहीं कि मन को कौन देख रहा, वचनों से कहे कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ, आज तक मैंने किसी स्त्रीमात्र को छुआ तक नहीं, यदि भूल से कभी छू भी गया तो कायोत्सर्ग करता हूँ, माला फेरता हूँ। शरीर से छुल जाने पर उपवास, माला, कायोत्सर्ग करना अच्छी बात है किन्तु अपने मन से पूछ लेना कि मन कितनी

बार उसमें रमण करता रहा। कहीं ऐसा तो नहीं कि दुनिया को धोखा देने के लिए बाहर से व्रत ले लिया हो।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तभी मन ध्यान में एकाग्र हो पाता है। यदि मन पुद्‌गलों के चक्कर काट रहा है, चाहे रोटी के चक्कर काटे, चाहे नोटों के चक्कर काटे, चाहे अन्य किसी स्वजन-परजन का चक्कर काट रहा है या चल-अचल सम्पत्ति के चक्कर काट रहा है अथवा चलचित्र देखने के लिए मन वहीं बार-बार जा रहा है तो यह मन की चंचलता दोष है। जब तक मन एकाग्र नहीं होगा तब तक शुभध्यान नहीं हो पाएगा। इसलिए कहा ब्रह्म में चर्या करना।

दूसरा विशेषण कहा–शुद्धात्मा का ध्यान करना। शंका–शुद्धात्मा का ध्यान करने से क्या होगा, अभी तो हम अशुद्ध हैं? समाधान–यह होगा कि आपमें अभी से यह संस्कार पड़ जाएँगे कि मुझे शुद्धात्मा बनना है। व्यक्ति जैसा सोचता है वैसा हो जाता है और जैसा सोचता है वैसे स्वप्न भी आने लगते हैं, स्वप्न आने लगते हैं तो वे स्वप्न साकार भी होने लगते हैं। जो भी शुभाशुभ व्यक्ति को मिलता है उससे पूर्व उसका आभास या स्वप्न या किसी निमित्त से परिज्ञान जरूर होने लगता है। गृहस्थ हो या यति, यदि वह सविकल्प ध्यान करता है तो परम्परा से और निर्विकल्प ध्यान करता हुआ धर्मध्यान से शुक्लध्यान में पहुँचता है तो कर्मों से मुक्त हो जाता है, 'न अत्र संशयः' इसमें कोई संशय नहीं है।

वह इसमें संशय न करे कि मैं मोक्ष जाऊँगा या नहीं जाऊँगा, मेरा कल्याण होगा या नहीं। अनन्त जीव कर्मों से छूटे हैं, छूटे थे और आगे भी छूटेंगे। इसमें आपका भी नंबर है। आप भी अपनी आत्मा से कहो, हे आत्मन्!

आगामी समय में तेरा नंबर भी मोक्षगामी जीवों में है। मुझे विश्वास है और मुझे आभास होता है, जैसे किसी केवली ने मुझसे कहा हो कि तू भव्यजीव है, इतने भवों में तू मोक्ष चला जाएगा। आत्मा से आत्मा जब कहे, आत्मा की आत्मा जब सुने तो बात अकाट्य होती है, वह खण्डित नहीं होती।

महानुभाव! गृहस्थ किसे कहते हैं? शब्द के माध्यम से यह अर्थ ध्वनित हो रहा है कि जो घर में रहता है वह गृहस्थ है। गृह क्या है? जिसमें गृहिणी हो अथवा जिसमें गृहिणी के साथ रहता हो वह गृह है। यदि किसी भवन में त्यागी- व्रती मुनिराज ठहरे हुए हैं उन्हें गृहस्थ नहीं कहेंगे। गृहस्थ तो उसे ही कहा जाता है जो अपनी गृहिणी के साथ, परिवार-बच्चों के साथ रहता है। गृहिणी के साथ रहने से गृहस्थ कहलाता है। गृहिणी भले ही कुछ दिन के लिए अपने मायके चली गई तो भी उसके हृदय में तो आज भी वह बैठी है। गृहिणी है, तो वह गृहस्थ हो गया।

अब दूसरी व्याख्या देखें 'गृहस्थो' गृहिणी के साथ तो रह रहा है किन्तु फिर भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा है। गृहस्थ जीवन में भी श्रावक दस प्रतिमाओं का पालन करता हुआ रह सकता है। पति व पत्नी दोनों साथ-साथ रह सकते हैं, किन्तु अब पति-पत्नी के रूप में नहीं, सात प्रतिमा होते ही वे साधर्मी भाई-बन्धु हो गए, भाई-बहिन की तरह से रह सकते हैं। वे धर्मध्यान करते हैं, तीन बार सामायिक करते हैं, भगवान की भक्ति-पूजा करते हैं, गुरुवंदना करते हैं। निर्विकल्प ध्यान तो साधु के ही होता है, किन्तु यहाँ पर गृहस्थों को सविकल्प धर्मध्यान होता है। यहाँ पर आर्त्त-रौद्रध्यान की बात नहीं है।

'परे मोक्ष हेतु' अंतिम दो धर्मध्यान व शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु हैं। ऐसा नहीं कह सकते कि सिर्फ शुक्लध्यान ही मोक्ष का हेतु है, धर्मध्यान नहीं। धर्मध्यान मोक्ष का हेतु है किन्तु परम्परागत हेतु है। शुक्लध्यान साक्षात हेतु

है। माना कोई हवाईयात्रा के माध्यम से एक देश से दूसरे देश या एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त जाना चाहता है। किन्तु Airport तक पहुँचने के लिए गाड़ी का प्रयोग किया तो गाड़ी भी उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने में कारण है। साक्षात कारण नहीं है, परम्परागत कारण है। ऐसे ही धर्मध्यान शुक्लध्यान तक पहुँचाने में कारण है।जिस प्रकार बिना गाड़ी के Airport तक नहीं पहुँच सकते उसी प्रकार बिना धर्मध्यान के किसी भी क्षेत्र व काल में संसार का कोई भी व्यक्ति शुक्लध्यान को प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ कह रहे हैं धर्मध्यान मोक्ष का परम्परा से कारण है। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय व संस्थान विचय ये चार धर्मध्यान के भेद कहे। इसके अतिरिक्त दस भेद और भी कहे। आज्ञाविचय धर्मध्यान अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की जैसी भी आज्ञा हो उसका पालन करना, न केवल सुनना वरन् आत्मसात् करना, उसे चित्त में धारण करना। भगवान ने भगवान का स्वरूप वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता बताया है, वह आज्ञा मानना। भले ही आप नहीं जानते कि वीतरागता क्या है। जिनवाणी का स्वरूप जैसा बताया है कि आप्त द्वारा कथित, गणधर द्वारा संग्रहित, मुनियों द्वारा लिखित उसका वैसा श्रद्धान करना। साधु का स्वरूप बताया है–जो विषय-आशा परिग्रह से रहित हों, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हों, जो 28 मूलगुणों व चौंतीस उत्तरगुणों का यथाशक्ति पालन करते हैं, अपने संयम को अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार से बचाने का प्रयास करते हैं, उन साधु परमेष्ठी पर श्रद्धा करना। धर्म का स्वरूप जो भगवान ने बताया उसे मानना अथवा जहाँ मेरा जिस प्रकार का कर्त्तव्य हो उसका पालन करना। चाहे वह गृहस्थ हो चाहे साधक; ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन कर रहा है तब वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और शुद्धात्मा का ध्यान करने वाला व्यक्ति निःसंदेह कर्मों के बंध

से मुक्त हो जाता है। **'न अत्र अपि किञ्चित् संशयः'** इस भगवान की वाणी में किंचित् भी संशय नहीं है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय के आशय को समझना आवश्यक है। गृहस्थ राग के सद्भाव में शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ध्यान में परिणत हो जाता है, ऐसा आचार्यों का मत है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने प्रवचनसार में कहा कि अर्हन्तादि की भक्ति से सम्पन्न हुआ जीव कथंचित् शुद्धसम्प्रयोग वाला होता हुआ भी राग का अंश जीवित होने के कारण शुभोपयोग को न छोड़ता हुआ बहुत पुण्य को बांधता है, परन्तु वह वास्तव में सकल कर्मों का क्षय नहीं करता।

यति आत्मध्यान के बल से तत्काल सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। गृहस्थ के लिए इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर पाना संभव नहीं है। वह परम्परा से कर्मों का विनाश करता है। उसका कर्मनाश होना निश्चित है अतः द्रव्य निक्षेप से श्लोक में उसका उल्लेख है।

महानुभाव! आचार्य महोदय की इस कारिका का संक्षेप में यही आशय है कि वह गृहस्थ हो या यति यदि 'ब्रह्म' में उसकी निष्ठा है तो वह आत्मश्रद्धा के माध्यम से अपनी शक्ति को विकसित करता है तथा मुनिपद को धारण करके आत्मरमण का पात्र बनता है। समस्त कर्मों का उच्चाटन करके अवश्य सिद्धात्मा बन जाता है। आप भी उस ब्रह्मचर्य की निष्ठा को प्राप्त होवें, आत्म रमण की पात्रता हासिल करें, इन्हीं शब्दों के साथ.....

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

क्लेश का मूल कारण

पदार्था अन्यथा लोके, शास्त्रं स्यादिदमन्यथा।
अन्यथा मोक्षमार्गश्च, लोकः क्लिश्यति चान्यथा॥10॥

अन्वयार्थ–(लोके) लोक में **(पदार्थाः)** पदार्थ **(अन्यथा)** अन्यथा हैं **(इदं)** यह **(शास्त्रं)** शास्त्र **(अन्यथा)** अन्यथा **(स्यात्)** है **(च)** और **(मोक्षमार्गः)** मोक्षमार्ग **(अन्यथा)** अन्यथा है **(च)** और **(लोकः)** लोक **(अन्यथा)** अन्यथा **(क्लिश्यति)** क्लेश उठा रहा है।

अर्थ–लोक में पदार्थ अन्यथा हैं, यह शास्त्र अन्यथा है, मोक्षमार्ग अन्यथा है और यह जीव व्यर्थ ही क्लेश उठा रहा है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत दसवें श्लोक में आचार्य महोदय ने संसार की दशा को देखकर बात कही कि संसार में क्या है। तो चार बातें बताई–पहली बात **'पदार्था अन्यथा लोके'** लोक में देखा जाता है कि पदार्थ का स्वरूप कुछ और है और व्यक्ति मानता कुछ और है। जैसे व्यक्ति इन्द्रिय से पदार्थों का सेवन करने से पहले इस धारणा, कल्पना, विश्वास में जीता है कि इससे मुझे सुख मिलेगा किन्तु भोगने के उपरान्त उसे दुःख मिलता है। चाहे किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से पदार्थ का सेवन करे, लगता है सुख मिलेगा किन्तु भोगोपभोग छूट जाता है तो दुःख ही प्रतीत होता है। व्यक्ति धन संचय से पूर्व सोचता है कि मुझे सुख मिलेगा, किन्तु अरेऽऽ हम सोचते थे कि अमीर व्यक्ति सुखी होते होंगे किन्तु अमीर व्यक्ति तो गरीब व्यक्ति से भी ज्यादा दुःखी है। हम जब गरीबी में थे तो ज्यादा सुखी थे, दो घंटे सुबह–दो

घंटे शाम को मंदिर में लगाते थे, बारह घंटे काम में समय लगाते थे तब भी चैन की खाते थे, अब हमने झंझट पाल लिया, दुकान, फैक्ट्री, गोदाम सब खोल रखे हैं, खूब कमा रहे हैं, धन तो आ रहा है पर सुख-शान्ति चली गई।

संसार में जो भी पदार्थ हैं वह भ्रम है। कैसा भ्रम है? जैसे मृग मरीचिका होती है। नदी में बालू भरी है, तेज धूप से वह बालू चमक रही है। व्यक्ति दूर से देखता है तो समझता है वह पानी की लहर है, कहीं सीप पड़ी है तो कहता है कि अभी जो यहाँ से व्यापारी गए थे उनकी चाँदी गिर गई है, कहीं पीतल हो तो सोना दिखाई देता है। इस प्रकार यह लोक भ्रम में जीता है। यदि लोक का भ्रम दूर हो जाए तो जीव संसार में रह नहीं सकता। भ्रम का परदा डाले बिना यह जीव संसार में परिभ्रमण नहीं कर सकता। जैसे पंखा चलता है तो एक सर्कल सा दिखता है, क्या वास्तव में वह गोल है? नहीं, पंखे में तीन पांखुड़ी हैं किन्तु चलते समय दिखती नहीं। ऐसे ही जब स्वप्न देखते हैं तो लगता है हम साक्षात बोल रहे हैं, चल रहे हैं, सब व्यवहार कर रहे हैं, स्वप्न में सब कुछ सही लगता है, किन्तु आँख खोलने पर सत्य-असत्य का परिज्ञान हो जाता है। ऐसे ही यह संसार स्वप्नवत् है। ओसबिन्दु तिनके पर दूर से मोती सा चमकता प्रतीत होता है लेकिन क्या वास्तव में वे मोती है? नहीं।

किसी से पूछा आत्मा के क्या हाल-चाल हैं। उसने कहा- भाई मस्त हूँ, मेरे चेहरे की चमक, शरीर की पुष्टता क्या तुम्हें नजर नहीं आती। तो क्या वह चेहरा आत्मा है? नहीं, आत्मा तो अलग है, किन्तु लोग तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। तो **'पदार्था अन्यथा लोके'** संसार में पदार्थ का स्वरूप जो है वह अन्यथा माना जा रहा है क्योंकि जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इन सम्यक् पदार्थों को जाने बिना नाना मतावलम्बी नाना प्रकार के पदार्थ स्वरूप को स्वीकार करते हैं। वे मूढ़, वस्तु के सत्स्वभाव को जान ही नहीं पाते। अनेकान्त के राजपथ से

अत्यन्त दूर एकान्त के कुपथ पर गमन करते हुए वे सभी क्लेश के भाजन (पात्र) बनते हैं।

यह संसारी जीव आस्रव व बंध को सुख का कारण मानते हैं और संवर-निर्जरा के कारण को दु:ख का कारण मान रहे हैं। आप छहढाला में पढते भी हैं।

आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखें आपको कष्टदान।

आगे कहा-**'शास्त्रं स्यादिदमन्यथा'** संसार में जो शास्त्र हैं उनको भी अन्यथा लिया जा रहा है। यदि आध्यात्मिक ग्रन्थ की, धर्म की चर्चा की जाए तो एक श्रोता भी मिलना बड़ी बात है। उस एक श्रोता को भी आत्मिक ज्ञान दें तो पचा नहीं पाएगा, दस्त हो जाएँगे, दूसरे दिन से आ नहीं पाएगा। इसलिए उसे भी व्यवहार का बताशा दिया जाता है, उस व्यवहार के बताशे में निश्चय का पुट दिया जाता है अन्यथा वह पचा नहीं पाएगा। यह पारा है पेट को फाड़कर बाहर निकल जाएगा इसलिए पारे को शुद्ध करके सर्वप्रथम इसकी भस्म बनाओ, उसको जलाओ, उसकी शक्ति कम करो, फिर धीमे-धीमे चाहे मलाई में, चाशनी में, लड्डू में, दूध में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मिलाकर दो तभी पचा पाएगा। ऐसे ही यदि आध्यात्मिक शुद्ध उपदेश दें तो व्यक्ति सुन नहीं पाएगा इसलिए आज जिस सभा में थोड़े चुटकुले सुना दिए, दो चार बातें ऐसी कही जिससे लोगों ने ताली बजा दी, किसी की प्रशंसा कर दी, किसी की निन्दा कर दी, कभी हँसा दिया तो लोग कहते हैं वाह! बड़ा अच्छा उपदेश दिया, बड़ा आनन्द आ गया, एक क्षण भी पलक नहीं झपकी। हाँ, क्यों झपकेगी, जब हा हा, ही ही, हू-हू करेंगे तो ऐसा क्यों होगा। और आध्यात्मिक उपदेश देने में सिर में खुजली मचने लगती है या फिर नींद आ जाएगी या उठकर ही चले जाएँगे। क्योंकि आप लोगों को अनादिकाल के संस्कार होने के कारण सत्य-शुद्धशास्त्र की जो बातें हैं वे सीधी-सीधी पचती नहीं।

आपको एक कटोरी शुद्ध घी भी गर्म करके पिलाया जाए तो पी नहीं पाओगे। यदि 2-3 चम्मच घी खाते भी हो तो आटे में डालकर या रोटी में चुपड़कर खा पाते हो या पूड़ी आदि व्यंजनों में खा पाते हो। ऐसे ही नहीं खा पाओगे, उसके साथ कोई न कोई चीज खाओगे किंतु शुद्ध नहीं खा पाओगे। यदि 100 ग्राम भी खाया तो लगता है कहीं उल्टी न हो जाए, ऐसे ही शुद्ध शास्त्र का ज्ञान सीधा-सीधा पचता नहीं। अतः यहाँ कहा-शास्त्र वास्तव में कुछ और है और लोक में कुछ और प्रकार से माना जाता है।

आचार्य भगवन् अमितगति स्वामीजी ने कहा-

विहायवाक्यं जिनचंद्रदिष्टं, परं न पीयूषमिहास्ति किंचित्।
मिथ्यादृशां वाक्यमपास्यनूनं, पश्यामि नो किंचित्कालकूटम्।।92।।

-(अमितगति श्रावकाचार-परिच्छेद-13)

जिनेन्द्रकथित वाक्य को छोड़कर मैं जगत् में किसी अन्य अमृत को नहीं देखता हूँ और मिथ्यादृष्टियों के वचन को छोड़कर अन्य किसी कालकूट विष को नहीं देखता अर्थात् सच्चे देव द्वारा कथित वचन ही अमृत हैं और मिथ्यादृष्टियों के वचन ही विष हैं।

आचार्य श्री माणिक्यनन्दी जी लिखते हैं-

'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः'। आप्त के वचनादि के निमित्त से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को आगम कहते हैं।

महानुभाव! आप्त द्वारा कथित आगम ही शास्त्र हैं, उन शास्त्रों के माध्यम से सूक्ष्म और स्थूल समस्त प्रकार के पदार्थों की सिद्धि सम्यक् प्रकार से हुआ करती है। वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होते तथा विषय रूपी विष का उच्चाटन करने में समर्थ होते हैं।

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामीजी ने कहा है–

आप्तोपज्ञ-मनुल्लङ्घ्य मदृष्टेष्ट विरोधकम्।
तत्त्वोपदेश-कृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्।। (र.श्रा.-9)

इस श्लोक के माध्यम से शास्त्र के लिए छह अनिवार्य पहलुओं का वर्णन किया गया है। शास्त्र कैसा होना चाहिए?

1. आप्त के द्वारा कथित हो।
2. अनुल्लंघ्य हो।
3. अदृष्टेष्टाविरोधी हो।
4. तत्त्वोपदेश को करने वाला हो।
5. सर्वहितकारी हो।
6. कापथपरिहारी हो अर्थात् कुपथ को विनष्ट करने वाला हो।

परन्तु लोक में शास्त्रों की विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। कई लोग वेद को अपौरुषेय मानते हैं। कई लोग सुरापान व अभिसारादि मनगढंत क्रियाओं अथवा कथाओं के संग्रह को ग्रन्थ मानते हैं। कई लोग हिंसादि पोषण करने वाले, विषय-कषायों का वर्द्धन करने वाले, अन्धश्रद्धा का विकास करने वाले तथा कुमार्ग पर ले जाने वाले कल्पित ग्रन्थों को शास्त्र मानकर वृथा ही दु:ख का उपार्जन कर रहे हैं। कुछ लोग एकान्तवाद से दूषित शास्त्र को ग्रन्थ मानकर पूज रहे हैं।

अगली बात कही **'अन्यथा मोक्षमार्गश्च'** संसार में मोक्षमार्ग को भी अन्यथा माना जा रहा है; जबकि वीतरागता का मार्ग, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मार्ग मोक्ष का मार्ग है। तत्त्वानुशासन में आचार्य भगवन् ने कहा है–

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः।
मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः॥3॥

अर्थात् भव्यजीवों के मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों के समूह रूप है, जो युक्ति और आगम से अच्छी तरह निश्चित है। जिस प्रकार औषध के श्रद्धान, यथार्थज्ञान और विधिपूर्वक सेवन करने से रोग का नाश होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि तीनों के मिलने से ही मोक्ष होता है। इस युक्ति से तथा 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा आगम से भी सुनिश्चित है। इसीलिए इसके अतिरिक्त न कोई मोक्षमार्ग था, न है और न कभी होगा।

एक सेठजी प्रतिदिन मंदिरजी जाते थे और पूजा-पाठ करके भगवान से कहते, भगवान जी! मुझे मोक्ष दे दो, अपना पूरा माथा भगवान के चरणों में, अपना पूरा पसीना भगवान के चरणों में, घिस-घिर कर चरण ही छोटे रह गए। एक दिन किसी व्यंतर देव ने उनकी बात सुनी और वहाँ आ गया। विक्रिया से वहाँ छिपकर बैठ गया और आवाज करने लगा, हाँ सेठ! भगवान तेरी भक्ति से बहुत खुश हो गए हैं, तुझे मोक्ष देना चाहते हैं कि उनका आदेश है, मैं तुझे मोक्ष दूँगा। वह सेठ बड़ा खुश हुआ-वाह! वाह! मेरी भक्ति स्वीकार हो गई। मुझे कब मोक्ष मिलेगा? देव ने कहा-आज, अभी, इसी समय मिलेगा। तो दे दो। देख मोक्ष तो तुझे दो मिनट में प्राप्त होगा किन्तु इससे पहले एक मिनट में तेरी पत्नी मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी, पुत्र-भाई-बंधु सभी अभी मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे, तेरी सम्पत्ति का एक भी कण नहीं बचेगा, सब जलकर राख हो जाएगा। तेरा शरीर अभी क्षण भर में जर्जर-जीर्ण-शीर्ण हो जाएगा। सेठ जी चिल्लाने लगे, क्या बकवाद करते हो, ऐसा कहीं मोक्ष होता है क्या? अरे! जिस मोक्ष में मेरी पत्नी मर जाए, परिवार नष्ट हो जाए,

धन–सम्पत्ति विलग हो जाए, मेरा शरीर ही नष्ट हो जाए, ऐसा मोक्ष मुझे नहीं चाहिए, जा भग यहाँ से।

महानुभाव! आप मोक्ष भी ऐसा चाहते हो जिसमें बीबी–बच्चे साथ में रहें। संसार में संसारी प्राणी मोक्ष का ऐसा स्वरूप चाहते हैं। किन्तु यथार्थ मोक्ष तो वही है जिसमें आत्मा शरीर के पार हो जाती है, देहातीत हो जाती है। इस लोक में मोक्ष का स्वरूप अन्यथा है।

मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - सम्यक् चारित्रमय है। जब तीनों एक आत्म- स्वरूप बन जाते हैं, तब कर्मों का विनाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है, परन्तु आप्तप्रणीत इस मोक्षमार्ग को अज्ञानी जीव स्वीकार नहीं करता, अपने अज्ञान के वश हुआ वह दुर्बुद्धि मनमाने मार्ग को मोक्षमार्ग मानता है। यथा–

1. कोई मात्र भक्ति को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
2. कोई मात्र ज्ञान को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
3. कोई मात्र क्रिया को ही मोक्षमार्ग मानते हैं।
4. कोई भक्ति और ज्ञान को मोक्षमार्ग मानते हैं।
5. कोई ज्ञान और क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।
6. कोई भक्ति और क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।
7. कोई निरपेक्ष भक्ति, ज्ञान और क्रिया को मोक्षमार्ग मानते हैं।

आचार्यश्री अकलंकदेव जी महाराज लिखते हैं–

तीनों की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे–रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें रसायनश्रद्धान और रसायनक्रिया का अभाव है। यदि किसी ने रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल (आरोग्य) देखा हो तो बतावें? परन्तु, रसायन के

ज्ञानमात्र से आरोग्यफल नहीं मिलता। न रसायन की क्रियामात्र से रोगनिवृत्ति होती है, क्योंकि इसमें रसायन के आरोग्यता गुण का श्रद्धान और ज्ञान का अभाव है तथा ज्ञानपूर्वक रसायन का सेवन किए बिना केवल श्रद्धामात्र से भी आरोग्यता नहीं मिल सकती। इसीलिए पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका विधिवत् सेवन आवश्यक है। जिस प्रकार यह विवाद रहित है, उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में सिर्फ ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्ग के ज्ञान और तदनुरूप क्रिया के अभाव में केवल श्रद्धान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान और श्रद्धान से शून्य क्रियामात्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान और श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल होती है। मोक्षमार्ग का स्वरूप न जानने से यह जीव क्लेशित हो रहा है।

इसी आशय का श्लोक आचार्यश्री ब्रह्मदेव जी महाराज ने भी उद्धृत किया है। यथा–

अन्यथा वेदपाण्डित्यं, शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा।
अन्यथा परमं तत्त्वं, लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा।।

अर्थात् वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही हैं तथा ज्ञान की पण्डिताई कुछ और ही है, परमतत्त्व कुछ भिन्न ही है, लोग अन्य मार्गों में लगे हुए हैं। अतः दुःख उठा रहे हैं।

सम्यक् प्रकार से तत्त्वमर्यादा को जानकर उस पर यथार्थ श्रद्धान करने से ही आत्मकल्याण सम्भव है।

महानुभाव! आगे कहा–**'लोकः क्लिश्यति चान्यथा'** यह लोक अन्य प्रकार से क्लेश को उठा रहा है। जो क्लेश का कारण हैं उन्हें तो समझ नहीं पा रहा और जो सुख के कारण हैं उनमें ही क्लेश मान रहा है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने समीप में, अपने अधिकार क्षेत्र में, अपने ही हिस्से के हीरे–मोती–रत्न का ढेर लगा हुआ है, उस ओर दृष्टि न करके रत्ती, तोला, पाई भर भूसे के पीछे लड़ रहा हो, वह व्यक्ति बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही जो क्लेश का कारण है उसकी बात न करके वरन् जो क्लेश का कारण नहीं है उस पर जो क्लेश कर रहे हैं वह भी बुद्धिमान नहीं हैं। अरे! यदि तुम्हारी चेतना की निधि को कोई लूट ले तो इस बात पर आपका झगड़ना ठीक भी प्रतीत होता है किन्तु पुद्गल, जो न कभी तुम्हारा था, न है, न हो सकेगा, न सामने वाले का था, न है, न हो सकेगा, उस पुद्गल के पीछे व्यक्ति आर्त्त–रौद्रध्यान कर रहा है, पापों का संचय कर रहा है। बड़ी आश्चर्य की बात है। जैसे जोंक गाय के स्तन पर लगकर भी खून चूसती है दूध नहीं, ऐसे ही संसारी प्राणी सुख का अनुभव कर सकते हैं पर कर नहीं रहे, उसमें भी दुःख खोज रहे हैं। इस प्रकार इस कारिका का संक्षेप में अर्थ हुआ। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

सिद्धों का ध्यान

वर्णातीतं कलातीतं गन्धातीतं विनिर्दिशेत्।
पूर्व द्वन्दविनिर्मुक्तं ध्यायेदर्हत्सदा शिवम्।11॥

अन्वयार्थ–(वर्णातीतं) वर्ण से अतीत **(कलातीतं)** शरीर से अतीत **(गंधातीतं)** गंध से अतीत **(विनिर्दिशेत्)** जानना चाहिए। **(द्वन्द विनिर्मुक्तम्)** द्वन्दों से मुक्त **(अर्हत्)** पूज्य **(शिवम्)** सिद्धों को **(सदा)** सदैव **(पूर्वम्)** पहले **(ध्यायेत्)** ध्याना चाहिए।

अर्थ–वर्णातीत, देहातीत, गंधातीत, सर्वप्रकार के द्वंदों से मुक्त पूज्य सिद्धों का हमेशा सर्वप्रथम ध्यान करना चाहिए।

व्याख्या–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान से संबंधित व्याख्यान देख रहे हैं। आचार्य भगवन् की गूढ़ कारिका और उनका सरल अर्थ हृदयंगम करने लायक है। इसके माध्यम से चेतना के तलस्पर्शी स्वरूप का बोध सहज होता है। इतनी सहज सुबोध व्याख्याएँ हैं जिन्हें सुनते-सुनते स्वतः ही आत्मध्यान की प्रेरणा प्राप्त होती है। वर्तमान में आप Motivational Speech सुनते हैं, जिनके माध्यम से लौकिक कार्यों की प्रेरणा प्राप्त होती है। ऐसे ही आचार्य महोदय की ये कारिकाएँ आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के लिए प्रकाश स्तंभ तो हैं ही, प्रेरक निमित्त भी हैं।

जब विद्यार्थी देखता है कि यह सरल विषय है और छोटे-छोटे विद्यार्थी भी इस विषय को हल करने में समर्थ हो रहे हैं तो बड़े विद्यार्थी भी उत्साह

के साथ आगे आते हैं। और जब ये लगता है कि विषय क्लिष्ट है तो फिर कक्षा में बैठे विद्यार्थी इधर-उधर देखने लगते हैं, सिर खुजाने लगते हैं। यदि आचार्य महोदय यहाँ पर क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते, उच्चकोटि के दुर्लभतम ऐसे शब्दों का प्रयोग करते जिनका अर्थ विरले व्यक्ति ही समझ पाएँ तो फिर ये कारिकाएँ अंगुली पर गिनने लायक चंद व्यक्तियों के लिए ही होती। जैसे अति गरिष्ट, चक्रवर्ती के खाने योग्य लड्डू हर व्यक्ति खा नहीं सकता, पचा नहीं सकता अथवा वर्तमानकाल में भी dry fruits के लड्डू वा घृत में सने पकवान आदि हर व्यक्ति पचा नहीं सकता। खाने की लालसा भले ही बहुत से व्यक्तियों के चित्त में पैदा हो जाए पर पचाने की सामर्थ्य सबकी नहीं होती। ऐसे ही जो दुरूह शब्द होते हैं, जिनका अर्थ दुर्गम्य होता है, ऐसे शब्दों को पढ़ने में भी आनन्द नहीं आता। संस्कृत में भी क्लिष्ट भाषा होती है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मख्याति नाम की टीका है, वह अपने आप में इतनी क्लिष्ट है कि हर व्यक्ति उसके अर्थ को सहज में समझ नहीं पाता इसलिए तो आचार्य जयसेन स्वामी जी ने तात्पर्यवृत्ति नाम की दूसरी टीका लिखी।

यशस्तिलक चम्पू आदि महाकाव्य में एक-एक वाक्य एक-एक, डेढ़-डेढ़ पृष्ठ के हैं। उसका अर्थ निकालना बड़ा कठिन है। काव्य की भाषा है, दुरूह हो सकती है, किन्तु ये भाषा इतनी सरल है कि सर्व हितैषी बन सके। गरिष्ट भोजन हर व्यक्ति नहीं खा सकता किन्तु हलवा तो छोटे बालक से लेकर के वृद्ध तक हर व्यक्ति खा सकता है। कदाचित् कोई घी नहीं पचा पा रहा हो पर दूध तो हर व्यक्ति पचा सकता है। उस दूध को चबाने के लिए दाँतों की भी आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही जो बहुजन उपयोगी-बहुजनहिताय सूत्र होते हैं उनसे निःसंदेह बहुत जनों का कल्याण होता है।

मध्यम प्रज्ञा वाले त्यागीव्रती, विद्वतगण एवं विदुषी माताओं-साध्वियों की संख्या अधिक होती है, उच्चकोटि वाले कम होते हैं और निम्नतर जघन्य

कोटि वाले भी कम होते हैं। स्कूल में ऐसे विद्यार्थी कम होते हैं जो 100 में से 100 अंक प्राप्त कर सकें, ऐसे भी बहुत कम होते हैं जो 100 में से शून्य अंक प्राप्त करें। 100 में से 50 तक अंक प्राप्त करने वालों की संख्या कुछ है। सर्वाधिक संख्या है 51 से-98 तक अंक प्राप्त करने वालों की। मध्यम ज्ञान के माध्यम से जो व्याख्याएँ होती हैं वे बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय होती हैं।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महाराज सरल बोधगम्य भाषा में बता रहे हैं कि जिस शुद्धात्म का ध्यान करने की बात कही, वह शुद्धात्मा आखिर है कैसी? क्या स्वरूप है उसका? यदि शुकपाठ की तरह से कहे शुद्धात्मा-शुद्धात्मा, शुद्धात्मा-शुद्धात्मा तो क्या शुद्धात्मा का ध्यान हो जाएगा? पानी-पानी कहने से क्या प्यास बुझ जाएगी, लड्डू-लड्डू कहने से मुख मीठा होता है क्या? नहीं होता। जिस वस्तु को प्राप्त करने का जो सही तरीका है उस विधि से प्राप्त करते हैं तो वह वस्तु प्राप्त होती है। नीतिकारों ने ठीक ही लिखा है-

लड्डू-लड्डू बोलते, जीभ न चखे मिठास,
पानी-पानी बोलते, किसकी बुझती प्यास।
जीवन सारा खो दिया ग्रन्थ पठंत-पठंत,
तोता मैना की तरह नाम रटंत-रटंत।।

आत्मा की प्राप्ति का उपाय आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी जी ने अध्यात्म अमृत कलश में बताया। उन्होंने कहा-छह महीने अपने शरीर को पड़ौसी मानकर मेरे पास ठहर जाओ। छह महीने इस आत्मा के बारे में सुनो, चित्त को स्थिर करके आत्मा के स्वभाव को जानो। यदि तुझे आत्मा की अनुभूति न हो तब कहना। जब शरीर को ही पड़ौसी समझ लेगा तो इस शरीर के जन्मदाता माता-पिता को क्या मानेगा? पड़ौसी के मकान का निर्माण करने

वाला। जब पड़ौसी ही तुम्हारा नहीं है तो पड़ौसी का मकान किसने बनाया, मित्र ने बनाया या किसी अन्य परिजन-पुरजन ने, इससे क्या फर्क पड़ रहा है। जब मकान से ही कोई प्रयोजन नहीं है तो उस मकान की रक्षा करने वाले से भी कोई प्रयोजन नहीं है।

षट्मास का समय तो लगेगा। क्योंकि अभ्यास जरूरी है। हर चीज की ट्रेनिंग होती है, सबकी ट्रेनिंग अलग-अलग होती है। डॉक्टर बना तो ट्रेनिंग अलग है, इंजीनियर बना तो ट्रेनिंग अलग या ड्राइवर बना तो पहले LD Learning Driving Licence दिया जाता है, वो भी ट्रेनिंग है। सभी क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकार की ट्रेनिंग अवश्य ही दी जाती है। यहाँ तक कि एक किसान का बेटा भी अपने पिताजी या दादाजी के साथ खेत पर जाकर हल जोत रहा है या अन्य सिंचाई, निराई-गुड़ाई आदि कार्य कर रहा है। जब ये सब ट्रेनिंग उस विषय में दक्ष व्यक्ति के द्वारा दी जाती हैं तो आत्मा के ध्यान की ट्रेनिंग भी उसी व्यक्ति के द्वारा देना उचित है जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया है, उसका अनुभव प्राप्त कर लिया है, वही सही प्रशिक्षण दे सकता है। यहाँ आचार्य महोदय आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

'वर्णातीतं' आत्मा का कोई वर्ण नहीं है। कुछ लोग कहते हैं आत्मा श्वेत रंग की है। कुछ कहते हैं ऐसा लगता है करोड़ों सूर्यों का प्रकाश एक साथ हो गया हो। कोई कहता है आत्मा तो परमहंस है, हंस जैसी श्वेत है, तो कोई कहता है आत्मा तो छोटी सी चींटी जैसे आकार की है, तो कोई कहता है आत्मा तो ऐसी है जैसे चन्द्रमा की शीतल चाँदनी छलक रही हो, किन्तु आत्मा तो वर्णातीत है, उसका कोई वर्ण नहीं है। **'कलातीतं'** आत्मा का शरीर नहीं होता, शरीर तो पुद्गल का होता है। आत्मा का शरीर तो ज्ञानादि गुण हैं। **'गन्धातीतं'** आत्मा में कोई गन्ध नहीं होती। कोई कहे एक बार आत्मा की गंध

तो लेकर देखो, नासिका तृप्त हो जाएगी। अरे! नासिका तृप्त होती है पुद्गल की गंध से, आत्मा की गंध से आत्मा तृप्त होती है, नासिका तृप्त नहीं होती। ऐसा निश्चय करना चाहिए। **'पूर्वद्वन्दविनिर्मुक्तं'** आत्मा के विषय में जो पूर्व धारणा बनी हुई है उन सभी धारणाओं से मुक्त होकर के अर्हत् सदाशिव जो पूज्यनीय सिद्ध अवस्था है, उसका हमेशा ध्यान करना चाहिए।

महानुभाव! इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामीजी ने समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार आदि में कहा। आचार्य सिद्धांतिदेव नेमिचन्द्रजी ने भी लघु द्रव्यसंग्रह में कहा–

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणा-गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिदिट्ठ-सट्ठाणं॥5॥

आत्मा रस-रूप-गंध से रहित है, यह आत्मा व्यक्त करने के योग्य नहीं है, अव्यक्त है। वह शब्दों से रहित है अर्थात् शब्दों से आत्मा के प्रति इंगित किया जा सकता है। शब्द आत्मा को बता नहीं सकते। यह आत्मा इंद्रिय चिह्नों के द्वारा भी ग्रहण नहीं की जा सकती।

आत्मा के सूक्ष्म अस्तित्व का बोध कराने वाले चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं, तो जिस शरीर में आत्मा है वहाँ इन्द्रियाँ काम करती हैं, जिस शरीर में आत्मा नहीं है वहाँ इन्द्रियाँ काम नहीं करेंगी, न द्रव्येन्द्रिय न भावेन्द्रिय। अथवा जो अपने विषय में इन्द्र के समान इन्दन करती हैं, उसे इन्द्रिय कहते हैं किन्तु आत्मा इन्द्रिय से अग्राह्य है और संस्थान से रहित है क्योंकि आकार तो पुद्गल की पर्याय है, आत्मा का कोई आकार नहीं होता।

महानुभाव! जिन्होंने द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का आत्यन्तिक क्षय किया है, जो द्रव्यसंसार-क्षेत्रसंसार-कालसंसार-भवसंसार और भावसंसाररूप

पाँच प्रकार के संसार से विमुक्त हो चुके हैं, जिन्होंने समस्त विभावों को दूर कर दिया है, जो समस्त मुमुक्षुओं के ध्येय हैं, जो निष्ठितार्थ को प्राप्त कर चुके हैं, करने योग्य समस्त कार्य जिन्होंने कर लिए हैं तथा जो सिद्धशिला पर विराजमान हैं, वे सिद्ध हैं।

प्रस्तुत कारिका में सिद्धों के लिए चार विशेषणों का प्रयोग किया गया है। यथा–

1. वर्णातीत–जैसे चेतना आत्मा का अनन्य गुण है, उसी प्रकार वर्ण पुद्गल का असाधारण गुण है।

पुद्गलद्रव्य का लक्षण करते हुए सूत्रकार, आचार्यश्री उमास्वामी जी महाराज लिखते हैं–

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। –(तत्त्वार्थसूत्र = 5/23)

जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त हो, वह पुद्गल है।

सिद्धप्रभु पुद्गल द्रव्य से पूर्ण पृथक् हो चुके हैं। अतः उनमें लाल, पीला, नीला, काला और सफेद आदि वर्ण नहीं हैं। वर्ण जाति को भी कहते हैं। जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्रादि भेद हैं। ये भेद सिद्धों में नहीं होता। इसीलिए भी वे वर्णातीत हैं।

2. कलातीत–जैनागम में कल शब्द का अर्थ शरीर है। शरीर नामकर्म का एक भेद है। वह पाँच प्रकार का है–औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। ये पाँचों ही शरीर आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा व कार्माण ावर्गणा के द्वारा निष्पन्न होते हैं अर्थात् आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियक और आहारकशरीर का निर्माण होता है। तैजसवर्गणा से तैजस व कार्माणवर्गणा से कार्माणशरीर बनता है। ये वर्गणाएँ पुद्गल की स्कन्धरूप पर्याएँ हैं। स्कन्ध

परमाणुओं का समुदाय है व परमाणु पुद्गल है। अतः सम्पूर्ण शरीर नियमतः पुदगल है। सिद्धप्रभु ज्ञानशरीरी होने से पौद्गलिक शरीर से रहित होते हैं। इसीलिए वे कलातीत कहलाते हैं।

3. गन्धातीत–गन्ध पुद्गलद्रव्य का विशेष गुण है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये गन्ध के दो भेद हैं। पुद्गलद्रव्य से अत्यन्त विविक्त हो जाने के कारण सिद्धप्रभु में किसी भी प्रकार की गन्ध नहीं होती। यही कारण है कि सिद्धप्रभु को गन्धातीत कहा गया है।

4. द्वन्दविनिर्मुक्त–द्वन्द्व को परिभाषित करते हुए कहा है–**'द्वन्द कलहयुग्मयोः'** द्वन्द्व कलह और युग्म का नाम है।

ज्ञानादिक परिणति और वैभाविक परिणतिरूप द्वैत स्थिति ही द्वन्द्व है। सिद्धप्रभु ने पर परिणति को विनष्ट कर दिया है। जले हुए बीज के समान उनका कर्म विनष्ट हो चुका है। राग और द्वेष की उत्पत्ति को द्वन्द कहते हैं। राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति सिद्धों में नहीं होती। अतः सिद्ध द्वन्दमुक्त हैं।

इन चार विशेषणों से युक्त सिद्धों का ध्यान करना चाहिए। यदि कोई कहे कि सिद्धों का ध्यान क्यों करना चाहिए? तो समाधान यही है कि संसार में यह नियम है कि **'यद् ध्यायति तद् भवति'** जीव जैसा विचार करता है उसी प्रकार बन जाता है। आत्मा का कल्याण करने की इच्छा करने वाला भव्य स्व–स्वरूप की प्राप्ति करके निर्धूतकलिलात्मा बनना चाहता है। मनुष्य को जिस पथ पर जाना होता है, उसी पथ का आदर्श उसे बनाना पड़ता है। शुद्धात्मा बनने के लिए सिद्धों से श्रेष्ठ आदर्श अन्य कोई नहीं है। अतः सिद्धों का ध्यान करना चाहिए।

सिद्ध परमात्मा और मेरी आत्मा में तात्त्विक दृष्टि से किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। सिद्धों ने निजरूप को प्राप्त कर लिया है और आत्मशुद्धता को

प्राप्त करना मेरा ध्येय है। अब तक मैं निज के वैभव को भूला हुआ हूँ। मैं निज को शुद्ध बनाकर सिद्धों के समान बन सकता हूँ–ऐसा विश्वास करके तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

आचार्य भगवन् देवनंदि अपरनाम पूज्यपाद स्वामी जी जिन्हें जिनेन्द्रबुद्धि भी कहा जाता है ने इष्टोपदेश ग्रन्थ में आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहा–

स्वसंवेदन - सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंत सौख्यवानात्मा लोकालोक विलोकनः।।21।।

यह आत्मा अपने द्वारा संवेदन करने के योग्य है, उसी स्वसंवेदन में ही व्यक्त होती है। यह आत्मा जब भी प्रकट होगी, जब भी जानने–देखने में आएगी तो स्वसंवेदन के माध्यम से ही आएगी। यह आत्मा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के द्वारा गम्य नहीं है और केवलज्ञान के द्वारा भी अन्य किसी की आत्मा गम्य करने योग्य नहीं है। भावश्रुत ज्ञान के बल से भी शुद्धात्मा का अनुभव किया जा सकता है। शक्ति रूप शुद्धात्मा का और पूर्ण शुद्धआत्मा का अनुभव शिव शुद्ध दशा को प्राप्त वह शुद्धआत्मा ही कर सकती है। 'सुव्यक्तः' जो स्वसंवेदन के अंतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से अनुभव में नहीं आती। उस अनुभव का सिर्फ और सिर्फ एक ही मार्ग था, एक ही मार्ग है और एक ही मार्ग रहेगा। इसके अलावा अन्य किसी प्रकार से देखने में, अनुभव करने में नहीं आ सकती है।

और तनुमात्र अर्थात् जितना बड़ा शरीर है उतनी ही आत्मा है। चाहे व्यक्ति का शरीर छोटा हो या बड़ा यह महत्व नहीं रखता, जब भी वर्ण को देखा जाएगा तब चक्षुइंद्रिय से देखा जाएगा, चाहे छोटा–सा भ्रमर–मक्खी–मच्छर कोई भी है वह चार इंद्रिय है, उसके नेत्र हैं, वह देख सकता है और चाहे हजार योजन का कमल, बारह कोस का शंख, तीन कोस की चींटी ही क्यों

न हो, वह नहीं देख सकती। स्वयंभूरमण द्वीप में उनके पास चक्षुइंद्रिय नहीं है तो वे वर्ण को नहीं देख सकते। वर्ण को देखने का साधन है नेत्र, गंध को ग्रहण करने का साधन नासिका इंद्रिय है, स्वाद को ग्रहण करने का साधन जिह्वा/रसना इन्द्रिय है। शब्द को ग्रहण करने का साधन है कर्ण इन्द्रिय, ऐसे ही चिन्तन- ध्यान करने का मूल हेतु है मन। ये सब इन्द्रियाँ और अनीन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं।

आत्मा को कौन ग्रहण करता है? आत्मा को आत्मा के अनुभव के द्वारा, अनुभूति के द्वारा ग्रहण किया जाता है। उस आत्मा की अनुभूति स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दों से परे है। शब्दों का सार जब मन में जाता है तब मन उसे अपना विषय बनाता है। मन के द्वारा आत्मा तक पहुँचा जाता है। जब आत्मा शुद्ध होती है तब शुद्ध रूप में अपना अनुभव करती है। और यह आत्मा कायप्रमाण है। कोई कहता है चींटी जितनी है, तो कोई कहता है विशाल काय है तो कोई कहता है यह परम ब्रह्म में समा जाती है, यह उसी की परछाई है। इन सब धारणाओं का निराकरण करने के लिए कहा कि आत्मा तनुमात्र है। और कहा 'निरत्ययः' यह आत्मा कभी नष्ट नहीं होती, विनाश से रहित है। नरकों में अनंत बार गई, तिल-तिल खण्ड कर दिए तो भी नष्ट नहीं हुई, कई बार घानी में पेल दिया तब भी नष्ट नहीं हुई, अग्नि में जला दिया तो भी नष्ट नहीं हुई, शीत इतनी पड़ी कि पुद्‌गल का खण्ड भी गल गया, किन्तु आत्मा नहीं गली। ये आत्मा न किसी पत्थर से तोड़ी जा सकती है न हवा से उड़ायी जा सकती है।

सब जानन देखन हारा यह आत्मा हमारा।
शस्त्रों से कटे न काटा, न तोड़ सके कोई भाटा।
मरता न मरी का मारा, यह आत्मा हमारा॥

गीता में भी लिखा है–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

जिसे शस्त्र छिन–भिन्न नहीं कर सकते, न अग्नि जला सकती, महामारी फैल जाए या दुर्भिक्ष फैल जाए उससे भी नष्ट नहीं होती, हवा जिसे सुखा नहीं सकती ऐसी यह आत्मा है, जो विनाश से रहित है। आगे कहा 'अत्यंत–सौख्यवानात्मा' यह आत्मा अत्यंत सौख्य से युक्त है। जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, गर्म भी कर दो फिर भी शीतलता का गुण मूलतः नष्ट नहीं होता। ऐसे ही आत्मा किसी भी अवस्था को प्राप्त हो जाए फिर भी इसकी ज्ञानदर्शी शक्ति नष्ट नहीं होती। और जो इसका स्वभाव है सुख को प्राप्त करने का, भले ही अनन्त दुःखों को प्राप्त कर ले किन्तु स्वभाव नष्ट नहीं होता। पानी कितना भी गर्म हो जाए, बाद में अग्नि से थोड़ा दूर हो जाए तो ठंडा हो जाएगा। इस आत्मा को भी कर्मों से दूर करो तब आत्मा सुख को प्राप्त कर सकती है। 'लोकालोक विलोकनः' आत्मा की शक्ति ऐसी है जो लोक–अलोक दोनों को देखने में समर्थ है। इस आत्मा में सर्व द्रव्य की सर्वपर्याएँ–गुण एक साथ झलकते हैं। ऐसा यह आत्मा है। इस आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

ऐसे सिद्ध परमेष्ठी जिन होते हैं। वे तीन लोक के द्वारा पूज्य हैं। हम भी उनका ध्यान करते हुए उस दशा को प्राप्त कर सकें, इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मभावना

गच्छन् वा यदि वा सुप्तं, आलापं चापि भोजनं।
कुर्वन्नाप्नोति तद्ध्यानं, येनात्मा लभते शिवम्॥12॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि **(गच्छन्)** चलते हुए **(वा)** अथवा **(सुप्त)** सोते हुए **(वा)** अथवा **(आलापम्)** बोलते हुए **(च)** और **(भोजनं)** भोजन को **(कुर्वन्)** करते हुए **(अपि)** भी **(तद्)** उस **(ध्यानं)** ध्यान को **(न)** नहीं **(आप्नोति)** पाता है। **(येन)** जिससे **(आत्मा)** आत्मा **(शिवम्)** मोक्ष को **(लभते)** प्राप्त करता है।

अर्थ–चलते हुए, सोते हुए, बोलते हुए, भोजन करते हुए आत्मा उस ध्यान को प्राप्त नहीं कर सकता जिससे वह शिवपद को प्राप्त करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव स्वामी द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ के अन्तर्गत आत्मा के स्वरूप को देख रहे थे कि वर्णातीत, कलातीत, गंधातीत, द्वंदों से रहित पूज्य सिद्धआत्मा सदा सम्यग्दृष्टियों के द्व ारा ध्यान करने के योग्य हैं। मिथ्यादृष्टि जब उसके स्वरूप को जानते ही नहीं तो पूजा क्या करेंगे। जो जानता है वही उसके बारे में बता पाएगा। जिसे नहीं ज्ञात कि इस कक्ष में क्या रखा है, तो वह यही कहेगा कि यहाँ तो कूड़ा-कचरे का ढेर लगा है। जिसे रत्न का परिज्ञान नहीं वह कांच व रत्न में भेद ही नहीं कर पाएगा। ये तो चलो पौद्गलिक वस्तु है जिसे मिथ्यादृष्टि देख सकता है किन्तु सिद्धों के बारे में विश्वास तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मोक्षमार्ग पर विश्वास तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है, अर्हदादि पंच-परमेष्ठी

पर श्रद्धान सम्यग्दृष्टि को ही होता है। बाह्य क्रियाओं को देखकर मिथ्यादृष्टि भी प्रभावित होता है, भक्ति-पूजा करके मिथ्यादृष्टि भी सातिशय पुण्य का अर्जन कर लेता है किन्तु फिर भी सम्यग्दृष्टि ही सिद्धत्व के मार्ग पर बढ़ने में समर्थ है सम्यक्त्व के बिना तो मोक्षमार्ग दिखता ही नहीं, चलना तो दूर की बात है।

जिस दृष्टि से मोक्षमार्ग दिख जाता है, जिस दृष्टि से अपनी मुक्त आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है, जिस दृष्टि से अपनी शुद्धात्मा जानी जाती है, वह दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है। जो दृष्टि प्रत्येक जीवात्मा में शक्तिरूपेण परमात्मा को जानने-देखने में समर्थ है, वह सम्यग्दृष्टि है। शुद्धात्मा इंद्रियों से अग्राह्य है, शब्दातीत है, वर्णातीत है, द्रव्य-भाव-नोकर्मातीत है, जो आत्मा जन्म-मरण-जरा तीनों से अतीत है, जो राग-द्वेष से अतीत है, समस्त विकारी भावों से अतीत है। जब संसारी प्राणियों को सकल आत्मा दिखाई नहीं दे रही तो वह आत्मा कैसे दिखाई देगी जो सर्वकर्म से रहित है। संसारी प्राणी को आत्मा की बाह्य खोल नोकर्म स्थूल वाला तो दिखाई देता है किन्तु आत्मा दिखाई नहीं देती है। स्थूल शरीर के माध्यम से, इंद्रियों के माध्यम से उस अन्तरङ्ग आत्मा का मिथ्यादृष्टियों के द्वारा भी अनुमान किया जाता है इसीलिए वे कह देते हैं कि यह जीव मृत्यु को प्राप्त हो गया, क्योंकि अब वह कोई चेष्टा नहीं कर रहा।

जब जीवित था तब इसकी इंद्रियाँ काम कर रही थी, श्वांस लेता था, उठता, चलता, बैठता था किन्तु वह अब कुछ नहीं कर रहा है, इसका आशय है इसमें पहले ऐसी कोई शक्ति थी जिस शक्ति के कारण शरीर का संचालन हो रहा था। शरीर ज्यों की त्यों दिखाई दे रहा है किन्तु अंदर की वह शक्ति कहीं चली गई है। जैसे लाइट चली जाए तो विद्युत के उपकरण तो ज्यों की

त्यों हैं किन्तु वे जिस Electricity से संचालित होते थे, वह विद्युत ऊर्जा निकल गई। ऐसे ही शरीर का संचालन करने वाली विद्युत ऊर्जा की तरह से वह आत्मा निकल जाती है, तब कहा जाता है कि दस प्राणों का वियोग हो गया, यह जीव मृत्यु को प्राप्त हो गया।

आचार्य महोदय कह रहे हैं **'येन आत्मा लभते शिवं'** जिस आत्मा के द्वारा शिवत्व की अवस्था प्राप्त की जाती है, जिस आत्मा के द्वारा शुद्ध सिद्धअवस्था प्राप्त की जा सकती है, जो आत्मा अपने शाश्वत स्वभाव को प्राप्त करती है, वह आत्मा ध्यान के माध्यम से उस अवस्था को प्राप्त करती है। ध्यान के अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन है ही नहीं जिसके माध्यम से आत्मा शुद्ध हो जाए। पुद्‌गल का ढेर लगाकर आत्मा शुद्ध नहीं होती, पुद्‌गल से राग करके आत्मा शुद्ध नहीं होती, पुद्‌गल से द्वेष करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती, पुद्‌गल के अतिरिक्त अन्य जो चार द्रव्य हैं धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनके प्रति राग-द्वेष-मोह करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती और जीव द्रव्य द्वारा अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य आत्माओं से राग-द्वेष-मोह करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती। इन संसारी आत्माओं के प्रति, इन संसारी पर्यायों के प्रति राग-द्वेष-मोह करने से आत्मा शुद्ध नहीं होती, किन्तु हाँ यदि ये आत्मा शुद्ध होना चाहती है तो जिन्होंने अपनी आत्मा को धर्मध्यान वा शुक्लध्यान के माध्यम से कर्मकालिका को जलाकर के शुद्धदशा को प्राप्त कर लिया है, जो परमेष्ठी की अवस्था से आगे बढ़ते हुए सिद्धत्व तक पहुँच गए हैं, उसी मार्ग पर चलना प्रारंभ कर देगी, तो आत्मा शुद्ध-सिद्धरूप अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ हो जाएगी। अन्यथा किसी भी प्रकार से आत्मा की शुद्ध दशा प्राप्त नहीं की जा सकती।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं 'गच्छन् वा' व्यक्ति यदि चलता हुआ ध्यान कर रहा है, निरन्तर चल ही रहा है जैसे ज्योतिष विमानों को खींचने

वाले जो ज्योतिषी देव हैं वे निरंतर चलते चले जा रहे हैं, चलते हुए क्या ध्यान कर रहे हैं? हाँ, कर रहे हैं। आर्त्त-रौद्रध्यान वहाँ हो सकता है। सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तो चलते हुए धर्मध्यान भी हो सकता है। किन्तु उनका वह आर्त्त-रौद्रध्यान या सविकल्प धर्मध्यान मोक्ष को नहीं दे सकता है। गमन करता हुआ पवन/वायु ध्यान के योग्य नहीं है, बहता हुआ जल (एकेन्द्रिय) ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान की योग्यता तो बस पंचेन्द्रिय जीव में है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय ही सम्यक्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। मन वाला व्यक्ति ही ध्यान करने में समर्थ होता है, क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है। उत्तम संहनन वाला उसे अन्तर्मुहूर्त तक के लिए ग्रहण कर सकता है और जघन्य संहनन वाले अल्प समय के लिए उस ध्यान को प्राप्त करते हैं। जघन्य संहनन द्वारा किया गया ध्यान मोक्ष को नहीं दे सकता। अशुभ ध्यान दुर्गति को देते हैं, शुभ ध्यान सुगति को देते हैं किन्तु शुक्लध्यान निःसंदेह परम शुद्ध-विशुद्ध-सिद्धदशा को देने में समर्थ होता है। इसीलिए आचार्य भगवन् शुभ व शुद्ध ध्यान की बात कह रहे हैं।

यदि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, त्यागी, व्रती, संयमी उपदेश दे रहे हैं तो उपदेश देते-देते भी उनका ध्यान हो सकता है, भोजन करते-करते भी ध्यान हो सकता है। किन्तु उस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मतलब? मतलब यह कि सप्तम गुणस्थान में या उससे ऊपर गुणस्थान में गमन नहीं है, नींद नहीं है, वहाँ बुद्धिपूर्वक वचनालाप नहीं है, उन गुणस्थानों में आहार में प्रवृत्ति नहीं है, निहार में प्रवृत्ति नहीं है, वचनालाप नहीं है, समिति आदि का पालन करना नहीं है। फिर ये कथन सुनते हैं कि मुनिराज आहार करते-करते अप्रमत्त हो जाते हैं, यदि स्वाध्याय करते हैं तो अप्रमत्त हो जाते हैं, सामायिक

में, प्रतिक्रमण में अप्रमत्त हो जाते हैं, इसका क्या मतलब हुआ? आहार करते-करते तो गुणस्थान सातवाँ हो सकता है, अप्रमत्त अवस्था हो सकती है, निर्विकल्प ध्यान हो सकता है, उस समय प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु ध्यान करते समय ये क्रियाएँ नहीं होती। ध्यान में बैठे व्यक्ति कोई भी बाह्यक्रियाएँ बुद्धिपूर्वक नहीं कर सकते, हाँ जो बाह्यक्रिया, पुण्यरूप क्रिया कषाय की मन्दता से चल रही है उस क्रिया के साथ-साथ कहीं यदि चित्त स्थिर हो गया तो ध्यान बन सकता है।

भेदविज्ञान को उपलब्ध करने वाले भव्यात्मा जीव के द्वारा आत्मतत्त्व का ध्यान गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय अथवा ध्यान-ध्याता-ध्येय आदि विकल्पों से रहित होकर किया जाता है। उस ध्यान को आत्मध्यान कहते हैं।

आचार्य श्री देवसेन जी महाराज लिखते हैं-

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि।
ण य धारणा वियप्पो, तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज॥

-(आराधनासार = 78)

जिसमें न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है। जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है। जिसमें धारणाओं का विकल्प भी नहीं है, उसे शून्यध्यान समझो।

सम्पूर्ण विकल्पों से रहित ध्यान आत्मध्यान है।

आगमानुसार पाँच पापों का आचरण करना बाह्यक्रिया है तथा कषाय और योगमय प्रवृत्ति आभ्यन्तर क्रिया है। ये दोनों ही क्रियाएँ आत्मप्रदेशों को चंचल बनाया करती हैं। अतः इन दोनों का विनाश कर स्वरूपगत हो जाना अध्यात्मध्यान अथवा निर्विकल्पध्यान है।

स्वरूपगत होना ही निर्विकल्प ध्यान है। जिसे निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि हो गई हो, उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए आचार्यश्री पूज्यपाद जी महाराज लिखते हैं–

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥

–(इष्टोपदेश–41)

जो आत्मतत्त्व में स्थिर हो गया है, वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता और देखता हुआ भी नहीं देखता अर्थात् वह सम्पूर्ण क्रियाओं को करता हुआ कोई भी किसी भी प्रकार की क्रिया को नहीं करता है।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने यहाँ आत्मभावना के संबंध में कहा। ध्यान रत्नत्रय की निश्चल दशा में संभव है। उसे ही प्राप्त करने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

शुद्धात्मा के ध्यान का फल

यो नरः शुद्धमात्मानं, ध्यायेत्कृत्वा मनः स्थिरम्।
स एव लभते सौख्यं, निर्वाणं शाश्वतं पदम्॥13॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(नरः)** मनुष्य **(मनः स्थिरम्)** मन को स्थिर **(कृत्वा)** करके **(शुद्धं आत्मानं)** शुद्धात्मा को **(ध्यायेत्)** ध्याता है **(स)** वह **(एव)** ही **(सौख्यं)** सौख्य को और **(शाश्वतं)** शाश्वत **(निर्वाणं)** निर्वाण **(पदं)** पद को **(लभते)** प्राप्त करता है।

अर्थ–जो मनुष्य मन को स्थिर करके शुद्धात्मा का ध्यान करता है वह सौख्य रूप निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ में ध्यान का विषय शब्दों के माध्यम से हम देख रहे हैं। यद्यपि ध्यान सुनने का विषय नहीं है, ध्यान कोई कक्षा का विषय नहीं है जिसे पढ़ लिया जाए या पढ़ा दिया जाए, ध्यान तो अनुभव का विषय है। कोई व्यक्ति मिष्ठान्न बनाने की पूरी विधि जान ले, तो क्या उसे मिष्ठान्न खाने का पूरा स्वाद आ जाएगा? नहीं आएगा। यद्यपि ध्यान तक पहुँचने के लिए व्यवहार की कुछ क्रियाएँ जरूरी होती हैं।

चने की खेती की, चना आया, उसे पिसवाया, दोल बनाकर के फिर बेसन बनाया, पुनः घोलकर बूँदी बनायी, गन्ने के रस से शक्कर या बूरा बनाया, फिर उसकी चाशनी बनायी, पुनः उसमें बूँदी डाली। उसके बाद अभी भी बूँदी मुख में नहीं गई। हाथ में लड्डू है, गंध भी अच्छी आ रही है, देखने

में भी सुंदर है, स्पर्श भी अच्छा है, स्निग्धता दिख रही है, आनन्द आ रहा है। अभी स्पर्श, घ्राण और नेत्र इन्द्रिय तृप्त हैं, मिष्ठान्न में ध्वनि नहीं निकल रही वरना कर्ण इंद्रिय भी तृप्त हो जाती और इन चार इंद्रियों के माध्यम से मन भी तृप्त हो रहा है, किन्तु रसना इंद्रिय को अभी कुछ नहीं मिला। क्या चार इंद्रियों की तृप्ति से रसना इन्द्रिय कॉम्प्रोमाइज कर सकती है? भले ही हाथ में लड्डू लेकर के होठों तक पहुँच गया, हो सकता है उसकी सुगंध से आहार संज्ञा जागृत हो जाए, हो सकता है जिह्वा इंद्रिय रस छोड़ दे, मुख में पानी आ जाए किन्तु स्वाद नहीं आ सकता, स्वाद तो तभी आएगा जब उसे ग्रहण करेंगे।

महानुभाव! ऐसे ही ध्यान के बारे में कोई व्यक्ति घंटों-घंटों भी प्रवचन देता रहे, ध्यान के बारे मे PHD भी कर ले, कई ग्रन्थों को भी लिख दे, ध्यान के बारे में बोलना, ध्यान के बारे में सुनना, ध्यान के बारे में पढ़ना-लिखना ये अलग चीज है और ध्यान करना इन सबसे हटकर एक अलग चीज है। दोनों एक नहीं हैं। जो व्यक्ति दोनों को एक मान लेता है वह व्यक्ति सिर्फ और सिर्फ अपनी आत्मा को ठगता है। दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति दूर से समुद्र को देखकर दम्भ भरता रहे कि वाह! क्या समुद्र है, मैं समुद्र में अवगाहन करके आ गया। मात्र समुद्र के किनारे चक्कर काटने पर क्या समुद्र का आनन्द आता है। जैसे कुंवारी कन्या को शादी के गीत गाने से, बरना-बरनी, जच्चा-जच्ची के गीत गाने से, हँसी-मजाक करने से दाम्पत्य जीवन का सुख नहीं मिलता, उसकी अनुभूति नहीं होती, ऐसे ही बाह्य क्रियाओं से ध्यान की सिद्धि नहीं होती, ध्यान का अनुभव नहीं आता।

महानुभाव! एक कुंवारी कन्या जिसने MBBS किया MD किया और एक कुशल गायनोलॉजिस्ट बन गई। उसने लगभग 200 प्रसूतियाँ कराईं, उसे

अवार्ड दिया गया, उसकी प्रशंसा की गई। प्रशंसक ने प्रशंसा करते समय ये कह दिया कि निःसंदेह ये बहुत कुशल है, इन्हें 200 प्रसूतियों का अनुभव है। ये शब्द सुनते ही उसकी आँखों में आँसू आ गए। कुमारी कन्या किसी की प्रसूति करा सकती है किन्तु अनुभव तो तब होता है जब स्वयं प्रसूति करे।

अनुभव संयम से होत है, मात्र ज्ञान से नाहिं।
विषय भोग सुख ना मिले, कुवारी गीतन माहिं।

कुंवारी कन्या को गीत गाने मात्र से विषय सुख नहीं मिलता, ऐसे ही केवल ध्यान की चर्चा करने से, केवलज्ञान की चर्चा करने से, क्षायिक सम्यक्त्व की चर्चा करने से अनंत सुख, अनंतवीर्य की चर्चा करने से उसका अनुभव नहीं होता। नदी में अवगाहन का आनन्द तो तभी आता है जब नदी में तैरते हैं। बिस्तर में हाथ-पाँव मारने से नदी में तैरने की कला नहीं आती और नदी के अवगाहन में जो आनन्द आता है वह बिस्तर पर नहीं आ सकता। काँटे की पीड़ा तभी समझ में आती है जब पैर में काँटा लगा हो, दूसरे की पीड़ा को देखकर के सुख-दुःख का वेदन नहीं हो सकता। दूसरों के भोजन कर लेने से उसकी खट्टी-मीठी डकार का अनुभव भूखे पेट नहीं आता, ऐसे ही आचार्य महोदय कह रहे हैं कि ध्यान क्या है? तो चित्त को चित्त में धारण करना ध्यान है। जब तक चित्त में चित्त के अतिरिक्त कुछ और धारण किया हुआ है, बाह्य पुद्गल या चेतन-अचेतन पर्याय का चिंतवन चल रहा है, वह ध्यान नहीं है। जब चेतना चेतना के प्रति उसमें ही निमग्न हो जाए तब ध्यान का आनन्द आता है।

आचार्य महोदय तेरहवीं कारिका में कह रहे हैं-

जिस आत्मा में से कर्म रूपी बाण निकल गए हैं वही आत्मा निर्वाण रूपी शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकती है। कर्मरूपी बाणों के निकले बिना

आत्मा की दशा निर्वाण दशा नहीं कहीं जा सकती। आत्मा की कर्मों से मुक्ति हुए बिना आत्मा को मुक्तात्मा नहीं कह सकते। मुमुक्षु वही बनता है जिसकी समस्त इच्छाएँ मर गई हों, बस एक मोक्ष जाने की इच्छा जीवित रह गई हो। यह मोक्ष रूपी इच्छा अन्य किसी सौत रूपी इच्छा के साथ रहती नहीं है।

जो कोई भी भव्यजीव, योगी, ऋषि, महंत, संत मन को स्थिर करके शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, क्योंकि जब तक मन को स्थिर नहीं किया जाएगा तब तक ध्यान नहीं लग सकता। कोई व्यक्ति पुल के ऊपर से निकलना चाहता है किन्तु पुल झूले जैसा झूल रहा है, जब तक पुल झूल रहा है वह व्यक्ति वहाँ से निकल नहीं पाएगा और झूला रुकते ही वह निकल जाएगा। ऐसे ही जब तक मन जलाशय में उठने वाली लहरों की तरह से चंचल है तब तक ये मन ध्यान नहीं कर सकता। जैसे कोई भ्रमर जब तक पुष्प पर मंडराता रहता है तब तक उसके पराग को ग्रहण नहीं कर सकता। पुष्प पर बैठता है तब पराग को ग्रहण करता है। ऐसे ही जिस किसी भी योगी का चित्त मंडराता रहेगा तब तक वह योगी अपने आत्मा के अनुभव को प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ पर यही कह रहे हैं कि मन को स्थिर करके शुद्धात्मा का ध्यान करें। जैसे माना कि कोई छोटे-छोटे पाइप हैं, उन पाइपों के बीच में छेद है, जब सभी छेद एक सीध में हो जाते हैं तो छेद बिल्कुल सीधा दिखाई देता है। उसमें कोई व्यक्ति यहाँ से बाण छोड़े तो दूसरे सिरे से निकल सकता है किन्तु जब तक वे पेन्डुलम जैसे लटके-लटके हिल रहे हैं और कहीं एक सीध में होने की गुंजाइश ही नहीं है, तब कितना ही बड़ा तीसमारखाँ, निशाने बाज ही क्यों न हो, वह भी तीर आर-पार नहीं कर सकता। ऐसे ही जब तक वह योगी मन-वचन-काय को एक नहीं कर देगा तब तक आत्मा को आत्मा में लीन नहीं कर सकेगा।

आचार्य भगवन् देवसेन स्वामी जी ने 'भावसंग्रह' ग्रन्थ में कहा–राग–द्वेष व मोह रहित परम योगियों ने ध्यान के फल तीन प्रकार से कहे हैं। 'पहला' इसी भव में प्राप्त होने वाला फल अर्थात् ध्यान की शक्ति से साधक को अनेक प्रकार के अतिशय, ऋद्धियाँ वर्तमान भव में ही प्राप्त हो जाती हैं। जैसे–हजारों कोस दूर के पदार्थ देख लेना, दूर के शब्द भी सुन लेना आदि रूप से इंद्रियज्ञान की वृद्धि हो जाती है तथा आदेश करने की शक्ति प्रकट हो जाती है। 'दूसरा' परलोक में होने वाला फल। जैसे–स्वर्गों में इन्द्र, अहमिद्र, लौकान्तिक पद की प्राप्ति होना आदि फल परलोक संबंधी फल जानने चाहिए और ध्यान का 'तीसरा' और सर्वोत्कृष्ट फल है। सर्व कर्मों की निर्जरा हो जाना। आचार्य महोदय ने भी शुद्धात्मा के ध्यान का फल निर्वाण पद की प्राप्ति कहा है। औदारिक आदि पाँच शरीरों का नष्ट हो जाना, सिद्धत्व की प्राप्ति हो जाना, तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त हो जाना, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु–लघुत्व, अव्याबाध इन अष्ट गुणों का प्रकट हो जाना तथा लोकाग्र पर स्थित हो जाना ये सब ध्यान के परमोत्कृष्ट फल हैं। इसीलिए आचार्यों ने ध्यान का महत्त्व बताते हुए कहा–

ये ध्यानलीना मुनयः सदा वै, ते दुःखहीना नियमाद् भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव॥

जो मुनि सदा ध्यान में लीन रहते हैं, वे नियमपूर्वक दुःख रहित होते हैं और शीघ्र ही परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर क्षण में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

इसीलिए आचार्य महोदय कहे रहे हैं कि मन को स्थिर करके ध्यान करना चाहिए। उस ध्यान से क्या होता है? उस ध्यान से मोहनीय कर्म का विनाश होता है। पहले उपशम सम्यक्त्व (प्रथमोपशम सम्यक्त्व) प्राप्त किया, फिर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया, उसके बाद यदि श्रेणी चढ़ना प्रारंभ किया तो

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया, पुनः लौट करके क्षयोपशम में आ गए, पुनः क्षायिक प्राप्त कर लिया, फिर अपनी कषायों के (अप्रत्याख्यान के) अनुदय से देशव्रती बन गए, प्रत्याख्यान के अनुदय से महाव्रती बन गए, फिर संज्वलन के मंद उदय से आगे बढ़ते गए। ज्यों-ज्यों कषाय मंद होती चली गईं त्यों ही झटके से उसे तोड़ दो। रस्सी मजबूत हो तो तोड़ना बड़ा मुश्किल है। तोड़ने के लिए यदि कोई साधन न हो तो व्यक्ति उस रस्सी का एक-एक तंतु उकेरता चला जाए, जब एक-एक तंतु उखाड़ता चला जाएगा तो रस्सी कमजोर हो जाएगी और पुनः झटके से उसे तोड़ सकता है। यदि रस्सी को कमजोर नहीं किया, उसे तेल-घी पिला दिया तो वह टूटेगी नहीं। ऐसे ही यदि हमने रागद्वेष के बंधनों को मोह का तेल पिला दिया, तो वे टूटेंगे नहीं और जब मोहनीय कर्म के बंधन नहीं टूटेंगे तो आत्मा को स्वाभाविक सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

महानुभाव! वही आत्मा अनंतसुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है जो आत्मा अपने मन को स्थिर करके शुभ आत्मा का ध्यान करती है। ध्यान क्या है? ध्यान एक अग्नि है जिसके द्वारा आत्मा के चारों तरफ से बंधे हुए जो बंधन हैं वे सब जल जाते हैं। बिना इसके वे बंधन रूपी बेड़ियाँ नहीं टूटेंगी। आश्चर्य की बात तो ये है कि ध्यान की अग्नि से आत्मा का एक भी प्रदेश जलता नहीं है और कर्मों के जो निविड बंधन हैं, जो आत्मा पर सर्व ओर से छाये हुए हैं उनमें जब ध्यान की अग्नि लगती है तो वे ही जलते हैं, वे ही पिघलते हैं, आत्मा का बालबांका नहीं होता है। जैसे रुई के ढेर में कोई बहुमूल्य हीरा छिपाकर रख दिया जाए तो चिंगारी डालते ही वह रुई जलने लगती है, तुरंत शांत भी हो जाती है, हवा से उड़ जाती है। किन्तु जो अंदर रखा हुआ बहुमूल्य हीरा है वह नष्ट नहीं होता क्योंकि वह तो अविनाशी है, नित्य है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि ध्यान की अग्नि से मोह को जलाना है। जब मोहकर्म नष्ट होता है तब उसके साथ अनादिकाल से अविनाभावी रूप से रहते हुए ज्ञानावरण- दर्शनावरण व अन्तराय कर्म भी अन्तर्मुहूर्त में जलकर नष्ट हो जाएँगे या यूँ कहें सभी कर्मों का प्राण मोहनीय कर्म है, उसके विगलित होते ही तीन कर्म तो ऐसे धराशाही हो जाते हैं जैसे अत्यंत मोही व्यक्ति अपने निकटवर्ती की मृत्यु का समाचार सुनते ही हृदयघात से चल बसता है। ऐसे ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीनों ही मोहनीय कर्म के नाश का समाचार सुनते ही स्वमेव ही नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद शेष बचे चार अघातिया कर्म भी सहजता में नष्ट हो जाते हैं। जब वे नष्ट हो जाते हैं तब ये आत्मा अनंतसुख को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख व अनंतवीर्य से युक्त आत्मा ही सिद्धत्व को प्राप्त करने में समर्थ होती है। आप और हम सभी ध्यान करने की भावना भाएँ, अभ्यास करें तब निःसंदेह उस ध्यान की प्राप्ति हो सकेगी। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

धर्मध्यान के भेद

पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्म चिन्तनम्।
रूपस्थं सर्व चिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम्॥14॥

अन्वयार्थ–(मंत्र) मंत्र **(वाक्यस्थं)** वाक्यों का ध्यान **(पदस्थं)** पदस्थ है **(स्वात्मचिंतनं)** स्वात्म चिंतन **(पिण्डस्थं)** पिण्डस्थ ध्यान है **(सर्व)** सम्पूर्ण **(चिद्रूपं)** चिद्रूप का ध्यान **(रूपस्थं)** रूपस्थ है **(निरञ्जनम्)** निरंजन ध्यान **(रूपातीतं)** रूपातीत है।

अर्थ–मंत्र वाक्यों का चिंतन करना पदस्थ ध्यान है, स्वात्मचिंतन पिण्डरूप ध्यान है, चिद्रूप का ध्यान रूपस्थ ध्यान है तथा निरंजन सिद्धों का ध्यान रूपातीत ध्यान है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान के संबंध में व्याख्यान चल रहा है। वह ध्यान संवर-निर्जरा तत्त्व का साक्षात हेतु है और मोक्ष तत्त्व का भी हेतु है। शुभ ध्यान निःसंदेह कारण में कार्य का उपचार करने से सिद्धत्व की प्राप्ति के नियामक हेतु हैं एवं जो दुर्ध्यान हैं वे संसार की शृंखला को अनंतता प्रदान करने वाले हैं।

आचार्य महोदय ने ध्यान की अलग-अलग प्रकार से व्याख्याएँ कीं। पूछा ध्यान क्या है? तो कहा–ज्ञान का आलम्बन लेना अर्थात् जब ज्ञान स्वरूपी आत्मा ज्ञान का आलम्बन लेती है तब ध्यान को प्राप्त होती है। मिथ्याज्ञान का आलम्बन लेने वाली आत्मा मिथ्या ध्यानों को प्राप्त करती है और सम्यग्ज्ञान का आलम्बन लेने वाली आत्मा सम्यक्ध्यान को प्राप्त करती है। जब तक

विकल्प रहते हैं तब तक उस ध्यान को सविकल्प कहा जाता है किन्तु जब सर्व विकल्प कुछ क्षण के लिए विराम ले लें और चित्त की दशा निर्विकल्प हो जाए, शरीर से कोई चेष्टा नहीं, वचनों से कोई आलाप नहीं, अन्तर्जल्प का किंचित् भी उपयोग नहीं और मन के धरातल पर किसी भी विचारों की लहर नहीं अर्थात् मन का ऐसा शांत हो जाना जैसे निष्क्रिय अवस्था में किसी जलाशय का जल शांत हो गया हो, तब ध्यान की भूमिका बनती है।

महानुभाव! आप जानते हैं जब किसी समुद्र/जलाशय का जल शान्त होता है तब उस जलाशय के तल में पड़ी हुई वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं। जिस प्रकार उबलता जल या मलिन जल अथवा संचालित जल केवल एक भ्रम पैदा करने वाला होता है, उसके अंतरंग तल में विद्यमान वस्तुओं-पदार्थों का सम्यग्स्वरूप बताने में असमर्थ होता है। कोई महिला भगोने में चावल उबाल रही है तो पानी के उबाल से चावल ऊपर-नीचे आएँगे, किन्तु दिखाई नहीं देंगे, पानी की जो लहर सी आ रही है, पानी उबल रहा है वह दिखाई देगा। यदि जल मलिन है तब भी पानी के तल में पड़ी हुई कोई भी वस्तु चाहे धान्य हो या चांदी-सोने-तांबे का सिक्का आपको निर्मल दिखाई नहीं देगा। यदि पानी संचालित हो रहा है, यानि किसी महिला ने करछली के माध्यम से, किसी लकड़ी से जल को संचालित कर दिया, जल में लहरें उठने लगीं, चक्र बनने लगे तो उस समय भी जल में पड़ा कोई सिक्का आदि ज्यों की त्यों दिखाई नहीं देता, उसका स्वरूप विकृत दिखाई देता है या दिखाई ही नहीं देता। इसी तरह आत्मा के इस अगाध सिन्धु में पड़े हुए गुणरूपी गहन रत्न तब तक दिखाई नहीं देते जब तक इस आत्मा में रागद्वेष की मलिनता है या जब तक कषायों के माध्यम से आत्मा उबल रही है तब तक आत्मा का सही स्वरूप दिखाई नहीं देता। अथवा

जब योगों की तीव्र प्रवृत्ति चल रही हो, जैसे–कोई व्यक्ति तीव्रता से दौड़ रहा है या जल्दी-जल्दी बोल रहा है अथवा मन से जल्दी-जल्दी सोच रहा है, तो इस समय जब तीनों योग अपनी तीव्रगति से भ्रमण कर रहे हों, तीव्र गति से आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन कर रहे हों तब उस आत्मस्वभाव का बोध होना असंभव है। इसलिए आत्मा की अनुभूति करने वाले महानुभाव, योगी, साधु, ऋषि, मुनि इस शरीर को पद्मासन आदि लगाकर मन को भी कमल जैसा कर लेते हैं और वचनों को विराम दे देते हैं। वे पलकों से नेत्रों को बंद कर लेते हैं, कर्णों पर बाहर से कोई आवरण न डालकर बस कानों की दिशा, उसकी गति अंदर की ओर कर लेते हैं, जिससे बाहर की आवाज सुनाई न दे और पुनः चित्त को एकाग्र करके आत्मा का अनुभव करते हैं। उस आत्मा के बारे में चिंतन करते हैं कि आत्मा का लक्षण, स्वभाव, गुण एक नहीं है, अनंत हैं। एक-एक गुण अनंत अवस्था को प्राप्त है। एक बार प्राप्त हो गया तो अनंतकाल तक भी वह गुण नष्ट होने वाला नहीं है। उस एक-एक गुण के बारे में सोचना प्रारंभ करो, तब देखो क्या आनन्द आता है।

लोग पूछते हैं कि हम सामायिक करते समय, ध्यान करते समय क्या चिंतवन करें, हमें कोई विषय ही समझ नहीं आता, कभी पाठ कर लेते हैं, बारह भावना, वैराग्यभावना, सामायिक पाठ, समाधिमरण पाठ या अन्य स्तुति-पाठ पढ़ लिए किन्तु फिर भी चिन्तन नहीं बनता, वे शब्द पढ़ लेते हैं, अर्थ भी समझ आता है किन्तु फिर भी चिन्तन नहीं कर पाते, हम ध्यान कैसे लगाएँ? भैया! ध्यान के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। एक दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति ध्यान में Perfect नहीं होता। जो विद्यार्थी आज IPS हैं, IRS हैं, जिन्होंने MBBS किया अथवा इंजीनियर बने, तो वहाँ तक एक दिन में नहीं पहुँच गए। उन्होंने LKG-UKG से पढाई करना प्रारंभ की और 20 साल तक पढ़ाई की, तब वहाँ तक पहुँच पाए हैं।

कृषक ने आज खेत में बीज बोया, और चार दिन बाद वह सोचे कि 100 ग्राम बीज भी मेरे हाथ में आ जाए, तो संभव नहीं। उसे पर्याप्त समय तक इंतजारी करनी पड़ेगी। कोई फसल तीन माह में, कोई चार या छह माह में आती है और कोई फसल तो दो अथवा पाँच वर्ष बाद भी आती है। जिस फसल के लिए जितना समय अपेक्षित है उसके बाद ही प्राप्ति संभव है।

महानुभाव! साधु बनना तो सरल है किन्तु साधु होना बड़ा कठिन है। साधु बनने के लिए तो एक मिनट में दिगम्बर हो जाओ, दाढी-मूंछ-केशों का लोंच कर लो, हाथ में कमण्ड-पीछी लेकर बैठ जाओ अथवा अन्य मतावलम्बी साधु का रूप भगवा वस्त्र पहनो, श्वेत वस्त्र पहनो, तो यह साधु का रूप तो हो सकता है, साधुनुमा व्यक्ति दिखाई दे सकता है किन्तु साधुमना बनने के लिए पूरा जीवन दांव पर लगाना पड़ता है, तब साधुता अंदर से निखर-निखर कर आएगी, तब साधुता झलकती है।

ऐसा नहीं है कि एक दिन में ही साधु बनकर कषायों पर विजय प्राप्त कर ली। क्रोध भी आ सकता है, मान भी आ सकता है, मायाचारी भी कर सकता है, लोभ आ सकता है, किन्तु निरन्तर अभ्यास करता रहेगा तो साधु बनने का सही आनन्द ले लेगा। और घबरा गया, अरे! इतनी साधना करनी पड़ती है, इतना सहन करता पड़ता है तो वह साधुता का आनन्द नहीं ले सकता। वह बाहर की प्रशंसा का आनन्द ले सकता है, अपने दबदबे का, छलकपट, मायाचारी का आनन्द ले सकता है किन्तु साधुता का आनन्द तो अंदर से आता है। जैसे आम की गुठली बोते ही आम का स्वाद नहीं लिया जा सकता, यथेच्छ समय अपेक्षित है। जब पेड़ बड़ा हो जाए फिर आम लगेगा, अगर छोटा ही आम तोड़ लिया तो उस समय वह खट्टा होगा, जल्दी तोड़कर पाल में पकाओ तब भी वो आनन्द नहीं आता। जब उसमें जाली पड़ जाए, जब वह आम पेड़ पर लगे हुए खूब आंधी, धूप सहन कर ले, तब

उस डाली का पका हुआ आम मिष्ट स्वाद देने वाला होता है। ऐसे ही जो साधु उपसर्गों को, परीषहों को समता से सहन करता जाता है, कषायों को शान्त करता चला जाता है तब अंदर से आनन्द प्रस्फुटित होता है। आनन्द का कोई दूसरा प्रतिउत्तर नहीं होता, वह आनन्द अनुत्तर होता है। उस आनन्द की सानी रखने वाला अन्य कोई आनन्द नहीं।

पर्वत के ऊपर कोई व्यक्ति मोटर चलाकर पानी का छिड़काव कर दे तो उससे कोई लाभ होने वाला नहीं है किन्तु पर्वत के गर्भ में भरा हुआ पानी स्वयं के दबाव से चट्टान को तोड़कर जब फूट पड़ता है तब उस झरने के पानी में जो आनन्द होता है, वह बाहर के जल सिंचन में नहीं होता, उससे ही पर्वत को तृप्ति मिलती है। ऐसे ही मात्र शब्दों के सिंचन से आत्मा को तृप्ति नहीं मिलती। द्रव्यश्रुतज्ञान तृप्ति का निमित्त बन सकता है पर वास्तव में तृप्ति तो भावश्रुत ज्ञान से मिलती है। भावश्रुत ज्ञान में जब चित्त की एकाग्रता हो जाए तब उसमें जो आनन्द आता है, वह अकथ्य है। विद्वत्वर दौलतराम जी कहते-कहते थक गए, फिर भी कह नहीं पाए। समझाने के लिए फिर भी कहना तो पड़ेगा, शब्दों का आलंबन लेना पड़ेगा, उन्होंने भी आलम्बन लिया–

यूं चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो॥

शब्दों में उस आनन्द की अनुभूति नहीं होगी, ये शब्द तो मात्र प्रतीक हैं। ये शब्द तो माइल् स्टोन हैं, वह मंजिल नहीं जिसे हमें प्राप्त करना है। जैसे किसी दीवार पर कोई पोस्टर न लगाएँ या कुछ भी ना लिखें, ऐसा समझाने के लिए दीवार पर लिखना पड़ता है कि यहाँ लिखना मना है। ऐसे ही शब्द तो संकेत के रूप में हैं। शब्दों में आनन्द नहीं है।

दूसरे उदाहरण से आपको बताएँ–कोई व्यक्ति हलवा या खीर खा रहा था, एक व्यक्ति उससे कहता है अरे! तुझे क्या आनन्द आएगा तू तो इसे

अंगुली से खा रहा है, देख मेरे आनन्द की बात, मैं प्लास्टिक की चम्मच से खा रहा हूँ। दूसरा कहता है मेरी चम्मच स्टील की है, कोई कहता है मेरी पीतल की है, मेरी चाँदी की है, मेरी सोने की है, तभी एक व्यक्ति बोला अरे! मेरी चम्मच में तो रत्न भी लगे हैं, भैया! चम्मच में चाहे कुछ भी लगा हो हलवा में मीठा कम है तो सोने की चम्मच से खाने से वह मीठा नहीं हो जाएगा और हलवा में मीठा ज्यादा है तो प्लास्टिक की चम्मच से खाने से वह नीरस नहीं हो जाएगा। ये सब तो साधन हैं, मुख्य चीज तो हलवा है। ऐसे ही योगी के लिए मुख्य तो उसकी आत्मा और उसमें भरा आनन्द है।

महानुभाव। यहाँ आचार्य महोदय उस ध्यान के आलम्बन के विषय में बता रहे हैं उन्होंने कहा–चार प्रकार के ध्यान के आलंबन हैं, प्रथम है–**'पदस्थ ध्यान'** अर्थात् मंत्र वाक्यों का चिंतन करना। मंत्र के वाक्य हैं–'ण ामो अरिहंताणं' इतना बोलकर थोड़ी देर के लिए चित्त शान्त हुआ, इतने में ध्यान बन गया। यह चिंतनात्मक ध्यान है।

आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में इन चारों ध्यानों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। पदस्थध्यान का स्वरूप बताते हुए उन्होंने कहा कि जब योगीगण पवित्र पदों का आश्रय लेकर जिस ध्यान को किया करते हैं, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। अन्य आचार्यों ने भी इन ध्यानों का विशेष व्याख्यान किया है। ध्यानस्तव में आचार्य भास्करनन्दी जी महाराज ने लिखा–

तव नाम पदं देव, मन्त्र-मैकाग्र्यमीर्यतः।
जपतो ध्यानमाम्नातं, पदस्थं त्वत्प्रसादतः॥ –(ध्यानस्तव-29)

हे देव! तुम्हारे प्रसाद से जो एकाग्रता को प्राप्त होकर आपके नाम पद का (नाम के अक्षर स्वरूप मंत्र का) जप करता है, उसके पदस्थ ध्यान

कहा गया है। भावसंग्रह में आचार्य देवसेन स्वामी ने इस ध्यान का निरूपण करते हुए कहा–

एक पय मक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुवसंबंधं।
तं पिय होइ पयत्थं, झाणं कम्माण णिद्दहणं॥627॥

पंचपरमेष्ठी के वाचक एक पद के मंत्र का जप करना वा एक अक्षर मंत्र का जप करना वा अधिक अक्षरों के मंत्र का जप करना भी पदस्थध्यान कहलाता है। यह पदस्थध्यान कर्मों के नाश का साधन है।

पणतीस सोल छप्पण, चदुदुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि वाचयाणं, अण्णं च गुरुवएसेण॥ –(द्रव्य संग्रह–49)

पंचपरमेष्ठी वाचक अर्थात् णमोकार महामंत्र, यह 35 अक्षरों का मंत्र है, इसका ध्यान करो। यह पदस्थध्यान विपुल कर्म निर्जरा का कारण है।

पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज बताते थे– 'णमो अरिहंताणं' कहकर के शान्ति से बैठ जाओ, णमो सिद्धाणं कहने का जब तक विकल्प नहीं आए तब तक के लिए तुम्हारा मन शांत हुआ है, उतनी देर के लिए आपका ध्यान बन गया। 'णमो सिद्धाणं' कहकर के शान्ति से बैठ जाओ, णमो आइरियाणं कहने का विकल्प भी नहीं आए और णमो सिद्धाणं का विकल्प दूर हो गया, बीच-में क्षणभर के लिए शान्ति ही आपका ध्यान बन गया। कोई भी मंत्र वाचक वाक्य हो चाहे पंचपरमेष्ठी मंत्र हो या बीजाक्षर का ध्यान हो, ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ब्लूं, ऐं, क्रों आदि जो पल्लव हैं इन बीजाक्षरों का ध्यान लगाओ। ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः, क्षां, क्षीं, क्षूं, क्षौं, क्षः, क्रां, क्रीं, क्रूं, क्रौं, क्रः, द्रां, द्रीं, द्रूं, द्रौं, द्रः इत्यादि जो बीजाक्षर हैं, ये सब बीजाक्षर चित्त को स्थिर करने में साधन हैं और जब चित्त की स्थिरता बनती है तब समझना चाहिए कषाएँ शान्त हो रही हैं, विषयों से मन हट रहा है। आगे द्वितीय ध्यान कहा–**'पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्'**

यहाँ पर पिंड शब्द का अर्थ शरीर है, उस शरीर के मध्य में विराजमान अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिए। आचार्य भगवन् वसुनन्दी मुनिराज ने अपने ग्रन्थ वसुनंदि श्रावकाचार में कहा–

सियकिरण विप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेर-परियरियं।
झाइज्जइ जं णिययं, पिंडत्थं जाण तं झाणं।।

अर्थात् श्वेतकिरणों से स्फुरायमान और आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त जो निजरूप अथवा केवली तुल्य आत्मस्वरूप का ध्यान किया जाता है, वह पिण्डस्थध्यान है। ऐसी अत्यन्त शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना कि मेरा इस शरीर से कोई संबंध नहीं, यह आत्मा अत्यंत निर्मल, सूर्य सी दैदीप्यमान है। उस आत्मा के प्रदेशों का प्रचय वा समूह पुरुषाकार है। वह प्रदेशों का समूह अपने ही शरीर में ठहरा हुआ है और उसमें अनेक निर्मल गुण भरे हुए हैं। इस प्रकार शरीर में स्थित अपनी आत्मा का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान की श्रेणी में आता है।

इस ध्यान में पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, मारुति-धारणा, वारुणी-धारणा, तत्त्वरूपवती धारणा भी अन्तर्निहित है। इस प्रकार से जिस ध्यान में निर्मल, नवीन, अमृत से सघन, अतिशय परिपूर्ण ऐसे चंद्रमा के समान पवित्र, ज्ञानलक्ष्मी से आलंगित, सर्वज्ञ के सदृश, सुवर्णमय मेरु पर्वत के किनारे पर अवस्थित होकर समस्त प्रपञ्च रहित हुए, विश्वरूप समस्त पदार्थों के आकार से परिणत व महान् देवों के समूह से अचिन्त्य प्रभाव वाले आत्मा का स्मरण किया जाता है, उसे जिनागम रूप महासमुद्र के पार को प्राप्त हुए गणधर देवों ने पिंडस्थ ध्यान कहा है।

आँख बंद करके बैठे हैं, अपने शरीर के चिन्तन को छोड़कर आत्मा के चिन्तन में डूब गए कि मेरी आत्मा कैसी है। आत्मा के एक-एक गुण का

शब्दों का आलम्बन लेकर चिन्तन चल रहा है। उस चिन्तन के बाद यथार्थ स्थिति पर पहुँचो, यह पिण्डस्थ ध्यान हो गया।

अगला कहा रूपस्थ ध्यान। **'रूपस्थं सर्वचिद्रूपं'** चिद्रूप का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। संसार में जितनी भी चेतनाएँ हैं उन सभी चेतनाओं का स्वरूप, स्वभाव एक जैसा है। आप कहें मेरी ही आत्मा परमात्मा बन सकती है किन्तु भूलो मत संसार की सर्व आत्माएँ सिद्ध-शुद्ध परमात्मा बन सकती हैं। जिस व्यक्ति को हर आत्मा में परमात्मा दिखाई दे जाता है, वास्तव में ज्ञानी तो वही कहलाता है। ज्ञानी कौन है तो आचार्यों ने लिखा है-

विरत्तो कामभोयादो, दुज्झाणादो विवज्जिदो णिच्चं।
सरूवाणंदलीणो, णेव कयावि सीददि जो सो।।

जो विषय-भोगों से विरक्त है, दुर्ध्यानों से रहित है अर्थात् जिस आत्मा में दुर्ध्यान नहीं होता और जो नित्य परम आनन्द में सल्लीन है, वह कभी दु:खी नहीं होता। वह ज्ञानी आत्मा है। जो आत्मा पूर्णत: विषय-भोगों से रहित है, समझो ज्ञानी आत्मा है। जिस आत्मा को कभी कोई दु:खी कर ही नहीं सकता, जो विषयकषायों से रहित स्वात्मोपलब्ध आनन्द को अनुभव करने में समर्थ है, समझो वह ज्ञानी आत्मा है। उस ज्ञानी आत्मा को कदापि भी कोई भी, दु:ख देने में समर्थ नहीं होता।

रूपस्थध्यान में जीव समस्त आत्माओं को आत्मा देख रहा है। शरीर रूप क्षुद्र पर्याय नहीं दिखाई दे रही, बस आत्मा-आत्मा दिखाई देती है।

आचार्य भगवन् देवसेनस्वामी जी ने लिखा है-

यारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देह बाहिरे तह य।
अप्पा सुद्ध सहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं।।623।। (भावसंग्रह)

पिंडस्थ ध्यान में तो अपने ही शरीर में स्थित अपने ही निर्मल व अत्यन्त दैदीप्यमान आत्मा का ध्यान करना बतलाया है। उसी प्रकार शरीर के

बाहर अपने ही शुद्ध, निर्मल, अत्यन्त दैदीप्यमान व शुद्धस्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थध्यान कहलाता है। इसके दो भेद हैं–स्वगतरूपस्थ और परगतरूपस्थ। स्वगत रूपस्थध्यान में स्वयं के शुद्धस्वरूप का तथा परगत रूपस्थ ध्यान में अरिहंत परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का ध्यायक कभी समवसरण में विराजमान अरिहंतप्रभु का ध्यान करता है, उनके गुणों को विचारता है तो कभी योगनिरोध करने वाले केवली का चिंतन करता है।

आगे कहा रूपातीत ध्यान। **'रूपातीतं निरञ्जनम्'** निरञ्जनम् सिद्धों का ध्यान रूपातीत ध्यान है। आत्मा का कोई रूप नहीं है, न गोरी है न सांवली, न नीली, न काली, न पीली। आप कहेंगे, फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि नेमिनाथ भगवान, मुनिसुव्रतनाथ भगवान श्यामवर्ण के, पार्श्वनाथ भगवान हरे वर्ण के, कोई तपाए हुई स्वर्ण वर्ण के, कोई श्वेत तो कोई लाल वर्ण के हैं। भाई! ये शरीर का वर्ण है आत्मा का नहीं, आत्मा तो वर्णातीत है। जो कर्मकालिमा से रहित हैं ऐसे रूपातीत सिद्ध भगवान हैं, उनका ध्यान करना चाहिए।

आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामीजी ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहा–

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीत मिष्यते।।2095।।

अर्थात् जिस ध्यान में शुद्ध–कर्ममल से रहित, अमूर्त और ज्ञानमय शरीर संयुक्त ऐसे चेतन व आनन्दस्वरूप आत्मा का स्मरण किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं।

जिस ध्यान में किसी विशेष पदार्थ का चिंतवन नहीं करना पड़ता, न किसी शब्द वा अक्षर का चिंतवन करना पड़ता है, जिसमें न धारणा है, न ध्येय है और न जिसमें मन का कोई व्यापार होता है, ऐसे ध्यान को

निरालंबध्यान कहते हैं। ऐसा योगी अपनी आत्मा को अपनी ही आत्मा में लीन कर लेता है और अपनी आत्मा के द्वारा उसी अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करता है। भावसंग्रह मे आचार्य भगवन् ने कहा है–

इंदिय विसय वियारा, जत्थं खयं जंति राय-दोसं च।

मण बावारा सव्वे, तं गया रूवं मुणेयव्वं॥630॥

अर्थात् जिस ध्यान में इंद्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते हैं, जिसमें राग–द्वेष सब नष्ट हो जाते हैं तथा मन के सब व्यापार नष्ट हो जाते हैं उसे रूपातीत ध्यान कहते हैं। सिद्धपरमेष्ठी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित, अष्टकर्म से रहित, अष्टगुणों से सहित हैं, जो लोक के शिखर पर विराजमान हैं, अंतिम शरीर से किंचित् न्यून हैं। यद्यपि उनमें क्षेत्र, काल, गति, लिंग, चारित्र, तीर्थ, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या व अल्पबहुत्व की अपेक्षा भेद है, परंतु आत्मगुणों की अपेक्षा उनमें कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार सिद्ध स्वरूप का चिंतन करना रूपातीत ध्यान है।

इस प्रकार यहाँ ध्यान करने की चार विधि बतलाई–पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। मंत्रवाक्यों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। स्वात्मचिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है। सम्पूर्ण चेतनाओं को एक जैसा मानना रूपस्थ स्थान है और सिद्धों का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है। इस प्रकार ये चार ध्यान कहे, जिन्हें हमें और आपको करने का सतत् अभ्यास करना चाहिए, तब ही हम ध्यान के बल से उस परमात्म पद को प्राप्त कर पाएँगे। इस प्रकार संक्षेप में इस कारिका का अर्थ हुआ। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

योगी का कर्त्तव्य

कषायं नोकषायं च, कर्म-नोकर्म ह्येव च।
मनोऽतीन्द्रियसर्वस्व, त्यक्त्वा योगी समाचरेत्॥15॥

अन्वयार्थ–(हि) निश्चय से **(योगी)** योगी **(कषायं)** कषायों को **(च)** और **(नोकषायं)** नोकषायों को **(कर्म)** कर्म को **(च)** और **(नोकर्म)** नोकर्म को **(त्यक्त्वा)** छोड़कर **(मनः)** मन **(अतीन्द्रिय)** अतीन्द्रिय **(सर्वस्व)** सर्वस्व का **(एव)** ही **(समाचरेत्)** आचरण करे।

अर्थ–निश्चय से योगी कषाय, नोकषाय, कर्म और नोकर्म को छोड़कर मन के द्वारा अतीन्द्रिय सर्वस्व का आचरण करे।

व्याख्यान– महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत धर्मध्यान के भेदों का विवेचन किया।

यहाँ इस पंद्रहवीं कारिका में कहा कि ध्यान के लिए कषाय-नोकषाय, कर्म-नोकर्म, इंद्रिय के विषय, मन के जल्प इन सब का त्याग करके योगी समीचीन आचरण में लीन होवे। किसी ने प्रश्न किया कि कषाय के रहते हुए ध्यान क्यों नहीं हो सकता? समाधान–कोई व्यक्ति अग्नि के कुण्ड में कूद जाए तो उसे उसमें शाँति क्यों नहीं मिलती? शीतलता क्यों नहीं मिलती? गैस जल रही है, उस पर तवा रखा हुआ है और व्यक्ति प्रार्थना कर रहा है हे प्रभु! तवा जल्दी ठंडा हो जाए, हे भगवन्! तवा ठंडा हो जाए, तो क्या तवा ठंडा हो जाएगा? यदि कोई व्यक्ति बारिश में खड़ा हो जाए और कहे हे भगवन्! मैं भीगूँ नहीं, फिर भी वह क्यों भीग जाता है?, कोई व्यक्ति

समुद्र-झील-जलाशय के किनारे पर खड़ा होकर कहे हे भगवन्! मुझे जल अवगाहन का आनन्द आ जाए, तो मात्र तटों पर-किनारों पर खड़े होकर जलावगाहन का आनन्द क्यों नहीं आता?

आप सब जानते हैं, आप सभी एक ही उत्तर देंगे जिस वस्तु का अनुभव करना है उसके लिए उसका सेवन करना जरूरी है, उसके विपरीत वस्तु का त्याग करना जरूरी है। शान्ति को प्राप्त करने के लिए अशान्ति को छोड़ना जरूरी है, कषाय, नोकषाय, कर्म, नोकर्म, इंद्रिय विषय और मन के जल्प ये ध्यान और शान्ति के विपरीत चीजे हैं। जिस प्रकार अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते, मुँह फुलाना और ठहाका मारकर हँसना दोनों एक साथ नहीं हो सकते, मोक्षमार्ग पर चलना और संसार में पतित होना दोनों एक साथ नहीं हो सकते, पाप कर्मों को ध्वस्त करना और तीव्रपाप कर्मों का बंध करना एक साथ नहीं हो सकते, पुण्य का दुरुपयोग करना और सातिशय पुण्य का बंध करना भी साथ-साथ नहीं हो सकता। क्षपक श्रेणी चढ़ना और संसार की संवृद्धि करना एक साथ नहीं हो सकते। राग का पोषण करना और वैराग्य का आनन्द लेना एक साथ नहीं हो सकता। इसी प्रकार कषायों के तीव्र उदय में भी निर्विकल्प ध्यान की स्थिति नहीं बन सकती।

कषायों का उपशमन और विषयों से विरक्ति इनका निरन्तर अभ्यास करते रहने से व्यक्ति उसमें दक्ष होता है। अँधा व्यक्ति भी यदि अपने घर से प्रतिदिन लाठी टिकाता- टिकाता मंदिर जाता है तो पहली बार 2-4 जगह टकरायेगा किन्तु साल-दो साल में वह अंधा व्यक्ति भी इतना दक्ष हो जाता है कि वह एक भी जगह नहीं टकराता। उसे आभास हो जाता है कि मैं कहाँ पहुँच गया, मेरे पैर कब, कहाँ पड़ रहे हैं। उसे दिख नहीं रहा फिर भी अभ्यास के बल से वह निपुण हो जाता है।

अभ्यास कैसे हो जाता है? जैसे जल भरने के लिए कुएँ के पाट पर गई कुछ सखियों ने पनघट पर पानी भरा है और अपने सिर पर 4–5 कलशों को रखकर चली आ रही हैं, वे सिर पर रखे कलशों को पकड़ी नहीं हैं और मार्ग में आते हुए संयोग की बात सामने से उनकी बचपन की सखियाँ आ रही हैं। सावन का महीना, सभी अपने–अपने मायके आईं और बहुत दिनों बाद मिलीं। वे आपस में चर्चा करने लगीं, सुध–बुध की बातें करने लगीं। कलश सिर पर रखे हुए हैं, वे सभी अपने ससुराल की बातें करने में लगी और बातें करते–करते हाथ कभी इधर चलाएँ कभी उधर चलाएँ किन्तु कलश फिर भी नहीं हिल रहे। इतने हाथों के चलने के बाद भी उन्होंने अपने आप को ऐसा साध लिया है कि गर्दन स्थिर है। कलशों की कतार ज्यों की त्यों है। योगी भी जब ध्यान का सतत् अभ्यास करते–करते ध्यान में पारंगत हो जाता है तब उसकी स्थिति भी ऐसी हो जाती है।

जब योगी को आत्मध्यान का अभ्यास हो जाता है तब वह बोलता हुआ भी बोलता नहीं है, देखता हुआ भी देखता नहीं है, चलता हुआ भी चलता नहीं है। जब हम लोग अध्ययन करते थे तब साथ में अन्य मित्र भी थे। एक दिन एक मित्र अपने सवाल हल करने में व्यस्त था और टेपरिकॉर्डर बज रहा था, दूसरा मित्र आया उसने कहा भाई! जब तक तू अपने Maths के सवाल को हल कर रहा है तब तक मैं तेरा टेपरिकॉर्डर ले जा रहा हूँ और कहकर चला गया। किन्तु वह मित्र Maths के सवाल को हल करने में इतना व्यस्त था कि उसे याद ही नहीं रहा कि उसका मित्र आया और उससे कहकर टेपरिकॉर्डर ले गया।

दो दिन बाद उसने देखा–मेरा टेप रिकॉर्डर नहीं मिल रहा, उसने अपने Roommate से पूछा, सबने मना कर दिया। वह मित्र जो ले गया था वह

दूसरे कमरे में रहता था। 5-७ दिन बाद वह उसे वापस करने आया तो उसे देखते ही पहला मित्र भड़क उठा—तुम चोर हो, बिना पूछे मेरा रिकॉर्डर ले गए, वह बोला—अरे! इल्जाम क्यों लगाते हो, मैं तो तुमसे पूछकर ही ले गया था। मुझसे कब पूछा? उस दिन जब तुम Maths का सवाल हल कर रहे थे। उसे याद आया हाँ-हाँ ठीक कहा। महानुभाव! वह सवाल करने में इतना व्यस्त था कि मित्र पूछकर ले गया फिर भी ज्ञात नहीं। क्योंकि मन सवाल हल करने में लगा था।

कोई बालक खेलते-खेलते गिर गया। उसने आजू-बाजू में देखा कोई है तो नहीं, थोड़ा ऊँ-ऊँ करके रोया और शांत हो गया, पर जैसे ही घर पहुँचा, माँ की साड़ी पकड़कर रोने लगा। आँसू बहाने लगा। माँ मैं गिर गया था, मेरे यहाँ लग गई, वहाँ लग गई। देखने वालों ने कहा—ये बड़ा बेईमान लड़का है। गिरा था सुबह 11 बजे और रो रहा है शाम को 5 बजे। तब क्यों नहीं रोया? बोला—तुम लोग निष्ठुर थे, तुम लोगों के हृदय था ही नहीं, मैं क्या करता, माँ को देखकर मेरी आँखों में आँसू आए। पीड़ा अपनों को देखकर जाग्रत होती है। उस समय पीड़ा होते हुए भी पीड़ा का अनुभव नहीं क्योंकि उपयोग माँ में लगा हुआ था।

नाटक दिखाने वाला नट रस्सी को दो पोर से बांधता है। पहले रस्सी पकड़कर चल रहा है फिर उसी पर खड़ा होकर नीचे दो बांस का सहारा लेकर चल रहा है, पुनः रस्सी पर बिना बांस के सहारे करतब दिखाता है। रस्सी पर थाली रखता है और उस पर बैठकर खिसक-खिसककर दूसरे पोर तक पहुँच जाता है। फिर वही व्यक्ति अपनी पीठ पर एक छोटे बालक को बिठाता है और थाली पर बैठकर आगे बढता है। ऐसे वह नाना प्रकार के करतब दिखाता है। लोग उसके इस अभ्यास को देखकर बहुत प्रसन्न हुए व

भूरि-भूरि प्रशंसा की। उस नट ने बालक को उतार दिया और सभी दर्शकों से पूछा-भाईयों! मैं इस छोर से दूसरे छोर तक जाना चाहता हूँ, मैं नीचे गिर तो नहीं जाऊँगा? लोगों ने कहा-अरे! कैसे गिर जाओगे? तुम तो वर्षों से अभ्यास कर रहे हो, जब तुम थाली पर बैठकर नहीं गिरे, बच्चे को लेकर नहीं गिरे तो अब कैसे गिर सकते हो। उसने कहा-क्या आप लोगों को पक्का विश्वास है कि मैं नहीं गिरूँगा? हाँ! हमें पक्का विश्वास है, नहीं गिरोगे। वह नट बोला-यदि आप लोगों को मुझ पर विश्वास है तो नीचे खड़े व्यक्तियों में से एक व्यक्ति मेरे पास आ जाए, मैं आपको अपने कंधे पर बिठालकर पार होऊँगा। लोगों में खलबली मच गई, उसने कहा अरे! क्या हुआ, आपको जब विश्वास है तो मेरे कंधों पर बैठने में क्या दिक्कत है। लोगों ने कहा नहीं, हम बैठ नहीं सकते। उस नट ने कहा-बस यही अंतर है विश्वास और श्रद्धान में। विश्वास है पर श्रद्धान नहीं। ध्यान की प्राप्ति विश्वास से नहीं श्रद्धान से होती है। यह विश्वास होने के बाद भी कि ये वीतरागी भगवान ही सच्चे देव हैं, जिनवाणी सच्चे शास्त्र हैं और निर्ग्रंथ गुरु सच्चे गुरु हैं, जब तक आत्मा में से श्रद्धा पैदा नहीं हो रही, आत्मा से आनन्द नहीं आ रहा तब तक चित्त एकाग्र नहीं हो सकता।

महानुभाव! यहाँ कह रहे हैं कषाय के उद्रेक में चित्त एकाग्र नहीं होता। तब व्यक्ति की आँखें लाल हो जाती हैं, भौएँ चढ़ जाती हैं, होंठ फड़फड़ाने लगते हैं, दांत भीचने लगता है किन्तु कषाय शान्त होने पर वही व्यक्ति शान्ति से बैठ जाता है, उसका मन स्थिर हो जाता है। जब मन विक्षिप्त हो तब मन न धर्मध्यान में लगता है न अन्य किसी संसारी कार्यों में, क्योंकि कषाय का उद्रेक है। इसीलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों में से किसी भी कषाय का उद्रेक आ रहा है तब ध्यान

में मन नहीं लगेगा। यदि नोकषाय का भी उदय है हँस रहें हैं, रतिभाव या स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद का भाव है तब भी ध्यान नहीं लग सकता।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने कहा **''ईषदर्थेनञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति''।** अर्थात् किंचित् अर्थ में नञ का प्रयोग होने से किंचित् कषाय को अ-कषाय कहा है। अकषाय ही नोकषाय है। जो मनोवृत्तियाँ कषायों को उत्तेजित करने वाली हैं, उन्हें नोकषाय कहते हैं। इन्हें नोकषाय इसीलिए कहा गया है कि जीवों की स्वाभाविक जन्मजात प्रवृत्तियाँ जो जीवों में उत्पन्न होती रहती हैं, वे स्वयं तो कषायरूप नहीं हैं परंतु इन वृत्तियों के उत्पन्न होने पर मनुष्य इन्हें संतुष्ट करने के लिए रागादि से प्रेरित होकर क्रोधादिक कषायों से मलिन हो जाता है और नाना प्रकार के उद्यम करता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद की अपेक्षा से नोकषाय के नौ भेद हैं। इनके होने पर भी ध्यान की एकाग्रता नहीं बनती है।

आगे कहा **'कर्म नोकर्म च'**, कर्म क्या है? तो आचार्य भगवन् श्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने 'आप्त परीक्षा' में कहा-

''जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादि परिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि"। (आप्त परीक्षा-114/216)

अर्थात् जो जीव को परतन्त्र करते हैं या जिनके द्वारा जीव परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किए जाते हैं, उपार्जित होते हैं, वे कर्म हैं। जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्तियाँ जो कि शुभ वा अशुभ रूप होती हैं उनका निमित्त

पाकर जो पुद्गलपिण्ड आत्मा की ओर आकृष्ट होकर आत्मा में दूध–पानी की तरह घुल–मिल जाता है, उसे कर्म कहते हैं। अथवा कर्म, आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल द्रव्य का ऐसा विभाव परिणाम है जो आत्मप्रवृत्तियों द्वारा आकृष्ट होता है तथा आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही हो जाता है। जिस प्रकार भोजन, विष आदि पदार्थ परिपाक की अवस्था में अपना प्रभाव प्राणियों पर डालते हैं, उसी प्रकार विपाक दशा में कर्म भी आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि तीव्र कर्म का उदय चल रहा हो, चारित्रमोहनीय कर्म का उदय चल रहा हो, तो चित्त स्थिर नहीं रह पाता, ध्यान की स्थिति नहीं बन पाती।

पुनः कहा नोकर्म, इसके कारण भी मन धर्मध्यान में स्थिर नहीं हो पाता। नोकर्म क्या है? संस्कृत भाषा में नो शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, कहीं वह निषेधार्थक है और कहीं ईषदर्थक। यहाँ नो शब्द का प्रयोग ईषदार्थ में हुआ है। जो कर्म के सहकारी होते हुए भी कर्मों के समान आत्मा के गुणों का घात करने में असमर्थ होते हैं अथवा जो आत्मा को गत्यादिक रूप पराधीन नहीं बना सकते, वे नोकर्म हैं। इन्हें नोकर्म कहने का प्रमुख कारण यह है कि वे भावकर्म की भाँति द्रव्यकर्मों के निर्माता नहीं हैं तथा द्रव्यकर्मो की भाँति भावकर्मों की उत्पादक सामग्री नहीं है। उनको स्वतन्त्र कर्म भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, कर्म करते समय और कर्मों का फल भोगते समय ये नोकर्म सहायक बन जाते हैं। नोकर्म के नौ भेद हैं—औदारिक, वैक्रियक और आहारक ये तीन शरीर तथा आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये 6 पर्याप्ति मिलकर नोकर्म कहलाते हैं।

कोई कहे, अरे! क्या करना शरीर का, जो होगा सो हो जाएगा, यह तो पड़ोसी है, पुद्गल है, क्या खाना–पीना। हाँ मत दो, चार दिन भूखे–प्यासे रहोगे तब लगेगा कि बस प्राण कंठ में आ गए। अभ्यास नहीं किया हो तो

एक उपवास में व्याकुलता हो जाती है। अभ्यास नहीं किया तो एक समय का भोजन भी छूट जाए तो व्याकुलता हो जाती है, अभ्यास नहीं किया तो शाम को अच्छे से गरमागरम भोजन तो कर लिया पर पानी कम पीया हो और रात्रि में पानी पीने का त्याग है, तो रात्रि ऐसी लगती है जैसे एक युग ही बीत गया हो। थोड़ी सी भी प्रतिकूलता हुई और मन धर्मध्यान में लगता नहीं है। इसलिए प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलो। आचार्य महोदय ने कहा कर्म-नोकर्म का भी तीव्र उदय चल रहा है, तो धर्मध्यान में मन नहीं लगता।

'मनोऽतीन्द्रिय सर्वस्व' यदि विषयभोगों में मन लगा है, रसना इंद्रिय के विषयों में मन लगा है या घ्राण इंद्रिय, चक्षु इंद्रिय, कर्णइंद्रिय के विषयों में मन लगा हुआ है तब भी मन धर्मध्यान में नहीं लगेगा। क्योंकि यदि उपयोग इन चंचल इंद्रियों के विषयों में चला गया और इनके वश हो गया तो प्रतिकूलताएँ कभी सहन होंगी ही नहीं और धर्मध्यान बनेगा नहीं। अभी तक सहजता-सरलता से चर्या चल रही थी, कषायों की मंदता थी किन्तु ज्यों ही मन दूसरों की तरफ गया अरे! यह तो आराम से इंद्रियसुख के साथ अपना जीवन व्यतीत कर रहा है और मैं ऐसे ही हूँ। अब मन में आ गया मुझे भी अमुक-अमुक सुख सुविधाएँ चाहिए, अब मन एकाग्र हो ही नहीं सकता। इन इंद्रियों की इच्छा पूर्ति करना मानो धर्मध्यान न करने के बहाने हैं। मन को इनकी कठपुतली मत बनाओ, वरना ये आपको संसार मंच में नचाते रहेंगे, जैसे आज तक नचाते आ रहे हैं। दूसरों की वस्तुओं को, उनके भौतिक, इंद्रिय सुखों को देखकर अपना मन डवांडोल नहीं करना, वरना ध र्मध्यान से च्युत हो जाओगे।

योगी इन स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, अनीन्द्रिय मन के विषयों को छोड़कर समत्वभाव में विचरण करे, राग-द्वेष मंद करके अपने परिणामों को

निर्मल करने का भरसक पुरुषार्थ करे। वह योगी अपने बाहर की अनुकूलता नहीं अंदर की अनुकूलता बनाए। बाहर आँधी चल रही है और तुम्हारे घर में अग्नि जल रही है, आंधी को नहीं रोक सकते किन्तु अपने घर की अग्नि को ढांक दो, तुम्हारा घर बच जाएगा। यदि पाल लेकर कहीं आँधी रोकने चले गए तो तुम्हारा घर स्वाहा हो जाएगा। इसलिए अपने चित्त में जो कषायों की अग्नि जल रही है उसे शांत कर लो, दुनिया की अग्नि आपका बालबांका नहीं कर सकती। **'त्यक्त्वायोगी समाचरेत्'** योगी कषाय, नोकषाय, कर्म व नोकर्म इन चारों का त्याग करके मन को अतीन्द्रिय सर्वस्वरूप शुद्धात्मा के ध्यान में लगाए। योगी समत्व में आचरण करे, तभी ध्यान में चित्त में स्थिर हो सकेगा। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्माचरण

आत्मा सत्यं परिज्ञाय, सर्व कर्म परित्यजेत्।
आत्मानन्तत्त्ववद् भावं, ज्ञान कर्म समाचरेत्॥16॥

अन्वयार्थ-(**आत्मा**) आत्मा (**सत्यं**) सत्य है ऐसा (**परिज्ञाय**) जानकर (**सर्व**) समस्त (**कर्म**) कर्मों का (**परित्यजेत्**) त्याग करें (**आत्मा**) आत्मा (**अनन्तत्त्ववत्**) अनन्त है, ऐसे (**भावम्**) भावरूप (**ज्ञानकर्म**) ज्ञान कर्म का (**समाचरेत्**) आचरण करें।

अर्थ–आत्मा सत्य है, ऐसा परिज्ञान करके, सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करें। आत्मा अनन्त है ऐसे भावरूप ज्ञान कर्म का आचरण करें।

व्याख्या–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान के संबंध में व्याख्यान चल रहा है। ध्यान निःसंदेह परिणामों की निर्मलता का कारण तो है ही संक्लेशता का परिहारक, अशुभ का संवर करने वाला, पूर्वबद्ध पाप कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ एवं परम्परा से मोक्ष का कारण है। जब योगी ध्यान में लीन होता है उस समय वह शांत चित्त वाला नियम से होता है। चित्त में अशान्ति चाहे किसी भी प्रकार की हो कषाय-नोकषाय के माध्यम से हो, कर्म के उदय से हो या नोकर्म के माध्यम से हो, अथवा किसी पदार्थ के प्रति राग की तीव्रता के कारण चित्त अशांत हो, चाहे द्वेष की तीव्रता से अशान्ति बने, चाहे चित्त की मलिनता मोह के कारण हो अथवा संसार के अनंतकारण भी संक्लेशता में निमित्त बनें किन्तु ये बात बिल्कुल तय है कि जब आत्मा की

संक्लेशता बनती है तब शुभध्यान छूट जाता है। जब-जब पर पदार्थों में आत्मा संलग्न है, आसक्त है तब-तब धर्मध्यान छूटता है। परपदार्थों के द्वारा अनुभव किया आनन्द या हिंसादि पाप क्रियाओं के माध्यम से माना गया आनन्द, उसका अनुभव दुःखद ही होता है, सुखद नहीं होता।

यूँ तो पढ़ने के लिए संसार के अनंत शास्त्र हैं, बहुत विद्याएँ हैं जिनकी साधना की जाती है, जिनका अध्ययन किया जाता है, विभिन्न कलाएँ हैं जिनमें व्यक्ति निपुण होता है, कला के लिए अभ्यास किया जाता है। 18 महाभाषा एवं 700 लघुभाषा हैं, उनमें दक्षता प्राप्त करने के लिए पुनः-पुनः अभ्यास की आवश्यकता होती है या अन्य किसी भी कार्य में निपुणता हासिल करने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है एवं उचित पुण्य का उदय चाहिए। किन्तु ये सभी 72 कलाएँ, क्रियाएँ, सभी प्रकार की विधाएँ-भाषाएँ ये सभी आत्मकल्याण की नियामक हेतु नहीं हैं। आत्मकल्याण का नियामक हेतु तो धर्मध्यान की निरन्तरता है। धर्मध्यान वृद्धि को प्राप्त होता रहे तो मोह उपशमभाव को प्राप्त होगा।

कषाय की मंदता होने पर ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। सम्यग्दृष्टि होने पर वह देशव्रती या महाव्रती होकर पापादि का परित्याग करे या फिर सम्यक्त्व के अनुकूल वातावरण में रहे। सम्यक्त्व के प्रतिकूल वातावरण में रहने पर संभव है सम्यक्त्व छूट भी सकता है। नहीं छूटा तो मलिन तो नियम से होगा ही। यदि क्षयोपशम सम्यक्त्व है तो। क्षायिक सम्यक्त्व है तो अधिक समय तक वह जीव संसार में डूब नहीं सकता, विषयों में आसक्त नहीं हो सकता, कषायों की तीव्रता के साथ नहीं रह सकता।

आत्मकल्याण की नियामक हेतु ये तीन कलाएँ हैं-1. समीचीन श्रद्धारूप कला 2. समीचीन ज्ञान से परिपूरित कला, 3. समीचीन चारित्र को अंगीकार

करने एवं निर्मल पालन करने की कला। ये जिसके पास हैं चाहे वह एक भी भाषा को नहीं जानता हो, चाहे वह किसी एक भी कला में निपुण न हो, चाहे उसके पास अन्य प्रकार का और कोई हुनर न हो, लौकिक कार्य कोई न किए हों, कोई भी डिग्रियाँ न हों, किन्तु जो अपने चित्त को संभाल सकता है, उसे संसार में कोई पतित नहीं कर सकता।

अपने मन को संभालने के लिए उस व्यक्ति का स्वयं का उपयोग, स्वयं का सहयोग सर्वोत्तम होता है, उसमें उसकी अहम् भूमिका होती है। अपने मन को निर्मल बनाने के लिए वह किसी भी चेतन-अचेतन को निमित्त बना सकता है, वह किसी भी पर्याय को देखकर अपने चित्त को संबोधन दे सकता है। प्रकृति का प्रत्येक परमाणु वीतरागी के लिए वीतरागता का उपदेश दे रहा है, सरागी के लिए सराग का उपदेश दे रहा है, मोही के लिए मोह का उपदेश दे रहा है। किसी भी दृश्य को देखकर अलग-अलग प्रकार के विकल्प मन में आ सकते हैं।

यहाँ पर सोलहवीं कारिका के माध्यम से आचार्य महोदय बता रहे हैं कि किस प्रकार अपने मन को संभालें और किसका चिंतवन करें।

महानुभाव! **'आत्मा सत्यं परिज्ञाय'** आत्मा सत्य है, सत्य थी, सत्य रूप रहेगी। क्या विभाव अवस्था भी सत्य है? हाँ, सत्य है। किन्तु विभाव विभाव की अपेक्षा से सत्य है, स्वभाव की अपेक्षा से नहीं। स्वभाव स्वभाव की अपेक्षा से सत्य है विभाव की अपेक्षा से नहीं। संसारी जीवों में सिद्धों जैसी क्षमता हो सकती है किन्तु वे अभी सिद्ध नहीं हैं। सिद्ध परमेष्ठी को भूतपूर्व नैगम नय की अपेक्षा से संसारी कह सकते हैं किन्तु संसारी हैं नहीं। इसीलिए कई बार विद्वान चर्चा करते हैं कि सिद्धों के पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राण नहीं पाए जाते। जब सिद्धों के प्राण नहीं हैं तो उन्हें

जीव क्यों कहा जा सकता है? सिद्धों के विभाव प्राण भले ही नहीं हैं किन्तु निश्चय प्राण तो हैं, ज्ञानचेतना-दर्शनचेतना। ये निश्चय प्राण संसारी जीवों में भी पाए जाते हैं और निश्चय प्राण जिसके पास हैं उसे अजीव कैसे कह सकते हैं। व्यवहार प्राण के साथ व्यवहार चलता है, व्यवहार प्राण का संयोग मिला जीव जी रहा है, वियोग हो गया तो मृत्यु को प्राप्त हो गया, किन्तु निश्चय प्राण तो शाश्वत हैं।

यहाँ बताया कि आत्मा विभाव की अपेक्षा से भी सत्य है, विभाव अवस्था में और स्वभाव की अपेक्षा से भी सत्य है स्वभाव अवस्था में। यदि हम विपरीत व्याख्यान समझें तो फिर व्याख्यान की नहीं, हमारी गलती है। शास्त्र की गलती नहीं है। अतः हमें व्याख्यान भी समुचित समझना है और समीचीन ही सुनाना है। श्रीराम यदि पिता हैं तो अपने पुत्र-पुत्री आदि की अपेक्षा से हैं, राम पुत्र हैं तो अपने पिता की अपेक्षा से हैं, वे भाई हैं तो भाइयों की अपेक्षा से हैं, पति हैं तो अपनी पत्नी की अपेक्षा से है। जो जिस अपेक्षा से सत्य है उसे उस अपेक्षा से समझें तभी सत्य को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम एक अपेक्षा से ही समझें तो समग्र सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते, और अनेक अपेक्षाओं से भी समझें किन्तु अपेक्षाओं को बदल दें तो भी सत्य छूट जाएगा। नीम कड़वा होता है, रंग की अपेक्षा से नहीं, स्वाद की अपेक्षा से। नीम हरा होता है स्वाद की अपेक्षा से नहीं, वर्ण की अपेक्षा से। जिसकी जो-जो अपेक्षा है हम उस अपेक्षा से वस्तु तत्त्व को समझने की चेष्टा करें।

यहाँ आचार्य महोदय आत्मा के संबंध में बता रहे हैं कि आत्मा सत्य है। इस प्रकार परिज्ञान करके **'सर्वकर्म परित्यजेत्'** सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करें। आत्मा का स्वरूप जिसने एक बार समझ लिया, अनुभव कर लिया, वह त्रियोग की प्रवृत्तियों में रंजायमान नहीं होता। उसे त्रियोग के कर्मों को फिर

छोड़ देना चाहिए। पहले अशुभ को छोड़ता है फिर शुभ भी छूट जाता है। जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया है वह पुण्य में या पाप में लीन नहीं होता। वह पाप को बुद्धिपूर्वक छोड़ देगा तो पुण्य से भी बचने की कोशिश करेगा। जब तक पुण्य कर्म शेष है तब तक मुक्ति नहीं। जिसने मुक्ति के स्वरूप को अनुभव कर लिया है वह पुण्य में भी डूबेगा नहीं। वह सोचता है कि पुण्य-पाप तो संसार में डूबना है, चाहे खारे पानी में डूबो चाहे मीठे पानी में डूबो, डूबकर आत्मा या शरीर स्वतंत्र सांस नहीं ले पाता इसीलिए बाहर निकलकर ही श्वांस ली जा सकती है। गर डूबना है तो आत्मा के सागर में डूबना है। जहाँ पर श्वांस लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अनंतानंत सिद्ध श्वसन क्रिया से रहित हैं।

महानुभाव! अध्यात्म शास्त्रों का केन्द्रबिन्दु आत्मा है। वह आत्मा यद्यपि त्रिकाल शुद्ध है तथापि परद्रव्यों के संसर्ग के कारण अशुद्ध हो रही है। संसार अवस्था उसकी अशुद्ध अवस्था है। ये पर्याएँ जीव और पुद्गल के संयोग से निर्मित हुआ करती हैं। अज्ञानी जीव स्वपर भेदविज्ञान के अभाव में यह जान नहीं पाता कि इस संयोगी पर्याय में आत्म तत्त्व क्या हैं और पुद्गल द्रव्य क्या है। यही कारण है कि अज्ञानी पर्यायों को शाश्वत और सत्य मानकर उसमें प्रीति करने लगता है। उसका यह प्रयत्न सतत् होता है कि चाहे जो कुछ करना पड़े, परंतु पर्याय को कष्ट नहीं होना चाहिए। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि संयोगी पर्यायों को अपनी मानना मिथ्या मान्यता है अत: आत्मा के सत्य स्वरूप को जान लेना चाहिए।

इसीलिए कहा सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि परद्रव्य में अपनत्व का भाव ही प्रीति या राग है। **''रत्तो बंधदि कम्मं''** ऐसा समयसार में आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने कहा कि राग

से कर्मबंध होता है। जब आत्मा सत्य है ऐसी प्रतीति हो जाएगी तो परद्रव्य से आसक्ति का नाश हो जाएगा और राग का विनाश होने पर कर्मबंध नहीं होगा व पूर्वबद्ध कर्म नष्ट हो जाएँगे।

''आत्मानन्तत्त्ववद्भावम्'' आत्मा अनन्त है–ऐसा भाव। आत्मा का न आदि है, न मध्य है और न अन्त है। इसलिए आचार्यों ने आत्मा को अनादिमध्यान्त कहा है। अनादिमध्यान्त अर्थात् अविनाशी है।

आत्मा में अनंतपने के समान जो भाव है उस भाव को जिसने जान लिया तो आँख बन्द करके चिन्तन करो। सर्वप्रथम यहाँ से प्रारंभ करो कि एक क्षण पहले मेरी आत्मा इस शरीर में थी, उसके 10 क्षण पहले, 100 क्षण पहले, मिनट पहले, घंटा, दिवस, मास, वर्ष, कई वर्ष पहले मेरी आत्मा थी, इस शरीर के पूर्व भी किसी अन्य शरीर में मेरी आत्मा थी, उससे भी पूर्व अन्य किसी शरीर में मेरी आत्मा थी, उसके पूर्व लक्षाधिक वर्ष, कोटिवर्ष पूर्व और आगे बढ़ो तो पल्य, सागरों पूर्व भी मेरी आत्मा थी, उसके भी आगे बढ़ो तो असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी पूर्व भी मेरी आत्मा थी, अनंत-अनंतकाल पहले भी मेरी आत्मा थी। मेरी यह आत्मा न जाने कहाँ-कहाँ से होती चली आ रही है। आज भी मेरी आत्मा इस शरीर में है। यह शरीर मैं नहीं, मेरी आत्मा मैं हूँ। अनंतकाल बाद भी मेरी आत्मा रहेगी। यह शरीर निश्चित नहीं है कि कब तक रहेगा किन्तु इस शरीर के बाद भी इस आत्मा का अस्तित्व रहेगा। शरीर तो मिट्टी में मिल जाएगा, शरीर से आत्मा निकल जाएगी, इस शरीर को लोग जलाएँगे, बाँधेंगे, न जाने क्या-क्या करेंगे। फिर आत्मा किसी अन्य शरीर मे चली जाएगी, समय पाकर वह शरीर भी नष्ट होगा।

महानुभाव! कर्मभूमि के मनुष्य व तिर्यंच के लिए आज कोई नियामक हेतु नहीं कहा जा सकता कि यह शरीर इतने वर्ष रहेगा या नहीं रहेगा। विद्याएँ

अपने आपमें सत्य हैं, ज्योतिष विद्या, हस्तरेखा या कुण्डली के माध्यम से आयु का परिज्ञान करते हैं, वह निमित्तज्ञान है, फिर भी कोई कहे कि शत प्रतिशत ऐसा ही है, नहीं कह सकता। अवधिज्ञानी कह सकते हैं, निमित्तज्ञानी अनुमानतः कहते हैं क्योंकि कब किस प्राणी के जीवन में कौन से कर्म का उदय आ जाए, नहीं कह सकते। इस प्रकार जो अनंत पर्यायों के मध्य में अनंत अनस्यूत चली आई आत्मा को जानने में, देखने में समर्थ है, अनंत पर्याय के बाद भी अपनी आत्मा की स्थिति जान सकता है, अपनी आत्मा के बारे में चिन्तन करता रहेगा तो व्यक्ति इस क्षणभर की पर्याय के प्रति रंजायमान नहीं होगा, पाप नहीं करेगा।

अनंतत्त्वपना आत्मा का स्वभाव है, कभी नष्ट नहीं होता। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से कभी नष्ट नहीं हो सकती। पर्याय की अपेक्षा से भी कभी नष्ट नहीं होती और गुण की अपेक्षा से भी कभी नष्ट नहीं हो सकती। आत्मा काल की अपेक्षा से भी अनंत है, द्रव्य की अपेक्षा से भी अनंत है, क्षेत्र की अपेक्षा से भी अनंत है। चाहे वह एकप्रदेश में समा जाए चाहे असंख्यात प्रदेश में रहे किन्तु इस आत्मा के लिए कभी भी क्षेत्र के लिए कमी नहीं आएगी, उस अपेक्षा से आत्मा के साथ अनंतपना सिद्ध है। और भावों की अपेक्षा से भी अनंतपना सिद्ध है। क्योंकि आत्मा में कभी भी ऐसा समय नहीं आया जब इस आत्मा में कोई भाव न हुए हों। चाहे निगोद में रहे, चाहे सिद्धालय में रहे, चाहे संसार में रहे इसमें भाव तो निरंतर चलते ही रहेंगे। यदि किसी जलाशय में जल भरा हुआ है, हवा चलेगी तो लहरें आती ही रहेंगी, उन्हें रोका नहीं जा सकता।

इस प्रकार आत्मा के अनंतपने को जानकर क्या करना चाहिए? **'ज्ञानकर्म समाचरेत्'** ज्ञान कर्म का आचरण करना चाहिए। अविरत सम्यग्दृष्टि, वे

अनुदिशवासी, अनुत्तरवासी अहमिन्द्र तत्त्व चर्चा के माध्यम से ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहते हैं। व्रती (मनुष्य या तिर्यंच) क्रिया करता हुआ ज्ञान की ओर बढ़ता है और योगी ज्ञान में लीन होने की कोशिश करता है। जिसने ज्ञान में अर्थात् आत्मा में लीन होने की कोशिश कर ली वह अपनी आत्मा को शुद्ध रूप में प्राप्त कर सकता है, और जो ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ भी है चाहे अज्ञान, मोह, राग-द्वेष या परपदार्थों में लीन रहने की कोशिश करता है वह संसारमार्गी है। जो आत्मा को आत्मा में लीन करने की कोशिश करता है वही यथार्थ मोक्षमार्गी है। यही आचार्य महोदय का भाव है।

जिसने आत्मज्ञान और राग के मध्यवर्ती अन्तर को समझ लिया है—ऐसे भव्यात्मा को सहजतया ही आत्मतत्त्व में स्थिरता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानमय आचरण जिस आत्मा का बन जाता है, वह आत्मा अपने ऊपर लगे हुए समस्त कलिमलों का उच्चाटन करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मा का कर्तव्य

तस्मात्कर्म परित्यज्य, स्वात्मतत्त्वं समाचरेत्।
आचरितात्म तत्त्वश्च, स्वयमेव परो भवेत्॥17॥

अन्वयार्थ–(तस्मात्) इसीलिए **(कर्म)** कर्मों का **(परित्यज्य)** परित्याग करके **(स्वात्मतत्त्वम्)** आत्म तत्त्व का **(समाचरेत्)** आचरण करें **(च)** और **(आत्मतत्त्वः)** आत्म तत्त्व का **(आचरिता)** आचरण करने से जीव **(स्वयमेव)** स्वयं ही **(परः)** परमात्मा **(भवेत्)** होता है।

अर्थ–कर्मों को छोड़कर, आत्म तत्त्व का आचरण करने वाला जीव स्वयं परमात्मा बन जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव स्वामी द्वारा विरचित ज्ञानांकुश ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान के संबंध में व्याख्यान चल रहा है। आज इस सत्रहवीं कारिका के माध्यम से आचार्य महोदय के शब्दों में भरे हुए रहस्यों को जानते हैं। जैसे मिठाई के डिब्बे को देखकर आँखों में चमक आ जाती है। जैसे कोई महिला रत्नजड़ित आभूषणों के डिब्बे को देखकर खुश हो जाती है, अभी आभूषण नहीं देखे मात्र उस Box को देखकर विश्वास हो गया कि इसमें स्वर्णाभूषण होंगे, खुश हो जाती है। जैसे कोई व्यक्ति निर्धन है, उसे कोई बड़ा पुरस्कार मिलने वाला है, वह पैसे की गड्डी देखकर खुश हो जाता है, अभी पैसे हाथ में नहीं आए किन्तु वह दूर से देखकर या जानकर ही खुश हो जाता है। इसी प्रकार से एक धर्मात्मा

सम्यक्दृष्टि साधक या श्रावक जब देखता है कि ये शब्द धर्म के कारक हैं तो उन्हें उपकारक मानकर के उन शब्दों को सुनकर भी आनंदित हो जाता है।

यदि बालक भूखा हो और माँ उसकी पसंदीदा आहार सामग्री बना रही हो, तो उसे देखकर ही बालक को तृप्ति मिल रही है कि भोजन बनने वाला है। ऐसे ही जब योगी ऐसे शब्दों को सुनता है जिनको वह अपनी विशुद्धि में नियामक कारण समझता है, धर्म के जिन प्रसंगों को, दृश्यों को देखकर सोचता है कि ये निःसंदेह मेरे चित्त की संक्लेशता को, आर्त्तरौद्र परिणामों को दूर करेंगे तो उन शब्दों को, दृश्यों को देखने व सुनने को इच्छुक रहता है। कदाचित् उसे वह नहीं मिल पाता है तो उसे बेचैनी होती है।

1970 के आस-पास जब टेलीविजन हर घर में नहीं थे, या जब सीरियल्स आने शुरू ही हुए थे, तब रामायण या महाभारत जैसे नाटक हर रविवार को प्रसारित होते थे। उस समय ग्रामीण क्षेत्रों में लोग एक जगह एकत्र होकर जहाँ टी.वी. होता था वहाँ बड़े उत्साह के साथ उसे देखते थे। किन्तु जब कभी किसी को, किसी कार्य विशेष से (उस सीरियल के समय) रविवार को वहाँ न होकर कहीं और जाना पड़ता था, तो उस समय उसे बड़ी बैचेनी सी होती थी, उसके मन में चलता रहता था कि इस समय नाटक चल रहा होगा, मेरा तो छूट गया। ऐसे ही योगी को जब संक्लेशता बनती है, तब उसे लगता है कोई मुझे स्वाध्याय सुना दे, मेरा मन किसी महापुरुष के जीवन चरित्र को सुनने का है या चरणानुयोग का ग्रन्थ सुना दो, किसी मुनिराज की चर्या के बारे में बता दो कि वे किस प्रकार अपने महाव्रतों का, समिति का, गुप्ति का पालन करते हैं। दसधर्म का स्वरूप क्या है, बारह भावनाओं का स्वरूप क्या है, 22 परीषह किन-किन मुनिराजों ने कैसे-कैसे जीते, वह सुना दो। कभी वह कहता है कि आज मेरा मन

चंचल हो रहा है इसलिए मुझे करणानुयोग का विषय समझाओ, क्योंकि मेरा मन उसमें ज्यादा एकाग्र होता है। गुणस्थान, कर्मप्रकृतियाँ, बंध, अबंध, बंधव्युच्छुत्ति, उदय-अनुदय-उदयव्युच्छुत्ति, सत्व-असत्व-सत्वव्युच्छुत्ति का चार्ट मेरे मस्तिष्क में खिंचा है अथवा गणित संबंधी विषय सुनाओ, वह मुझे अच्छे लगते हैं। उस समय उसका मन प्रथमानुयोग में न जाकर करणानुयोग में रुचि लेना चाहता है।

कभी उसका मन कहता है मैंने खूब करणानुयोग पढ़ा- पढ़ाया, चर्चा भी की, अब तो हमारा अंत समय आ गया, अब आप हमें आत्मा के बारे में सुनाओ, किसी आध्यात्मिक ग्रन्थ की चर्चा करो, जितना आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य बता सको, बताओ। हमारी आँख कभी भी बंद हो सकती है। हमें तो अभी सिर्फ संसार सागर से तरने की विद्या सीखनी है। जो व्यक्ति समुद्र में तैर रहा है, डूबने की कगार पर है, तब वह यही कहता है कि मुझे जल्दी बताओ कि मैं हाथ कैसे चलाऊँ, उस समय उसे वही जरूरी है। ये जरूरी नहीं है कि मैं कैसे चलूँ। उस समय उसे पथ पर चलने की विधि नहीं सिखाई जाती है।

जिस प्रकार कोई घृत का इच्छुक, दुकान पर जाकर कहे मुझे शुद्ध घी चाहिए। दुकानदार कहे–अरे! घी का क्या करोगे आप मावा ले लो, रबड़ी ले लो, मलाई ले लो, हमारे यहाँ की तो छाछ भी अच्छी है। वो कहेगा–भाई साहब! घर में सब है, पर मुझे इस समय सिर्फ शुद्ध घी चाहिए। चलो ठीक है, मैं आपको भैंस दे देता हूँ। वो दूध देगी, उसमें घी होगा। भैया! मुझे भैंस नहीं चाहिए। मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं पहले भैंस को चराऊँ-खिलाऊँ, प्रसूति करवाऊँ पुनः वह दूध देना प्रारंभ करे। फिर मैं दूध निकालूँगा, उसकी घी तक की प्रक्रिया करने का समय मेरे पास नहीं है। मुझे तो आज ही शुद्ध

घी चाहिए। ऐसे ही गृह अवस्था में समाधि का इच्छुक कहता है, मुझे तो बस अभी आत्मध्यान करना है, वही अध्यात्म चर्चा में डूबकर आनन्द लेना है। अभी कनकपाषाण में से सोना नहीं निकाल पाऊँगा। अभी तो शुद्ध सोना चाहिए, जिसे पिघलाकर के आभूषण बना सकूँ। और शुद्ध सोना भी नहीं, बने-बनाए आभूषण चाहिए। बस आँख बंद कर आत्मचिंतन कर सकूँ। अरे! पहले तो आप कहते थे कहानी सुनाओ वे अच्छी लगती हैं, हाँ कहता था, मैं अपनी दादी-नानी से कहता था, मुझे कहानी सुनाओ। वो जमाना बचपन का था, अब तो पचपन भी पार हो गया, अब कहानी नहीं, कहानी को मैंने स्वयं जीवन में धारण कर लिया है, अब मैं ही कहानी बनने जा रहा हूँ।

महानुभाव! इस सत्रहवीं कारिका में आचार्य भगवन् ने कहा- **'तस्मात्कर्मपरित्यज्य'** सभी प्रकार के (शुभ-अशुभ) कर्मों का त्याग करो। किसी ने प्रश्न किया कि हमने तो शास्त्रों में पढ़ा व ऋषियों से सुना है कि पाप को छोड़ो, पुण्य को करो, आचार्यों ने पुण्य की आज्ञा दी है, चाहे पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने, चाहे महापुराण में जिनसेनाचार्य ने, चाहे अन्य प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में, चाहे चरणानुयोग के शास्त्र में, 'पुण्यं कुरु-पुण्यं कुरु' ऐसा बताते हैं, हाँ, पाप से बचने के लिए पुण्य का सहारा लिया जाता है, जैसे सामने शत्रु वार कर रहा हो तो शत्रु से बचने के लिए हाथ में तलवार ली जाती है और जब अपनी तलवार काम नहीं कर रही हो तो फिर दोनों हाथों में ढाल उठाकर तलवार से बचाव किया जाता है। जब सामने शत्रु ही नहीं है, तलवार भी नहीं है, ढाल को सिर पर लादकर क्या करेंगे। अब ढाल व तलवार को अलग रख दो और शान्ति से बैठ जाओ। ऐसे ही अब मुझे कर्मों को नष्ट करना है, अब पुण्य से भी राग नहीं रहा। अब तो बस विरागता के साथ वीतरागता को प्राप्त करने के लिए मेरा प्रयास है।

जो बालक पहले अलमारी के पहले खन तक नहीं पहुँच पाता था, अब जेसे-जैसे बड़ा होता गया तो दूसरे खन, तीसरे खन तक पहुँचते-पहुँचते अंतिम खन तक पहुँच गया। अब नीचे के खन में रखी वस्तु को लेने की इच्छा नहीं, ऊपर क्या रखा है हाथ बढ़ाकर, पैर उचकाकर उसे लेने की इच्छा है। ऐसे ही जो वृद्ध अवस्था में समाधि को प्राप्त करने की कोशिश करता है, परिणामों को निर्मल बनाने का भाव रखता है, उसके लिए आचार्य महोदय यही कह रहे हैं 'तस्मात् कर्म परित्यज्य' अपने कर्मों का परित्याग करो। शुभ-अशुभ कर्म अभी तक बहुत किया, सभी का भला भी किया और बुरा भी किया। जिसके प्रति राग था, मोह था, उसका खूब भला किया अपना बुरा करके भी उनका भला करना चाहा और जिसके प्रति द्वेष था उनके लिए अपना बुरा करके भी उनका बुरा किया। किंतु अब समझ आ गया कि पर का बुरा करने से मेरा भला नहीं होगा, मेरा भला तो अपना भला करने से होता है और उसमें ही पर का भला हो सकता है।

अतः समस्त कर्मों का परित्याग करके आत्म तत्त्व में समीचीन आचरण करो। आत्मा को परमात्मा बनाने का उत्कृष्ट मार्ग है। समत्व भाव में लीन हो जाना। बस वही स्वरूपाचरण चारित्र है, वही निश्चय से स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति, भक्ति आदि है। यदि वहाँ नहीं ठहर पा रहे हैं मन इधर-उधर जा रहा है तो पुण्यकार्य में लग जाओ। जब रत्नों का व्यापार कर सकते हो तो रत्नों का व्यापार करो, नहीं कर पाए तो सोने का व्यापार कर लो। किन्तु सोने का व्यापार तब मत करो जब रत्नों का व्यापार करने की सामर्थ्य हो।

जिसके यहाँ हीरे का पुश्तैनी काम रहा है, जो अनुभवी है, सब जानता है फिर भी उस हीरे के व्यापार को छोड़कर यदि भूसे का, घास का या लकड़ी का व्यापार करता है तो उसका पिता तो सिर पकड़कर रोता है। अरे पुत्र!

मैंने तुझको जौहरी बनाया है, घास खोदने वाला घसियारा नहीं बनाया। ऐसे ही संभवतः हमारे पूर्वज तीर्थंकर, सामान्यकेवली, गणधरादि, श्रुतकेवली हुए, जिन्होंने हमारे लिए दिया कि इन संहिताओं को पढ़कर के, इन दिशा-निर्देशों के अनुसार हम हीरे का व्यापार कर सकें अर्थात् मोक्षमार्ग पर बढते हुए आत्मध्यान करें। यदि हम वैसा नहीं कर पाते तो उनके निर्देश व्यर्थ चले गए। शास्त्र निर्देश हैं, जिस व्यक्ति को हीरे की पहचान नहीं है उसे पहले काँच की पहचान कराई जाती है फिर नकली हीरे की पहचान कराई जाती है फिर और आगे बढ़ते हुए असली हीरे की पहचान कराई जाती है। पुनः कई प्रकार की किस्मों की जानकारी भी कराई जाती है। यदि कोई उत्कृष्ट होकर भी निकृष्ट कार्य करे, तो ये उचित नहीं है।

महानुभाव! आचार्य महोदय का यहाँ एक ही प्रयोजन है कि जीव अपनी आत्मा में रमण करे। आत्मा में रमण करने वाला संसार में भ्रमण नहीं करता, आत्मा में रमण करने वाला तो निःसंदेह मुक्ति का वरण करता है। और आत्मा में रमण बिना आचरण के नहीं होता, आचरण की प्राप्ति बिना मङ्गलाचरण के नहीं होती। मङ्गलाचरण से करण विशुद्ध होते हैं, इसीलिए जीवन में अपने करण (परिणामों) को सुधारने के लिए मङ्गलाचरण करो। उसी से आचरण की प्राप्ति होगी और आचरण की प्राप्ति हुई तब निःसंदेह आप स्वयं तारण-तरण बन जाओगे, स्वयं भी संसार सागर से पार हो जाओगे और दूसरों को पार कराने के लिए सहारा भी बन जाओगे।

आगे कहा यदि हम आत्मतत्त्व में आचरण करते हैं तो क्या होगा? **'स्वयमेव परो भवेत्'** आप स्वयं ही अपने आप परमात्मा बन जाओगे।। सिद्ध बनने के लिए अरिहंत बनने तक का प्रयास तो किया जाता है। पर अरिहंत से सिद्ध Automatic अपने आप हो जाते हैं। जैसे किसान खेत में

बीज बोता है, उसने पौधा लगाया। प्रथमतः तो पुरुषार्थ है, उसमें खाद-पानी देता है,। पर्याप्त जलवायु दे रहा है किन्तु अब पुष्प को प्राप्त करने के लिए उसको इंतजारी करनी पड़ेगी, अब पुष्प आ गए तो पुष्प में से यूँ फल को खींच नहीं सकता, वे तो अपने आप आएँगे।

संसार में भी कुछ क्रिया पुरुषार्थगम्य होती हैं और कुछ क्रियाएँ स्वभाव से होती हैं। संसार वृद्धि के लिए कोई भी दम्पत्ति प्रारंभ का पुरुषार्थ करते हैं, बाद में नवमास की प्रतीक्षा में कार्य अपने आप होता है, कुछ नहीं करना पड़ता, ऐसे ही मोक्षमार्ग में कुछ कार्य प्रारंभ में उस यति को-उपासक को करना होता है, बाद में आत्मा में रमण करते हुए पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, आत्मा स्वयमेव परमात्मा बनती है। जैसे कनकपाषाण में से सोना निकाला तो पहले पत्थर-पत्थर को जला दिया, सोना रह गया, उस सोने को भी तपा लिया, अब कुछ करना ही नहीं है, तपाते-तपाते अपने आप शुद्ध सोना निकल आएगा। अंधकार को नष्ट करने के लिए दीपक जलाया, अंधकार भाग गया। प्रकाश को बुलाने के लिए अलग से कोई उपाय नहीं करना पड़ेगा। ऐसे ही कर्मों को नष्ट करने का पुरुषार्थ करो, परमात्म पद की प्राप्ति तो अपने आप स्वयं होती है। आप कर्मों को नष्ट कर दो, सिद्ध अवस्था अपने आप प्राप्त हो जाएगी। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

पुण्य की प्रेरणा

पाप कर्म परित्यज्य, पुण्य कर्म समाचरेत्।
भावयेद शुभं कर्म, त्यक्त्वा योगी समाचरेत्॥18॥

अन्वयार्थ–(**पापकर्म**) पापकर्म को (**परित्यज्य**) छोड़कर (**पुण्यकर्म**) पुण्य कर्म का (**समाचरेत्**) आचरण करें। पुण्य कर्म की (**भावयेत्**) भावना करके (**योगी**) योगी (**अशुभम्**) अशुभ (**कर्म**) कर्म को (**त्यक्त्वा**) छोड़कर (**समाचरेत्**) आचरण करें।

अर्थ–पापकर्म का त्याग करके पुण्य कर्म का आचरण करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह पुण्य कर्म की भावना करते हुए अशुभ कर्म को छोड़े।

व्याख्यान–जैनदर्शन में विधि, निषेध और उभय के भेद से तीन प्रकार का उपदेश होता है। इसीलिए जैनधर्म की विशेषता है अनेकान्तमय। अनेक धर्म, अनेक गुण, अनेक विशेषताएँ किसी एक ही पदार्थ में, वस्तु में निवास करते हैं, उन सबको बताने वाला कोई हेतु है, कोई कारण है तो वह अनेकान्त है। 'स्याद्वाद' वह है जो किसी वस्तु के गुण धर्म बताने में दूसरे का विरोध न करते हुए सापेक्ष कथन करता है। स्याद्वाद और अनेकान्त दोनों एक नहीं अलग-अलग हैं। स्याद्वाद कथन पद्धति है और अनेकान्त वस्तु स्वरूप है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है इसलिए कहा कि जैनदर्शन में केवल विधिपरक कथन नहीं है, निषेधपरक भी कथन नहीं है, विधि-निषेध दोनों युगपत कथन भी हैं।

संसार के कई मत ऐसे हैं जो कहते हैं निषेध करते जाओ-निषेध करते जाओ, फिर छोड़ते-छोड़ते जो तुम हो वही रह जाओगे। जब आप लोग

अन्यत्व भावना का चिन्तवन करते हैं तो कहते हैं, यह सब मुझसे अन्य हैं। मेरी आत्मा से वस्तु की भिन्नता है और आत्मा के साथ यदि एक परमाणु मात्र भी रह जाए तो भी कहते हैं कि इससे भी मैं पृथक् हूँ। प्रत्येक कार्माण वर्गणाएँ, भावकर्म, नोकर्म, पुण्य-पाप के फल, इन सबमें अन्यपना है। ये सभी मुझसे अन्य-अन्य हैं। ये पुद्गल किंचित् भी मेरा नहीं है। ये अन्यपना निषेधपरक बात कही जाती है।

एक होता है विधिपरक। आचार्य माघनन्दी स्वामीजी ने कई सूत्रों में विधिपरक बात कही है। सोऽहं, परमात्मस्वरूपोऽहं अनंतज्ञानस्वरूपोऽहं, अनंतदर्शन-स्वरूपोऽहं, अनंतशक्ति स्वरूपोऽहं, अनंतसुखस्वरूपोऽहं। मैं ऐसा हूँ, यह कथन कहलाता है विधि परक। और उभय अर्थात् मैं ऐसा हूँ, ऐसा नहीं दोनों कथन करना। एक ही वाक्य में दोनों बात हो गईं। मैं अचेतन नहीं चेतन हूँ, मैं मूर्त्त नहीं अमूर्त्त हूँ, मैं दुःखी नहीं अनंतसुख वाला हूँ, मैं बादर नही सूक्ष्मगुण वाला हूँ इत्यादि वाक्य।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने अपने ग्रन्थ ज्ञानांकुश में 'बालबोधाय' प्राथमिक क्षेत्र में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों के लिए ये लघु कृति बनाई है। यह प्रवेशिका है इसीलिए उन्होंने अपनी बात को समझाने के लिए विधि-निषेध व उभय रूप में कथन किया। क्योंकि उनका मानना है कि आध्यात्मिक विद्या विश्व की सबसे जटिल विद्या है, इससे जटिल विद्या दूसरी कोई नहीं है। उस विद्या को प्राप्त करने के लिए सभी अनजान हैं, बालक हैं। यदि आचार्य महोदय कामशास्त्र या कामसूत्र लिखते तो संसार के सभी व्यक्ति तो पहले से ही उसमें निष्णात हैं, निपुण, प्रवीण हैं। वे कितनी भी क्लिष्ट भाषा लिखते, व्यक्ति उनका अर्थ लगा लेता, वहाँ तक पहुँच जाता कि क्या बात कही जा रही है किन्तु आध्यात्मिकता की बात को एक बार नहीं, आचार्य वीरसेन स्वामीजी तो कहते हैं कि 100 बार भी बताते हैं तब भी विस्मृत हो जाती है।

रेगिस्तान में जहाँ बालू पड़ी हो, हवा चल रही हो, कोई व्यक्ति वहाँ बालू से बार-बार लकीर खींचे तो हवा चलते ही लकीर मिट जाती है। ऐसे ही आत्मा में आध्यात्मिकता के संस्कार या धर्म की बातें उकेरी जाती हैं जिससे चित्त स्थिर हो जाए किन्तु पुनः एक कुसंस्कारों की आँधी आती है और वे संस्कार मिट जाते हैं। अपनी आत्मा को पत्थर जैसा बना लो। इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामीजी ने कई जगह लिखा है 'टंकोत्कीर्ण' अर्थात् उत्कीर्णवत्। जैसे पाषाण पर उकेरा जाता है। यदि अपनी आत्मा को जल जैसा मान लिया, तो चाहे कितने भी संस्कार दो, यहाँ देते रहे, वहाँ नष्ट होते गए।

बालू पर लिखे संस्कार थोड़ी देर से नष्ट होते हैं, मिट्टी या भूमि पर लिखे और थोड़ी देर से नष्ट होते हैं किन्तु पत्थर पर उकेरे हुए संस्कार सुदीर्घकाल तक नष्ट नहीं होते। इस आत्मा को पाषाण नहीं पाषाण से भी अधिक मजबूत धातु मानकर चलो। ज्ञान की छैनी से व संयम के हथौड़े से चोट मार-मारकर इस आत्मा पर आध्यात्मिकता की इबादत उकेर दो। आध्यात्मिकता के संस्कार उसमें भर दो। ये संस्कार Automatic भरे जाते हैं, जैसे जलेबी में रस Automatic भर जाता है, नारियल में पानी Automatic आ जाता है, मालूम नहीं चलता, ऐसे ही आत्मा में संस्कार Automatic आएँगे। ये तो विद्वानों की भाषा होती है कि इसे ऐसे ग्रहण करो, ऐसे रखो। ये शब्दों का व्यापार है, इसे तो अनादिकाल से करते चले आ रहे हैं, अब तो थोड़ा भावों का व्यापार कर लो।

योगी, संत, महंत कहते हैं–रे जीव! द्रव्य का व्यापार करते-करते तो तूने अनंतकाल व्यतीत कर दिया, अब भावों का व्यापार करो। द्रव्य के व्यापार में तो जब देखो तब घाटे का सौदा है क्योंकि यदि भाव घट गए तो कितना भी द्रव्य हो लुट गए, मिट गए, बर्बाद हो गए। घाटा इतना लग गया कि जो मूल पूँजी थी वह भी नष्ट हो गई और भावों का व्यापार करोगे तो कम में

खरीदूँगा ज्यादा में बेचूँगा। वस्तु कोई भी हो, कितनी भी हो, ये मुनाफे का सौदा है, घाटा कभी होना ही नहीं। इसीलिए अशुभ भावों का परित्याग करो, अशुभ भावों के परित्याग से अशुभ कर्मों का भी परित्याग करना पड़ेगा।

महानुभाव! आज तो आपने अपने खेत में से झाड़-झंकड़ के पेड़ों को काटकर अलग कर दिया किन्तु ऐसा ना हो वे बाद में फिर हरे-भरे हो जाएँ। फिर क्या करें-महाशय जी? आपने पहले झाड़-झंकड़ अलग तो कर दिए किन्तु पुनः बाद में वे ही बीज फिर से बो दिए। बीजों में काँटे नही होते। यदि बीजों में काँटे लगने लगें तो व्यक्ति वैसे बीज बोये ही नहीं अर्थात् जिस समय व्यक्ति पाप का भाव कर रहा है उस समय ही पाप के फल की अनुभूति हो जाए तो वह न पाप का भाव करे और न पाप का कार्य करे। बीजों में पुष्प नहीं होते, बीज में गंध नहीं होती। यदि गंध होती तो व्यक्ति लपककर सुगंध वाले बीज बो देता। बीज में फल का स्वाद भी नहीं आता। आम की गुठली में आम का स्वाद आता है क्या? अथवा अंगूर के बीज में अंगूर का स्वाद आता है क्या? यदि बीज में फल का स्वाद थोड़ा भी आने लगे तो व्यक्ति पुण्य के कार्य को लपककर करे, किन्तु ऐसा नही होता। भैंस खरीदने पर घी का स्वाद कभी नहीं आता, भैंस को खरीदने से दूध, दही, मावा का स्वाद नहीं आता। जब भैंस को चारा खिलाते हैं, उसकी सेवा की जाती है, दूध दोहा जाता है, गर्म किया जाता है तब उस दूध का जो बनाना हो बनाइए।

यहाँ आचार्य महोदय पाप का त्यागकर पुण्य कर्म व पुण्य भावना की प्रेरणा दे रहे हैं। क्योंकि पुण्य और पाप में महान् अंतर है। दोनों के अंतर को स्पष्ट करते हुए आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी जी ने कहा-

हेतुकार्यविशेषाभ्यां, विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतू शुभाशुभौ भावौ, कार्ये चैव सुखासुखे॥

-(तत्त्वार्थसार-4/103)

हेतु और कार्य की विशेषता होने से पुण्य और पाप में अंतर है। पुण्य का हेतु शुभभाव है, पाप का हेतु अशुभभाव है, पुण्य का कार्य सुख है पाप का कार्य दु:ख है। साधनामार्ग की दृष्टि से विचार करने पर शुभ के द्वारा अशुभ का विनाश किया जाता है तथा शुद्धस्वभाव में रत रहने का प्रयत्न करते हुए शुभ के विकल्प से मुक्त हुआ जाता है।

आचार्य महोदय ने सर्वप्रथम कहा 'पाप कर्म परित्यज्य' पापकर्म को छोड़ो, पाप क्या है? **''पाति रक्षत्यात्मानमस्माच्छुभ-परिणामादिति पापं मतम्''** अर्थात् जो आत्मा को शुभ परिणामों से बचावे, वह पाप है। जो आत्मा को आत्मा के हितकर कार्यों से दूर रखे, वह पाप है। जो आत्मा को आत्मतत्त्व के ध्यान से विमुख कर दे, जो आत्मा को कर्मकलंक से कलंकित कर दे, जो आत्मा को सन्मार्गी न बनने दे, जो आत्मा को मोक्ष जाने से रोके वह है पाप। यही है पाप का समीचीन परिचय। और पुण्य क्या है? तो तत्त्वार्थवृत्ति में कहा–

कर्मणः स्वातन्त्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्''–कर्म की स्वातन्त्र्य विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है वह पुण्य है। उसी पुण्य कर्म के आचरण की आचार्य महोदय यहाँ प्रेरणा दे रहे हैं।

आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामी जी ने तो कहा–

पुण्यं कुरुष्व कृत पुण्य मनीदृशोऽपि, नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै।
संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मिः, पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम्।।31।।

–(आत्मानुशासन)

हे भव्यजीव! तू पुण्य कार्य को कर, क्योंकि पुण्यवान् प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता, इतना ही नहीं, बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिए सम्पत्ति का साधन बन जाता है। देखो, समस्त

संसार को संतप्त करने वाला भी सूर्य कमलों में विकासरूप लक्ष्मी को ही करता है।

महानुभाव! संसारी प्राणियों को पुण्य मित्रवत् है। जैसे मित्र बुरे कार्य से छुड़ाकर अच्छे मार्ग में लगा देता है, यह पुण्य भी जीव को मोक्ष जाने के लिए हस्तावलंबन के समान है और पाप आत्मा का सर्वस्व हरण कर पतन की तरफ ले जाने वाला है।

इसीलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि पाप भावनाओं का त्याग करने के लिए पाप क्रियाओं का त्याग करो, जिससे शनै–शनैः सावद्य वचनों का भी त्याग हो जाएगा। यदि सावद्य वचन छूट गए तो आपके दुर्विचार छूट जाएँगे, दुर्विचारों के नष्ट होते ही आत्मा की अशुभ परिणति शुभ की ओर आ जाएगी, उस परिणति से आपकी सत्ता में बैठी हुई पाप प्रकृतियाँ संक्रमित होकर के पुण्य रूप परिणत हो जाएँगी और जब वे पुण्य रूप परिणत होंगी तो पुण्य रूप ही फल देंगी। पुण्य का फल मिलेगा और वर्तमान मे भी परिणाम पुण्य के हैं तो भविष्य के लिए भी पुण्य का बंध होगा और यदि उसमें कोई आकांक्षा–निदान आदि नहीं है तब वह पुण्य परम्परा से आप सभी के लिए शिवपथ का साधक बनेगा, कारक बनेगा।

महानुभाव! आचार्य महोदय यही बताना चाहते हैं कि आपको बुद्धि से कार्य लेना है। जब तक अपनी बुद्धि को जाग्रत नहीं करोगे तब तक आप समझ नहीं पाओगे, रट्टू तोता बन जाओगे। रट्टू तोता बनने से कुछ नहीं होगा, वह तो यही कहता है शिकारी आता है, जाल बिछाता है, दाने का लोभ दिखाता है, हमें लोभ नहीं करना चाहिए, जाल में नहीं फँसना चाहिए। यदि शब्दों को रटेगा तो जाल में फँस ही जाएगा, बच नहीं पाएगा। इसीलिए विवेक को जाग्रत करो। ये मत बताओ अग्नि ऐसी होती है, दीपक का प्रकाश ऐसा होता है, अरे! इसका व्याख्यान करना जरूरी नहीं है, इसका तो

सीधा परिचय कराओ कि ये प्रकाश है। जब प्रकाश हो जाएगा तो अँधेरे में गुमी सुई को भी देख लेगा। सुई के छेद को भी देख लेगा, उसमें धागा भी डाल देगा। और यदि घंटों तक व्याख्या करते रहे कि प्रकाश ऐसा होता है, वैसा होता है, पीला होता है, हंस जैसा श्वेत होता है तो इन सभी व्याख्याओं से कुछ भी होने वाला नहीं है। प्रथमतः तो आँखों में रोशनी आनी चाहिए, जिसकी आँखों में रोशनी होती है उसके लिए ही बाहर के सूर्य का प्रकाश कार्य करता है, यदि नयनों में ज्योति नहीं है तो कितना भी प्रकाश हो, सब बेकार है।

हर सहारा बेअमल के वास्ते बेकार है।
गर आँख ही खोली नहीं तो कोई उजाला क्या करे।।

महानुभाव! अपने अंदर विवेक का दीपक जलाओ अर्थात् अपनी चेतना के गृह में वह विवेक का दीपक जलाओ जिससे कि किसी से पूछना नहीं पड़े कि इसका स्विच कहाँ है। कहने का अभिप्राय यही है कि पाप कर्म का त्याग करके पुण्य कर्म का आचरण करना चाहिए। मनसा, वाचा, कर्मणा पुण्य क्रिया करनी चाहिए और 'अशुभं कर्म त्यक्त्वा' अशुभ कर्म का परित्याग करके 'योगी समाचरेत्' योगी समभाव में आचरण करें। आचार्य महोदय ने माँ के समान करुणा बुद्धि से सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया, आप भी इसे समझने का प्रयास करें। पापकर्म, पापवचन, निंद्यभाव, पापरूप परिणति का त्याग करें। शुभ कर्म, शुभवचन, शुभविचार व शुभ परिणति को स्वीकारें, तभी हम अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हो सकेंगे। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मा का स्वरूप

अनन्तज्ञान मेवाहं, मनोवाक्काय वर्जितम्।
अव्यय विकलं शुद्धं, तत्पदं शुद्ध सम्पदाम्॥19॥

अन्वयार्थ–(अनन्तज्ञानं) अनंतज्ञान **(एव)** ही **(अहम्)** मैं हूँ। और मैं **(मनः)** मन **(वाक्)** वचन और **(काय वर्जितम्)** काय से रहित हूँ। **(अव्यय)** नाश से **(विकलं)** रहित हूँ **(शुद्धम्)** शुद्ध हूँ और **(तत्)** उन **(शुद्ध सम्पदाम्)** शुद्ध-सम्पदाओं का **(पदं)** पद हूँ।

अर्थ–मैं अनंतज्ञान सम्पन्न हूँ। मैं मन, वचन, काय से रहित हूँ, अविनाशी हूँ, मै शुद्ध हूँ और शुद्ध सम्पदाओं का स्थान हूँ।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत हम ध्यान की व्याख्या, ध्यान की भूमिका, आत्मा का स्वरूप, अन्य द्रव्यों का स्वरूप, आत्मा की विशेषता, आत्मा के स्वभाव आदि को देख रहे हैं। कोई राजकुमार अपने माता-पिता से बिछुड़ गया और भीलों की बस्ती में पहुँच गया। वह वहीं उनके साथ रहने लगा, शिकार खेलने लगा, गंदे पदार्थों का सेवन करने लगा। वह राजकुमार था इसलिए उसमें सात्विक शक्ति पर्याप्त थी, किन्तु भीलों के साथ रहकर के चण्ड शक्ति भी आ गई, जिससे उसका अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति का दुःसाहस हो जाता था। उसे भीलों की बस्ती में रहते हुए काफी समय हो गया वह भीलों की बस्ती में रहता तो था किन्तु अंदर से उसे ऐसे लगता था जैसे मेरा कुछ छूट गया हो, अच्छा नहीं लगता था। भील कहते थे हम सब तुम्हारे साथी हैं, तू भी हम जैसा ही है, ये तेरे माता-पिता हैं इत्यादि। कुमार उस

समय तो मान लेता था किन्तु जब अकेला बैठता था तब उसके मन में विचार आता था कि नहीं, तू यहाँ का नहीं है, कहीं और जगह का है, तेरी कुछ विशेषता है।

काँच के ढेर में एक हीरा डाल दिया जाए तो वह अपनी विशेषता दिखा नहीं पाता क्योंकि सूर्य का प्रकाश है, काँच भी चमक रहा है और हीरा भी चमक रहा है। किन्तु जब सूर्य का प्रकाश विलुप्त हो जाए तो काँच के टुकड़े नहीं चमकेंगे, हीरा ही चमकेगा, उससे पहचान हो जाएगी। वह राजकुमार भी सोच रहा है कि मेरी पहचान कैसे हो। एक दिन अचानक उनकी बस्ती के किनारे जो नदी थी उसमें बाढ़ आ गई। नदी पार होने के लिए जो नाव बनायीं थीं वह नाव पलट गईं और वे भील किनारे तक पहुँचने में असमर्थ हो गए, किन्तु राजकुमार ने साहस नहीं खोया और वह तैरकर पार हो गया। इससे उसे विश्वास हो गया कि मैं इन सबसे कुछ विशेष हूँ।

वह राजकुमार जब नदी को पार कर उधर पहुँचा तो लौटकर इधर नहीं आया, आगे बढ़ता चला गया। उसे उस स्थान को देखकर लगा कि मैं इस स्थान पर पहले कभी आया हूँ, जैसे कई वर्षों पुरानी उसकी सुगंध उसे उसका आभास करा रही हो। वह आगे एक वृक्ष की छांव तले सो गया। भूखा-प्यासा तो था ही, उठकर वृक्षों से फल खाकर अपनी क्षुधा को शांत किया और आगे चला गया।

एक बार जब वह सो रहा था तब किसी पथिक ने उसे देखा और सोचने लगा कि यह कोई अच्छा सा व्यक्ति लगता है, इस तरह जंगल में क्यों भटक रहा है। इसका भेष तो आर्य जैसा नहीं है किन्तु इसकी मुखाकृति और इसके संस्कार ऐसा लगता है कि ये आर्य होना चाहिए। और तभी उस पथिक ने सोचा इसकी सहायता करनी चाहिए और इसे इसके घर तक पहुँचाना चाहिए।

उस बालक के गले में एक कपड़े में लिपटा ताबीज था, उसने उसे खोला और देखा कि उस ताबीज में राजमुद्रा की छाप थी, जिसे देख वह समझ गया कि हो न हो यह किसी राजघराने का पुत्र होना चाहिए। यदि इसे मैं यथायोग्य स्थान पर पहुँचा दूँगा तो निःसंदेह बड़ा अच्छा पुरस्कार मिलेगा।

उसने उस बालक को जगाया और कहा—आप तो राजघराने से संबंध रखते हो, चलो मैं आपको जंगल के बाहर तक का रास्ता पार करा देता हूँ, कहीं आप जंगल में भटक न जाएँ। जब दोनों जंगल के पार आ गए तब पथिक ने उस बालक से कहा—हमारा नगर दूसरी दिशा में है, आप यहाँ से अमुक-अमुक दिशा की ओर चले जाइएगा। अब वह बालक अपने महल के आस-पास चक्कर लगा रहा है, चक्कर लगाते-लगाते उसको बहुत समय हो गया किन्तु महल तक नहीं पहुँच पाया। वह जानता तो था नहीं कि मेरा राजमहल कहाँ होगा, कैसा होगा, किस प्रकार का होगा। अब वह आस-पास के व्यक्तियों से पूछता है कि यहाँ का राजा कैसा है, उसका महल कैसा है, महारानी कैसी है, उनका वैभव कैसा है, उनका राजकुमार कैसा है, उसमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं इत्यादि प्रश्नों को पूछता है। जब सब जानकारी उसे मिलती है, सब विशेषताओं को सुनता है, तो वे सभी विशेषताएँ उसे अपने अंदर भी दिखती हैं और वह महल की ओर चला जाता है। पहरेदारों ने उसे रोका, किन्तु उसने उन्हें अपने ताबीज में अंकित राजमुद्रा दिखाई और महल में प्रवेश किया। राजा ने अपने पुत्र को प्राप्त किया और नगर में युवराज पद की घोषणा करा दी। लोगों ने उसे सर्वलक्षणों से एवं राजमुद्रा से पहचान लिया कि यही राजपुत्र है।

महानुभाव! यह बात किस राजपुत्र की है मैं नहीं जानता किन्तु इसके पीछे जो तथ्य छिपा है उसे जानने की चेष्टा करें। हम सब राजपुत्र हैं, सिद्धों

के वंशज हैं। हम सब भी भविष्य के सिद्ध हैं, इस संसार की अटवी में भटक गए हैं। जो आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार संज्ञाओं में लीन हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ में आसक्त हैं, पाँच पापों में सने हुए हैं, ऐसे इन संसारी प्राणियों के मध्य हम फँसे हुए हैं। यदि हम साहस करते हैं, तो इस संसार रूपी कुनबे को छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। जब आगे बढ़ने के पुरुषार्थ का भाव मन में आता है तब जिनके प्रति हमारे चित्त में अनंत स्नेह था, निस्सीम राग था, उनको भी छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। जब हमने अपने हित की सोच ली तब परिवारी जन के आँसू भी हमें रोक नहीं पाते। ज्यों ही हम आगे बढ़े तो हमें निर्ग्रंथ गुरु रूपी पथिक मिले, वे पथिक सोचते हैं कि हमें कल्याण के मार्ग पर लगाएँ, इस भव्य को इसके गृह तक पहुँचा दें।

महानुभाव! ज्यों ही गुरु का व माँ जिनवाणी का सान्निध्य मिलता है, बोध प्राप्त होता है, तब हमें लगता है कि हम भी भव्य हैं, अरिहंत हैं, हमारा राज्याभिषेक होगा, हम भी अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर अरिहंत बनेंगे पश्चात् अपने सिद्धत्व को प्राप्त करके पूर्ण राजा बनेंगे। आचार्य महोदय यही बता रहे हैं कि जब तक हमें अपना पूरा परिचय प्राप्त नहीं होता है और जब तक अपना परिचय प्रमाणित करने के लिए कोई प्रूफ नहीं होता है तब तक हम भटकते रहते हैं। ज्यों ही हमें साक्ष्य मिल जाते हैं सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान की राजमुद्रा मिल जाती है तो सिद्ध हो जाता है कि हम राजकुमार है और तत्काल ही सम्यक्चारित्र की ड्रेस प्राप्त हो जाती है। उसको प्राप्त करने के लिए राजा स्वयं आदेशित करेगा कि इसको तो अब सम्यक्चारित्र की ड्रेस धारण करनी चाहिए और रत्नत्रय को धारण कर सिद्धों का राज्य उसे प्राप्त हो जाता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने इस कारिका में आत्मा के लिए पाँच विशेषणों का प्रयोग किया। पहला **'अनन्तज्ञान सम्पन्न'** मैं अनंतज्ञान सम्पन्न हूँ। केवलज्ञान अनंत प्रदेशी आकाश द्रव्य को अपना विषय बनाता है। केवलज्ञान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबंधी सीमा नहीं है, अतः केवलज्ञान अनंत है। आत्मा केवलज्ञानमय होने से अनंतज्ञान सम्पन्न है। कोई कहे हमें केवलज्ञान की प्राप्ति तो अभी हुई नहीं है तो क्या ऐसा चिंतन करना मिथ्या नहीं कहलाएगा। बात यह है कि चिंतन या कथन का काम केवलज्ञान का नहीं, अपितु मति आदि क्षायोपशम ज्ञान का है। आत्मा का चिंतन जिस प्रकार का होता है, आत्मा उसी रूप से परिणमन करने लगती है। ऐसे चिन्तन से उपयोग स्थिर रहता है। आत्मा के गुणों को कथन करने की विधियाँ दो प्रकार की हैं पहली 'व्यक्तरूप' जो गुण वर्तमान में प्रकट हैं वे गुण; दूसरी 'अव्यक्तरूप' जिनगुणों का अस्तित्व स्वभाव में तो है किन्तु अभी उनकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, इन्हें शक्तिगत गुण भी कहते हैं।

आत्मा में जो केवलज्ञान नामक गुण है वह प्रत्येक आत्मा में शक्ति रूप से आज भी विद्यमान है। अतः मैं अनंतज्ञान सम्पन्न हूँ ऐसा कथन या चिंतन करना मिथ्या नहीं है। दूसरा पक्ष यह भी है कि आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य संबंध है। अतः ज्ञान कहो अथवा आत्मा कहो, एक ही बात है। ज्ञान ज्ञेय को ग्रहण करता है और ज्ञेय अनंत प्रदेशों में व्याप्त, अनन्त गुण-पर्यायों से समन्वित छह द्रव्य हैं। जब ज्ञेय अनंत है तो उनको जानने वाला ज्ञान भी अनंत है। अतः ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा आत्मा को अनंतज्ञान सम्पन्न कहा है।

जब एकान्त में, जंगल में, निर्जन वन में, शिलातल पर बैठकर या किसी वृक्ष के तले आँख बंद करके ध्यान लगाते हैं, तब स्वयं को अनुभूति हो जाती

है कि 'अनंतज्ञान मेवाहं' मै अनंतज्ञान स्वरूप हूँ। यदि अनुभूति हो गई तो इसे संसार का कोई भी प्राणी छीन नही सकता। केवल वस्तुएँ छीनी जा सकती हैं अनुभूतियाँ नहीं। शब्द छीने जाते हैं, कोई विचारों को भी छीन सकता है, शरीर को भी छीन सकता है, किन्तु अनुभूतियों को कोई नहीं छीन सकता। अनुभूति स्वयं की निजी पूँजी है।

और कैसा है मेरा आत्मस्वरूप–**'मनोवाक्कायवर्जितम्'** मन-वचन-काय से रहित। मैं मन से रहित हूँ, तो क्या मैं असंज्ञी हूँ? नोसंज्ञी नोअसंज्ञी। हमारा शुद्ध स्वभाव संज्ञी-असंज्ञी इस व्यवहार से रहित है। मन क्षयोपशम भाव है, उससे चिन्तन किया जाता है, मुझे मन की क्या आवश्यकता? अरे! बाहर के वाहन का, टैक्सी का, बस, रिक्शे का सहारा तो वे लें जिसे पृथ्वी पर चलना हो, नाव का सहारा वो ले जिसे जल में चलना हो, मुझे तो अपनी उड़ान अनंत आकाश में भरनी है, और मेरे पास तो Automatic आध्यात्मिक गगन में उड़ने वाला वायुयान है, मुझे अन्य वाहनों की क्या आवश्यकता। ऐसे ही अब मुझे उस मन की क्या आवश्यकता जब मैं आत्मा के अनंतज्ञान को अनुभव से जान चुका हूँ।

मैं वचनों से भी रहित हूँ। वचन सयोगकेवली अवस्था तक होते हैं। जब तक शरीर है तब तक भाषा समिति, भाषा पर्याप्ति एवं वचन बल है किन्तु उसके आगे मेरा वह स्वभाव नहीं है। और काय अर्थात् शरीर भी मैं नहीं हूँ। कौन सा शरीर नहीं हूँ? औदारिक भी नहीं, वैक्रियक भी नहीं। तो क्या आहारक शरीर हूँ? वह भी नहीं हूँ। अरे! क्यूँ नहीं हूँ, वो तो मुनिराज के होता है न? तो क्या हुआ, मैं मुनि नहीं हूँ। मुनि होकर भी आप ऐसा कैसे कह रहे हो कि मुनि नहीं हूँ। हे आत्मन्! यह तो व्यवहार की भाषा है निश्चय में तो 'मैं जो हूँ सो हूँ।'

व्यवहार में लोग सिद्धात्मा, परमात्मा जो चाहे सो कहते रहो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है, किन्तु मैं जो हूँ सो हूँ। ये सब मेरी व्यवहारगत अवस्थाएँ हैं, पर्यायगत विशेषताएँ हैं किन्तु मैं मन रूप नहीं हूँ तो मन के विचार मेरा स्वभाव नहीं हैं, मैं वचन रूप नहीं हूँ तो बोलना मेरा स्वभाव नहीं हैं, मैं शरीररूप भी नहीं हूँ तो शरीर को छोड़ना-प्राप्त करना मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तैजस-कार्माण शरीर रूप भी नहीं हूँ। किन्तु तैजस शरीर तो कांति देता है? हाँ, वह शरीर को कांति देता है आत्मा को नहीं। मुझे आत्मा की कांति-शान्ति चाहिए शरीर की नहीं इसलिए तैजस मेरा स्वभाव नहीं है। कार्माण शरीर रूप तो हो न? ये ही तो आपको सर्वत्र ले जाएगा, संसार में यही तो भ्रमण कराता है। ये तो फ्री का ड्राइवर और वाहन है फिर भी आप कह रहे हो कि नहीं चाहिए। हाँ, ये भी मेरा स्वभाव नहीं है। फिर आप सिद्धालय में कैसे जाओगे? सिद्धालय तो मेरा घर है। जब कर्म मेरा पिण्ड छोड़ देंगे तब मैं स्वयं ही स्वभावतः ऊपर चला जाऊँगा यह कर्म ही मुझे बार-बार इधर-उधर घुमाकर ले जाता है, मैं तो शीघ्र ही यहाँ से छूटना चाहता हूँ, जैसे कोई गाय को रस्सी बांधकर ले जा रहा है, वह उस रस्सी को कभी यहाँ खींचता है, कभी वहाँ खींचता है, इधर-उधर ले जाता है, गाय सोचती है एक बार ये रस्सी मेरे से छूट जाए तो मैं सीधे अपने घर को जाऊँगी। ऐसे ही एक बार कर्मों का बंधन टूट जाए तो ऋजुगति से मैं सीधा सिद्धालय में पहुँच जाऊँगा और फिर वहाँ से कभी नहीं आऊँगा।

महानुभाव! मेरा स्वभाव मन से व मन के कार्यों से, आलाप, शिक्षा, उपदेश, निर्देश लेने-देने से भी रहित है। मेरा स्वभाव सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन वचनों को बोलने व सुनने से भी रहित है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित हूँ और शरीर व शरीर की समस्त क्रियाओं से भी रहित हूँ।

तृतीय विशेषण दिया **'अव्यय विकलं'** अर्थात् आत्मा अविनाशी है। द्रव्य अविनाशी ही होते हैं। आचार्य भगवन् उमास्वामी जी ने भी लिखा **'नित्यावस्थितान्यरूपाणि'** द्रव्य नित्य, अविनाशी और अरूपी होते हैं। अविनाशी का अर्थ पर्यायों के परिणमन से रहितता नहीं है। द्रव्य तो परिणमन किए बिना एक समय भी नहीं रहते, क्योंकि उनमें उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य होता है। नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होते हुए भी द्रव्य स्वकीय मूलरूप को नहीं छोड़ता। यही उसका अविनाशित्व है। आत्मा प्रतिसमय पर्याय से पर्यायान्तर कर रहा है, तथापि अपनी आत्मशक्ति का त्याग नहीं करता। अतः आत्मा अव्यय-विकल कहलाता है।

चौथा विशेषण दिया **'शुद्धं'** आत्मा शुद्ध है। पवित्र कहो, निर्दोष कहो, पर के संयोग से विहीन कहो ये सभी एकार्थवाची हैं। आचार्य ब्रह्मदेवसूरि ने कहा–

शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः।–(वृहद्द्रव्यसंग्रह-13)

अर्थात् आत्मा शुद्ध यानि स्वभाव से उत्पन्न जो शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसका धारक है। दो द्रव्यों का संयोग हो जाने को ही द्रव्य का अशुद्ध होना कहा जाता है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यों से असम्पृक्त है इसीलिए आत्मा नित्य शुद्ध है। **'रागद्वेष- रहित्वाच्छुद्रः'** राग और द्वेष से रहित होने के कारण आत्मा को शुद्ध माना जाता है। समस्त परकीय द्रव्यों के भावों से आत्मा भिन्न है अथवा यूँ कहें आत्मा कैवल्य भावों से सम्पन्न है। अतः आत्मा को शुद्ध कहा जाता है।

पाँचवा विशेषण दिया–**'तत्पदम्शुभ सम्पदाम्'** आत्मा शुभ सम्पदाओं का स्थान है। मेरे पास ऐसा पद है जिसमें आत्मा की समस्त शुद्ध सम्पत्तियाँ वास करती हैं। मैं वह हूँ और उनका वास भी मेरे अंदर है। जैसे PHD करने

के बाद कोई डॉक्टर बना, पुनः उसने डी.लिट की, विद्यावाचस्पति बना। अब वह स्वयं भी विशेष शोधकर्त्ता है और दूसरों के लिए भी शोध कराने हेतु निमित्त कारण बन गया। ऐसे ही मैं शुद्ध हूँ और दूसरों को शुद्ध बनाने का निमित्त भी हूँ। यहाँ कहा कि मैं उस शुद्ध पद से युक्त हूँ और शुद्ध सम्पदाओं का आवास हूँ, निवास हूँ, एक केन्द्र हूँ, ऐसा मेरा स्वरूप है।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने यहाँ निजस्वरूप का बखान किया कि आत्मा में अनंत गुण हैं, वे सारे गुण कर्मों के द्वारा अच्छादित हैं। जैसे मेघमाला का आडम्बर दूर हो जाने पर मेघाच्छादित सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ प्रकट होता है और वह गगन मण्डल में प्रकाशमान हो जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी मेघों के तिरोहित हो जाने पर आत्मारूपी नभ में अनंतगुणों की सम्पदा रूपी सूर्य अपने प्रकाश व प्रताप से एक साथ दैदीप्यमान हो जाता है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में किसी भी वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं। प्रकट हुए आत्मगुणों को देखकर 'शुद्ध सम्पदा का पद' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

महानुभाव! आत्मध्यान करने के लिए आत्मस्वभाव का समीचीन बोध होना आवश्यक होता है, क्योंकि आत्मज्ञान के बिना आत्मध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। आत्मध्यान को ध्येयभूत आत्मज्ञान की आवश्यकता को देखकर भव्यजीवों को आत्मस्वरूप समझाने के लिए पाँच विशेषणों से आत्मा के विशिष्ट स्वरूप को इस श्लोक में व्यक्त किया गया है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

रत्नत्रय की भावना

सम्यग्दर्शन-सज्ज्ञान-चारित्र-त्रितयात्मकम्।
तेनात्मदर्शनं नित्यं, कर्त्तव्यं भावना त्रयं।।20।।

अन्वयार्थ–(तेन) वह **(आत्मदर्शनम्)** आत्मदर्शन **(सम्यग्दर्शन)** सम्यग्दर्शन **(सज्ज्ञान)** सम्यग्ज्ञान **(चारित्र)**सम्यक् चारित्र **(त्रितयात्मकम्)** त्रितयात्मक है। **(नित्यम्)** नित्य **(त्रयं)** तीनों की **(भावना कर्त्तव्यम्)** भावना करनी चाहिए।

अर्थ–आत्मा का वह दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के भेद से त्रितयात्मक है। आत्मा को नित्य तीनों की भावना करनी चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत भव्यजीवों के कल्याणार्थ जो ध्यान की विवेचना की है वह निःसंदेह ध्यान की कुंजी है। किस प्रकार आचार्य महोदय ध्यान की प्रेरणा दे रहे हैं। अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति की बात कह दी, पाप का त्याग-पुण्य का अर्जन कैसे करना चाहिए, योगी समतामय आचरण कैसे करे आदि उपदेश पूर्व कारिकाओं के माध्यम से कहा, पुनः आगे बीसवीं कारिका में कहा कि आत्मा जो मोक्षमार्ग में गमन कर रही है, वहाँ तीन रूप से दिखाई दे रही है। मुख्य रूप तीन हैं, चौथा बाद में बताएँगे। यदि दाँये हाथ से आत्मा का चित्र लेते हैं तो लगता है आत्मा सम्यक्त्व रूप है, बाँये हाथ से आत्मा का चित्र लेते हैं तो लगता है आत्मा सम्यग्ज्ञान रूप है, पीछे से आत्मा का चित्र लेते हैं तो लगता है आत्मा सच्चारित्र रूप है। किन्तु जब आत्मा का सामने से चित्र लेते हैं तो आत्मा त्रितयात्मक रूप है।

कोई भी व्यक्ति एक समय में किसी वस्तु के एक गुण को या वस्तु की एक पर्याय को ग्रहण करने में समर्थ है, दूसरे को ग्रहण नहीं कर सकता। कैमरे के माध्यम से व्यक्ति का बाह्यचित्र ही निकाला जा सकता है। X-Ray मशीन के द्वारा अस्थिपंजर-हड्डियों का चित्र लिया जा सकता है। Weight मशीन व्यक्ति का छाया चित्र नहीं देती, और न ही शरीर की हड्डी-ढांचे की स्थिति बताती है, वह तो केवल उसका भार बताती है। तीनों मशीनों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। जो व्यक्ति ऐसी मशीन का निर्माण कर ले जिसमें छायाचित्र, अस्थियों की स्थिति एवं शरीर का भार अथवा और भी जो शरीर में होने वाले फंक्शन हैं ये सब किसी एक मशीन में आ जाएँ, तो सब चीजें एक साथ देखी जा सकती हैं।

महानुभाव! जो निश्चय से देखता है उसे आत्मा में अनंतगुण दिखाई देते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्षदर्शी होना चाहिए। परोक्षदर्शी श्रुतज्ञान के माध्यम से किसी वस्तु के एक-एक गुण को जानता है। आत्मा त्रितयात्मक है यह बात मुख्यता से कही है। यदि किसी ने ये कहा कि आत्मा ज्ञानदर्शन रूप है तब भी कोई हर्ज नहीं है। यदि किसी ने कह दिया कि आत्मा ही ज्ञान, ज्ञान ही आत्मा है, तब भी कोई बात नहीं। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ 'ऐसा भी कहा' तब भी अनुचित नहीं है, आत्मा वीतराग दशा से युक्त है ये भी उचित है, आत्मा शरीर से रहित है ये भी अनुचित नहीं है, जो कुछ भी कहा जा रहा है, अपेक्षाकृत सब सही है, असत्य कुछ भी नहीं।

आचार्य महोदय संसार से विरक्त एवं मोक्षमार्ग पर चलते हुए किसी योगी का चित्रण कर रहे हैं। जो प्रत्यक्षदर्शी हैं उन्हें योगी का शरीर दिखाई नहीं दे रहा, न औदारिक न आहारक, न तैजस न कार्माण। उस योगी की लम्बाई, मोटाई या शरीर का ढांचा दिखाई नहीं दे रहा, क्योंकि वे मानते हैं कि ये

वर्ण पुद्गल (शरीर) का है आत्मा का नहीं, गंध भी शरीर की है आत्मा की नहीं। यह आत्मा ऊँची, ठिगनी, मोटी, पतली नहीं हो सकती, ये आकृतियाँ हैं और ये सब पुद्गल की हो सकती हैं। शरीर का संस्थान, संहनन सब नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है और कर्म भी पुद्गल है।

जो भी कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली दशाएँ हैं वे शुद्ध आत्मा नहीं हो सकती। चाहे वह किसी भी कर्म के उदय से हों क्योंकि कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं है और कर्मोदय से प्राप्त दशा आत्मा की शुद्ध दशा नहीं हो सकती। चाहे वे कर्म घातिया हों या अघातिया, देशघाती हों या सर्वघाती, चाहे वे अनुजीवी गुणों का घात करने वाले हों या प्रतिजीवी गुणों का। आत्मा इन सबसे परे है। अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा कार्माण शरीर क्या आत्मा नहीं है? अनादिकाल से अनंतकाल तक सूक्ष्म साधारण शरीर, औदारिक शरीर प्राप्त किया क्या ये आत्मा नही है? नहीं है। तो भाव कर्मों को तो आत्मा कह सकते हैं? नहीं, राग-द्वेष भी कोई आत्मा नहीं है, ये अनादिकाल से जीव के साथ हैं, इनका एक क्षण के लिए भी अभाव नहीं हुआ, अनंतकाल इस राग-द्वेष-मोह-अज्ञान-असंयम आदि के साथ बिता दिया फिर भी ये सब विभाव आत्मा नहीं हैं।

महानुभाव! जब जीव को सत्य का भान होता है तब वह सोचता है ओह! अनादिकाल से मेरी आत्मा के साथ लगे मिथ्यात्व, कषाय, ज्ञानावरणादिकर्म जब ये ही मेरे नहीं हैं, तब कुछ वर्षों से प्राप्त हुआ यह शरीर मेरा कैसे हो सकता है? जिनके साथ कुछ क्षण के लिए रहा ऐसे वे भाई-बहिन, बंधु वर्ग, माता-पिता मेरे कैसे हो सकते हैं? इस झोंपडी में मैं चार दिन से रह रहा हूँ वह मेरी कैसे हो सकती है? ये सब तो बच्चों के खेल जैसा प्रतीत होता है। जैसे बच्चे ने खेलते हुए किसी बेंच पर हाथ रख दिया और कहा-ये मेरी

हो गई, या सीट पर रुमाल रख दिया तो मेरी हो गई, कागज के टुकड़ों को कहते हैं ये मेरे पैसे हैं, यह सब आपका नहीं है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं पाँच शरीर, पाँच बंधन, पाँच संघात कुछ भी तुम्हारे नहीं हैं। यहाँ तक कह दिया कि द्रव्यकर्म से रहित आत्मा एक क्षण के लिए भी नहीं हुई, अनादिकाल से द्रव्यकर्म अनस्यूत रूप से चला जा रहा है। तो क्या वह आत्मा है? नहीं है। जीवसमास, मार्गणा, गति, योग आदि कुछ भी आत्मा नहीं है, और तो और औदयिक भाव भी आत्मा नहीं है, उपशमभाव आत्मस्वरूप नहीं है, क्षयोपशम भाव आत्मस्वरूप नहीं है, क्षायिकभाव कथंचित् आत्मस्वरूप मान सकते हैं और परमपारिणामिक भाव जो कि परमशुद्ध जीव तत्त्व है, उसे भी मान सकते हैं।

महानुभाव! रत्नत्रय सिद्धों में भी पाया जाता है। सिद्ध भी इसके फल से सहित हैं, इसलिए आत्मस्वरूप कह सकते हैं। व्यवहार में भी मोक्षमार्गी इसी के माध्यम से बनते हैं। इसकी विपरीत परिणति हो जाए तो संसारमार्गी, सम्यक् परिणति हो जाए तो मोक्षमार्गी। ये आत्मा का गुण है, इन गुणों को प्राप्त करके आत्मा अपने शाश्वत वैभव को प्राप्त कर सकती है। जिसके माध्यम से वस्तुतत्त्व को ज्यों का त्यों देखा जा सकता है वह तत्त्व है सम्यग्दर्शन और जो देखने वाली दृष्टि है वह है सम्यग्दृष्टि। जिसके पास वस्तुतत्त्व को ज्यों का त्यों देखने का सामर्थ्य नहीं है वह मिथ्यादृष्टि या सम्यक्मिथ्यात्व वाला हो सकता है।

असुहादोविणिवित्ती,सुहेपवित्तीयजाणचारित्तं।
वद समिदि गुत्तिरूवं,ववहारणया दु जिण भणियं।। –(द्र.सं. 45)

अशुभ से निवृत्ति और व्रत, समिति, गुप्ति रूप शुभ में प्रवृत्ति चारित्र है। व्यवहार में सम्यग्ज्ञान की परिभाषा दी–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।

निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।42।। –(र.क.श्रा.)

न्यूनता–अधिकता से रहित ज्यों का त्यों वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराने वाला जो तत्त्व है वह व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन भी व्यवहार रूप से कहा कि परमार्थभूत देव–शास्त्र–गुरु पर श्रद्धान करना या सात तत्त्व, छह द्रव्य, नवपदार्थ, पंचास्तिकाय पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आत्मा–अनात्मा का भेद होना आदि व्यवहार सम्यग्दर्शन की परिभाषा है। तो फिर निश्चय में क्या परिभाषा है? चेतना की चेतना के प्रति रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। चेतना का चेतना को पूरा ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और चेतना का चेतना में लीन हो जाना निश्चय सम्यक्चारित्र है। विशेषता यह है कि व्यवहार तो अलग–अलग होते हैं, देखे जा सकते हैं, पर निश्चय तीनों एक साथ चलते हैं। तीनों एक ही हैं। इस प्रकार त्रितयात्मक यह आत्मा है।

आगे कहा–''तेन आत्मदर्शनं' उनके द्वारा ही आत्मा का दर्शन संभव है। इन तीन के बिना न तो आत्मा का दर्शन आज तक किसी ने किया है, न कोई आज कर सकता है, न आगे कोई कर सकेगा। अनंतकाल पूर्व की बात देखें तब भी योगियों ने इन्हीं तीन के माध्यम से आत्मा का अनुभव किया। आज भी विदेहक्षेत्र में, भरत–ऐरावत क्षेत्र में इन्हीं तीन के माध्यम से अनुभव कर पा रहे हैं और भविष्य में भी अनंतकाल तक जो भी योगी आत्मदर्शन करेगा वह इन तीन के माध्यम से करेगा, इन तीन के बिना कभी नहीं कर सकता।

महानुभाव! अकेला दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है, अकेला ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है, अकेला चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। दर्शन–ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है, ज्ञान–चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन–चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, इन तीनों से रहित अवस्था मोक्षमार्ग नहीं है, इनका विपरीतपना भी मोक्षमार्ग नहीं है। इन तीनों का

सम्यक्पना और एकत्वपना ही मोक्षमार्ग है। जैसे नीबू-जल-शक्कर तीनों में से एक भी कम रहेगा तो शिकंजी नहीं बनेगी, ऐसे ही मोक्षमार्ग तीन से ही बनता है, तीन के बिना नहीं और तीन में कोई कम है तो भी नहीं।

आचार्य ब्रह्मदेवसूरी जी ने लिखा है—

यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहु द्रव्यै-र्निष्पन्नमपि पानक भेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते तथा शुद्धात्मानु-भूतिलक्ष-णैर्निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै बहुभिः परिणतो अनेको-ऽप्यात्मा त्वभेद विवक्षया एकोऽपि भण्यत इति।

—परमात्मप्रकाश टीका-1/96

जिस प्रकार दाख, कपूर, चन्दन आदि अनेक द्रव्यों से बनाया गया पीने का वह रस यद्यपि अनेक रूप है तो भी अभेदनय से एक पानकवस्तु कही जाती है, उसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुई आत्मा अनेक रूप है तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है, यही अभेदरत्नत्रय का स्वरूप है।

आत्मा का चैतन्य गुण सम्पूर्ण परपदार्थों से भिन्न है। स्वरूपानुभूति अथवा पररूप से उपरति का नाम सम्यग्दर्शन है। यह निश्चय की अपेक्षा से लक्षण है। व्यवहारनय की अपेक्षा से देव, शास्त्र, गुरु अथवा तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आत्मा चिद्रूप है, अखण्ड है, परम है, सुखस्वरूपी है—ऐसा आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है और तत्त्वों को यथार्थ रूप से जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। संसार के कारणभूत राग और द्वेष का अभाव करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध करते हुए सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप की अविचलता को प्राप्त करना निश्चयसम्यक् चारित्र है तथा अशुभ से छुड़ाकर शुभ में स्थिर करने वाले आचरण विशेष को व्यवहार सम्यक् चारित्र कहते हैं।

महानुभाव! इन तीन के द्वारा आत्मा का दर्शन संभव है। क्योंकि मोक्षमार्ग में तीनों का महत्त्व अचिन्त्य है। आत्मा रत्नत्रयात्मक है, यह भेद नय की अपेक्षा कथन है वह रत्नत्रय आत्ममय है, आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय का अस्तित्व अन्य द्रव्यों में पाया नहीं जाता। अतः अभेदनय की अपेक्षा से आत्मा एक ही है। समयसार में भी कहा–

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥7॥

ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन भाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चय से दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है अतः वह शुद्ध है। इस प्रकार व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय को जानकर समस्त प्रकार के आग्रह का त्याग करना चाहिए तथा दोनों प्रकार के रत्नत्रय की आराधना करके आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेनी चाहिए। आत्मकल्याणेच्छुक जीवों को मुक्ति प्राप्त होने तक नित्य ही रत्नत्रय की भावना करना चाहिए। प्रतिक्षण आत्मा का ध्यान करें। जब-जब भी ध्यान करेंगे तब-तब आत्मा का अनुभव होगा। सूर्य के प्रकाश में सूर्य का आताप अनुभव में आता है उसके बिना नहीं; ऐसे ही आत्मा में लीन होने से ही आत्मा का अनुभव होता है। आप सभी आत्मा का अनुभव करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

पाँच ज्ञान

मतिश्रुतावधिश्चेति, मनःपर्यय केवलम्।
ज्ञानात्मा मुक्तिरित्युक्तं, पञ्चादि परमेष्ठिनाम्।।21।।

अन्वयार्थ–(मति) मति **(श्रुत)** श्रुत **(अवधि)** अवधि **(मनःपर्यय)** मनःपर्यय **(च)** और **(केवलम्)** केवल **(इति)** इस प्रकार **(ज्ञान)** ज्ञानरूप **(आत्मा)** आत्मा **(मुक्ति)** मुक्ति है। **(इति)** ऐसा **(पञ्चादि)** पंच **(परमेष्ठिनाम्)** परमेष्ठियों का **(उक्तं)** कथन है।

अर्थ–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इस प्रकार पाँच ज्ञान है। ज्ञान ही आत्मा है। आत्मा का ज्ञान स्वरूप रह जाना ही मोक्ष है, ऐसा पाँच परमेष्ठियों ने कहा है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देख रहें हैं कि किस प्रकार चित्तवृत्तियों पर ज्ञान के द्वारा अंकुश लगाया जाना संभव है। अंकुश का पास में होना, जिस पर अंकुश लगाना है उसका पास में होना और जिसको लगाना है उस व्यक्ति का भी पास में होना ये तीन होने के बावजूद भी क्रिया सम्यक् हो जाए जरूरी नहीं। अंकुश, जिस पर लगाना, जिसको लगाना इन तीनों से भी महत्त्वपूर्ण है कि अंकुश कैसे लगाना है। यदि अंकुश लगाने की विधि नहीं जानते तब तीनों का महत्त्व नहीं।

एक व्यक्ति राजा से दान माँगने गया। राजा ने कहा माँग लो तुम्हारी जितनी इच्छा हो। वह व्यक्ति सोचने लगा मैं कितना माँगू। पहले सोचता है एक रुपया माँगू किन्तु बाद में तृष्णा से प्रभावित होकर सोचता है जितनी

देर में एक रुपया लिखूँगा उतनी देर में तो कितने जीरो लिखे जाएँगे, 100, 1000 हो जाएँगे। वह जीरो लगाता जा रहा है–लगाता जा रहा है किन्तु एक का अंक लिखना भूल गया। हजारों–लाखों जीरो लगाने पर भी एक के अंक के बिना उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। ऐसे ही किसी कार्य को सम्पन्न करने की विधि ज्ञात नहीं है तो उस कार्य के लिए इकट्ठा किया गया Row Material सब बेकार है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने आत्मा को त्रितयात्मक होने की बात की। यदि आत्मा इन तीन को प्राप्त न कर पाए तो जीवन व्यर्थ है। संसार भी है, संसारी भी है और मोक्ष भी है। मोक्ष अनादिकाल से है, संसार अनादिकाल से है, संसारी अनादिकाल से है। जब तक हमने संसार से मोक्ष जाने की विधि को जीवंत रूप में नहीं सीखा तब तक हमारा जीवन व्यर्थ है। शास्त्रों में तो विधि लिखी है, आप कह देंगे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। किन्तु ये शब्द मोक्षमार्ग नहीं हैं, शास्त्र मोक्षमार्ग नहीं हैं, गुरु भी मेरे लिए मोक्षमार्ग नहीं हैं, भगवान भी मेरे लिए मोक्षमार्ग नहीं है, जब तक कि मेरी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र न आ जाएँ। जब तक मेरी आत्मा इन तीन को अखण्ड रूप मानकर के आत्मा में लीन न हो जाए तब तक निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।

जिस प्रकार हाथी पर बैठे महावत को यदि यह नहीं मालूम कि अंकुश कैसे लगाना है, तब कहीं अंकुश हाथी के कान पर न लगाकर अपने सिर पर लगा लिया तो जीवन की लीला ही समाप्त हो जाएगी। ऐसे ही व्यक्ति श्रद्धा तो करता है किन्तु जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उस प्रकार करना चाहिए। आत्मा पर, आत्मा की शक्ति पर श्रद्धा करना चाहिए, कर्मों के स्वरूप पर श्रद्धा करना चाहिए किन्तु हमारा श्रद्धान तो पुद्गल के ऊपर चला जाता है कि ये पुद्गल मुझे सुख देगा। आत्मा के स्वभाविक भाव श्रुतज्ञान पर,

चैतन्यमय ज्ञान के ऊपर श्रद्धा करना चाहिए किन्तु व्यक्ति श्रद्धा कर जाता है उन साहित्य में लिखे शब्दों के ऊपर कि इससे मैं ज्ञानी बन जाऊँगा। श्रद्धा करना चाहिए अपनी इन्द्रिय और चित्त की वृत्तियों से निरोध करते हुए संयम के ऊपर, किन्तु श्रद्धा करता है अपने अहम् पर, अपनी मायाचारी पर। लोभ करके चाहे स्वयं बर्बाद हो जाए, चाहे दूसरों को बर्बाद करना पड़े किंतु लोभ छोड़ा नहीं जा रहा।

जो हिंसादि पाँच पापों से स्वयं को सुखी करना चाहता है, समझो वह व्यक्ति अग्नि के कुंड में जल की शीतल धार को लेना चाहता है। हो सकता है कभी जल मथने से घी निकल आए, बालू पेलने से तेल निकल आए, आकाश में गगन पुष्प खिल जाएँ, हो सकता है पुद्गल को चेतना कह दिया जाए किन्तु आत्मा को जाने बिना, पहचाने बिना, माने बिना, आत्मा की लीनता के बिना आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती।

अग्नि का चित्र चाहे दीवार पर बनाया जाए चाहे पेपर पर अथवा प्लास्टिक की अग्नि बना दी जाए किन्तु उसमें सोने को तपाकर के शुद्ध नहीं किया जा सकता। चित्र में बने तालाब, नदी, झील आदि से मलिन वस्त्रों को साफ नहीं किया जा सकता। ऐसे ही यदि आप केवल शब्दों को गिनकर के, डिग्रियाँ प्राप्त करके अपने आपको ज्ञानी, विद्वान, पण्डित सिद्ध करना चाहते हैं तो आप किसी और को नहीं अपनी आत्मा को ही ठगने का उपक्रम कर रहे हैं।

धन्य है आचार्य महाराज की कृपा, जो कि सहसा बरसती है, अकारण बरसती है। कोई ये नहीं कह सकता कि मेरी योग्यता थी इसलिए बरसी। कोई यह न सोचे कि बादल आए और वृक्षों में योग्यता थी पानी को खींचने की इसलिए बरस गए, यह तो ऐसा मानना चाहिए कि कमल का फूल जलाशय में है, सूर्य किरण आते ही खिल गया। कमल ये नहीं कह सकता

कि मेरी योग्यता थी इसलिए सूर्य को आना पड़ा। प्यासी वसुधा की प्यास बुझाने के लिए मेघ स्वयं बरसते हैं, यह मेघों की करुणादृष्टि है। तपती मही यह नहीं कह सकती कि बरसना ही पड़ेगा, यही कहना पड़ेगा कि यह तो अकारण कृपावृष्टि हो गई। ऐसे ही आचार्य महोदय ने आध्यात्मिक संदेश देकर भव्यजीवों पर कृपादृष्टि की। अभी तक ऐसा लगता था कि यह ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लो, उसकी परीक्षा दे दो तो प्रमाणपत्र मिल जाएगा, डिग्री मिल जाएगी। अच्छी नौकरी मिल जाएगी, इस शब्द के बल से हमें प्रशस्तियाँ मिल सकती हैं, उपाधियाँ मिल सकती हैं किन्तु इन सभी से आत्मा का दूर-दूर तक भी कोई नियामक संबंध नहीं है। ये सब पुद्गल की चीज हैं। ये सब मैं नहीं हूँ और जो मैं हूँ वो पुद्गल नहीं है, इसीलिए आचार्य महाराज ने यहाँ पाँच ज्ञान की बात कही है।

आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है। अब प्रश्न उठता है—यहाँ पाँच ज्ञान से क्या अभिप्राय है? ये पाँच ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। आपने शायद कोल्हू से गन्ने पिलते हुए देखे होंगे कि उससे गुड़ कैसे बनाया जाता है। गन्ने के रस को गरम करते हैं, फिर उसगरम-गरम गुड़ को चौकोर टुकड़ों वाली साँचे (कनस्तरों) में डालते हैं और ऊपर से कपड़े से बांध देते हैं। जब वह ठंडा हो तो चौकोर पीस तैयार हो जाता है। उसी गुड़ को यदि कपड़े में बाँधकर रखा जाए तो वह भेला कहलाता है। मिट्टी की मटकी में भर दिया जाएतोमटकी फोड़ने पर गुड़ मटकी के आकार में जम जाता है। वही गुड़ यदि किसी मिट्टी के गिलास मे भर कर सींक (छड़ी) डाल दी जाए, तो जमने पर कुल्फी का आकार ग्रहण कर लेता है। अब कोई पूछे—यह क्या है? उत्तर होगा—गुड़। और जो कढ़ाई में बन रहा है वह भी तो गुड़ ही है। तो फिर अन्तर कहाँ है? अन्तर केवल पर्याय की अपेक्षा का है। किसी को भेला कहा गया, किसी को मटकी और किसी को कुल्फी; किन्तु वस्तुतः सब गुड़ ही हैं। इसी प्रकार अवधि-मनःपर्यय ज्ञान तो पर्याय

है। केवलज्ञान कढ़ाहे में रखा हुआ गर्म गुड़ है। उसी के छोटे-छोटे पार्ट बना दिए जाएँ, तो वे भी गुड़ ही हैं। उन सभी को पुनः डालकर गर्म कर लो, तो सब यथावत् हो जाएगा। फिर ज्यों का त्यों हो जाएगा। इसी प्रकार हमारी आत्मा का स्वभाव, लक्षण और गुण ज्ञान है। शुद्ध ज्ञान हमारा स्वभाव है अशुद्ध ज्ञान हमारा विभाव और स्वभाव है। जबकि वास्तव में ज्ञान आत्मा का लक्षण है।

आचार्य महोदय ने यहाँ-'मतिश्रुतावधिश्चेति' मति, श्रुत, अवधिज्ञान ये तीन ही कहे, चौथा ज्ञान क्यों नहीं कहा? क्योंकि चौथे ज्ञान की विशेषता अलग है। इसका कारण यह है कि पहले तीनों ज्ञान मिथ्या भी हो सकते हैं-जैसे कुमति, कुश्रुत और कुवधि। साथ ही ये सम्यक् से भी प्राप्त हो सकते हैं। इन्हें अव्रती-महाव्रती कोई भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु मनःपर्यय और केवल-ये दोनों ज्ञान विशिष्ट हैं ये केवल उन महाव्रतियों को ही प्राप्त होते हैं जो कठोर तपस्या करते हैं, वर्धमान चारित्र को धारण करते हैं, शुभ लेश्या से सम्पन्न हैं और उपशम क्षपक श्रेणी मांढ़ने में समर्थ हैं। ऐसे साधक ही इन दोनों ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। यदि साधक को ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो जाए, तो वह कभी संसार में पतित भी हो सकता है विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो जाए, तो वह उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करेगा। इसी प्रकार जो केवलज्ञान प्राप्त करता है वह भी उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मति कुमति हो सकती है, श्रुत कुश्रुत हो सकता है, अवधि कुवधि हो सकता हो किन्तु मनःपर्यय कभी कुमनःपर्यय नहीं हो सकता। केवल कभी कुकेवलज्ञान नहीं हो सकता है। मति, श्रुत, अवधि इन तीन को प्राप्त करने वाला जीव संसार में पुन-पुनः परिभ्रमण कर सकता है। अर्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल का मतलब भी अनंतकाल ही मानो। वह भी संख्यात

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है। ये पाँच ज्ञान आत्मा में ही पाए जाते हैं, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं। और जो अन्य जगह पाए जाते हैं वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। जो उपदेश रिकॉर्ड किया है वह शब्दज्ञान है, आत्मा नहीं है। अनुभूति आत्मा में ही हो सकती है, रिकॉर्डर में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जो दूसरे के माध्यम से प्राप्त होता है वह पुद्गल है और जो आत्मा में अनुभव किया जा सकता है वह चैतन्य भाव है, वही आत्मा का स्वभाव है। यहाँ उसी ज्ञान की बात कर रहे हैं।

ज्ञान चाहे निगोदिया जीव का हो अथवा सिद्धों का ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। चाहे विभाव स्वभाव ही क्यों न हो, उसे भी कोई किसी को नहीं दे सकता। मतिज्ञान इन्द्रिय और पदार्थों के संयोग से पैदा होता है। श्रुतज्ञान शब्दों के माध्यम से होता है। यह घटता-बढ़ता है। अवधिज्ञान के भी शरीर पर चिह्न आदि प्रकट होते हैं या भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव-नारकियों में होता है। देशावधि ज्ञान कारण सहित है किन्तु परमावधि, सर्वावधि ज्ञान विशिष्ट होता है, उसे प्राप्त करने वाले मुनिराज उसी भव से मोक्ष जाते हैं। विपुलमति मनःपर्ययज्ञान भी अपने आपमें विशिष्ट है और केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है।

चैतन्य ज्ञान कभी किसी से दिया-लिया नहीं जा सकता। जो अचेतन ज्ञान है, शब्द रूप उसका व्यापार चलता रहता है। उस व्यापार से खुशी और नाखुशी का अनुभव मत करो। शब्दज्ञान की खुशी स्वप्न की खुशी जैसी ही है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि आत्मज्ञान ही मुक्ति देने वाला है। वह ज्ञान पंच परमेष्ठियों को प्राप्त होता है।

महानुभाव! आत्मा तो ज्ञानस्वभाव वाला है और उस अनंतज्ञानादिस्वभाव की जो प्राप्ति है, यही उस आत्मा की मुक्ति है। ऐसा आचार्य भगवन् गुणभद्र स्वामीजी ने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में भी कहा-

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्।।174।।

आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर है। जो जिसका असाधारण स्वरूप होता है, वह सदा उसके साथ ही रहता है, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरणादि कर्मों के निमित्त से वह आत्मा विकृत हो रहा है और राग-द्वेष रूप बुद्धिस्वरूप हो रहा है। जैसे अग्नि के संयोग से जल अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है उसी प्रकार इन कर्मों के आवरण हट जाने पर आत्मा भी अपने स्वाभाविक अनंतचतुष्टय में स्थित हो जाता है। बस, उसी का नाम मोक्ष है। इसीलिए आचार्य महोदय यहाँ कहते हैं कि यदि मोक्ष की चाह है, तो आत्मा का स्वरूप—ज्ञान का बार-बार चिन्तवन करें; क्योंकि एकमात्र वही अविनश्वर स्वभाव उपादेय है, शेष सब विनश्वर परपदार्थ हेय हैं। इस प्रकार की भावना से मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी।

ऐसे ज्ञान की भावना आप भी भाओ। ऐसे ज्ञान के धारक पंचपरमेष्ठी के चरणों में हम प्रणाम करते हैं और पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान को प्रणाम करते हैं। यह भावना करते हुए कि हम भी पंचपरमेष्ठी की अवस्था को प्राप्त करके अपने शाश्वत स्वभाव को प्राप्त कर सकें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द-शृंखला को विराम देते हैं।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

चैत्य भक्ति

देहं चैत्यालयं प्राहुर्देही चैत्यं तथोच्यते।
तद्भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च, प्रशस्या भववर्जिता।।22।।

अन्वयार्थ–(देहम्) देह को **(चैत्यालयं)**–चैत्यालय **(प्राहुः)** कहा है **(तथा)** तथा **(देही)** देही को **(चैत्यं)** चैत्य **(उच्यते)** कहते हैं **(च)** और **(तद्भक्ति)** उसकी भक्ति **(चैत्यभक्ति)** चैत्य भक्ति है, वह **(प्रशस्या)** प्रशस्त है। और **(भववर्जिता)** भवहीन करती है।

अर्थ–देह चैत्यालय है और देही चैत्य है। उसकी भक्ति ही चैत्यभक्ति कहलाती है। ऐसी चैत्यभक्ति प्रशंसनीय व भव का नाश करने वाली है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की विवेचना के अंतर्गत विगत कारिका में पाँच ज्ञान का विवेचन किया गया है। वे पाँच ज्ञान आत्मा को परमात्मा बनाने का कारण हैं। जो भाव ज्ञान है, चैतन्यज्ञान है, उसी से आत्मा परमात्मा बनती है। केवल शब्दज्ञान से आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को ही हो सकता है; परन्तु केवल शब्द से आत्मा का उत्थान संभव नहीं। उस आत्मा के पास यदि श्रद्धा नामक गुण है और ज्ञान में समीचीनपना है तभी वह परमात्मा बनती है। अर्हतादि पंचपरमेष्ठियों ने इन पाँच ज्ञान के माध्यम से चेतना के स्वभाव को प्रदर्शित किया है क्योंकि शब्दों का आलम्बन लिए बिना संसारी प्राणी को कैसे बताया जाए कि आत्मा का स्वभाव क्या है। यदि योगी आँख बंद कर बैठ जाए तो वीतरागी छवि, उनकी विशुद्ध वर्गणाएँ मिथ्यात्व को तिरोहित करने में निमित्त बन सकती हैं, सम्यग्ज्ञान को

प्रगट करने में निमित्त बन सकती हैं, सम्यक्चारित्र की प्रेरक बन सकती हैं किन्तु शब्द के माध्यम से संभव है प्रभाव और अधिक अच्छा पड़े। इसीलिए शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है।

महानुभाव! जिस चीज से हमारा परिचय है, उसके माध्यम से यदि बताएँगे तो बात जल्दी समझ में आएगी। उदाहरण के लिए–स्वर्ग–नरक की आयु सागरों–पल्यों में होती है। इसे सीधे–सीधे समझाना कठिन है। किन्तु यदि हम यहाँ के दिनमान की अपेक्षा से देखें कि कितने माह–वर्ष–युग और शताब्दियाँ मिलकर बनती हैं, तब यह समझना सरल हो जाता है। जैसे किसी भिखारी के पास 10 रुपये हैं। वे 10 रु. कैसे हैं 10–10 पैसे के सौ सिक्के हैं। वह भिखारी यह जानता ही नहीं कि 10 रु. से बड़ा सिक्का भी होता है और 100 से ज्यादा गिनती नहीं जानता तो उसे एक लाख रुपये कैसे समझाओगे। आप कहेंगे ये 10–10 के सौ सिक्के हो गए इन्हें एक जगह रख दो, तो वह ढेर 1000 रुपए हुए। अब इस तरह का ढेर 100 जगह लगाओ तब जाकर एक लाख रुपया होगा। तब वह व्यक्ति जाकर समझेगा और कहेगा ओह! इतना होता है एक लाख रुपया। अतः मनुष्य को उसी भाषा और उदाहरण में समझाना चाहिए जिसे वह सहजता से ग्रहण कर सके।

एक हंस पक्षी मानसरोवर से समुद्र की ओर जा रहा था। मार्ग में एक कुएँ में मेढ़क बैठा था। मेढ़क ने पूछा–कहो महाशय! कहाँ जा रहे हो! हंस बोला–"मैं समुद्र की ओर जा रहा हूँ।" यहाँ आ जाओ, देखो! यहाँ कितना अच्छा पानी है, यहाँ अवगाहन कर लो। हंस ने उत्तर दिया–मैं कुएँ के पानी में स्नान नहीं करता। वहाँ समुद्र में इससे कहीं अधिक अपार जल है। मेढ़क ने आश्चर्य से पूछा–समुद्र कितना बड़ा है, मुझे बताओ। और अपने दोनों हाथों को फैलाकर दिखाया–क्या इतना बड़ा? हंस मुस्कराया। तब मेंढ़क ने अपने दोनों पैरों को भी फैलाया और कहा–क्यों, इतना बड़ा? हंस ने उत्तर

दिया—नहीं, यह उससे भी अधिक बड़ा है। उस कुएँ के जल में पूरा लेट गया, कहने लगा— समुद्र क्या इतना बड़ा है। हंस बोला—तुम्हारा कुआँ समुद्र की तुलना में अत्यन्त छोटा है। परन्तु मेंढक समझ नहीं पाया। वह बार-बार हाथ-पैर फैलाकर गाता रहा—

हाथ फैलाया-पैर फैलाया और फैलाया गात।
इससे बड़ो समुद्र है सब कहन सुनन की बात॥

जैसे हंस उस मेंढ़क को समुद्र की विशालता नहीं समझा सका वैसे ही आध्यात्मिक ज्ञान को भी केवल शब्दों से समझाना कठिन है। आचार्य महोदय कहते हैं बिना शब्दज्ञान के साधारण व्यक्ति को कुछ नहीं समझाया जा सकता, जो वास्तव में ज्ञानी हैं, वे बिना शब्दों के भी आत्मज्ञान को समझ सकते हैं। एक दम्पत्ति युगल था। उन्होंने आँखों से एक-दूसरे को देखा और तुरन्त समझ गए कि सामने वाला क्या कहना चाहता है। मनुष्य वही विषय भली-भाँति समझ पाता है, जिसका उसे अभ्यास होता है; अन्य विषयों को नहीं।

एक परमयोगी ध्यान में संलग्न है। केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले हैं उन्होंने मुख से कुछ नहीं कहा, किन्तु उनकी प्रशान्त मुद्रा से वीतरागता झलक रही है; जिसे देखकर सामने वाला भव्य समझ गया और मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दृष्टि बन गया।

ग्वाल ने अपने पशुओं को आवाज दी और पशु लौट आए। उसी तरह एक घुड़सवार ने अपने घोड़े को आवाज लगाई और वह रुक गया। इसका कारण है कि जो जिस भाषा को समझता है, वह कई बार बिना शब्दों के भावों से भी समझ सकता है। जो साधक आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर चुका है और जिसे आध्यात्मिक वर्णमाला का परिज्ञान हो गया है, वही योगी की मौन भाषा को समझ सकता है। किन्तु जिसने आध्यात्मिक विद्यालय की वर्णमाला भी नहीं पढ़ी, उसे कैसे पढ़ाया जा सकता है? प्रत्येक क्षेत्र की

अपनी वर्णमाला होती है—राग की भी वर्णमाला है, त्याग की भी, विराग की भी वर्णमाला है, वीतरागता की भी, हास्य की भी वर्णमाला है, भय की भी, वीर रस की भी वर्णमाला है, वीभत्स रस आदि सभी की अलग-अलग वर्णमाला होती है।

एक माँ अपने छोटे बेटे से कुछ नहीं कहती, केवल पुचकारती है ''दूध पी ले'' और बेटा सहज ही पी लेता है। किसी ने सौ बार भी कहा ''दूध पी लो'' किन्तु उसने दूध नहीं पिया। तो वो माँ की भाषाएँ अलग होती है। ऐसे ही आध्यात्मिक जगत की भाषा भी अलग-अलग होती है। आध्यात्मिक जगत की भाषा में शब्दों का काम नहीं है। जैसे जहाँ मुद्रा का विनिमय होता है, वहाँ वस्तु की आवश्यकता नहीं होती; और जहाँ वस्तु का विनिमय होता है वहाँ मुद्रा की आवश्यकता नहीं होती। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी शब्द रूपी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु हमने और आपने शब्दों की इस मुद्रा के माध्यम से आध्यात्मिक भावों का भी मूल्यांकन कर लिया है, जो सही नहीं है।

आप अर्थजगत में रहते हैं, इसलिए सभी वस्तुओं का मूल्य आँकते हैं। बताइए—एक गिलास पानी की वास्तविक कीमत कितनी है? आप कहें-10 पैसे, 50 पैसे, 1 रुपया, 5 रुपया 10 रुपया, 100 रुपया। क्या इससे अधिक कह सकते हैं? नहीं, क्योंकि अभी आपकी जिंदगी में ऐसी घटना नहीं घटी कि एक गिलास पानी की कीमत हजार रुपये चुकानी पड़े। यदि कभी आपके पास अरबों की सम्पत्ति हो और प्यास से व्याकुल होकर प्राण संकट में पड़ जाएँ, और तभी कोई आपको एक गिलास पानी दे दे, तो उस समय आप स्वीकार करेंगे कि एक गिलास पानी की कीमत एक अरब से भी ज्यादा है। क्योंकि प्राण अमूल्य हैं। इसी प्रकार हम अर्थजगत के अनुरूप आध्यात्मिक भावों का भी मूल्यांकन करना चाहते हैं, परन्तु यह संभव नहीं। हमें यह नहीं

पता कि कौन सा भाव नरकायु, देवायु, तिर्यंचायु अथवा मनुष्यायु का बंध करा दे। कौन सा भाव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करा दे और कौन सा भाव निगोद में पहुँचा दे, हम नहीं जानते। भावों की विचित्रता है। भावों का महत्त्व जिनशासन में ही दिया है, अन्य किसी दर्शन-शासन में नहीं दिया।

महानुभाव! आचार्य महोदय व्यवहार जगत की बात कर रहे हैं, चूंकि व्यवहार के माध्यम से निश्चय की प्राप्ति होती है। नींव दिखती नहीं किन्तु होती जरूर है और आवश्यक भी है। व्यवहार निश्चय में नहीं होता है और व्यवहार में निश्चय नहीं होता किन्तु व्यवहार के सिर पर निश्चय खड़ा होता है। व्यवहार नहीं है तो निश्चय भी नहीं है। व्यवहार नींव है। जब निश्चय दिखाई देगा तब नींव दिखाई नहीं देगी, जब नींव दिखाई देगी तब ऊपर का भवन दिखाई नहीं देगा। जिस समय व्यक्ति गड्ढा खोदकर के नींव के पत्थर को देख रहा है, उस समय भवन के कंगूरों को नहीं देख सकेगा और जब भवन के कंगूरों को देख रहा है तब नींव नहीं देख सकेगा। जब व्यक्ति व्यवहार में जी रहा है उस समय निश्चय का अनुभव नहीं और जब निश्चय में डूबा है तब व्यवहार नहीं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं **'देहं चैत्यालयं प्राहु:'**-यह मानव शरीर माना कि एक चैत्यालय है, 'तनु जिनमंदिर मन कमलासन' तन मंदिर के समान है, मन कमलासन के समान है, उस पर जो आत्मा विराजमान है वही मेरा परमात्मा है। **'देही चैत्यं तथोच्यते'** देही अर्थात् आत्मा इस देवालय की विशिष्टकृति है, जिसे चाहे परमात्मा कहें, चाहे भगवान कहें। यदि आत्मा नहीं है तो देह रूपी देवालय खंडहर है, उसे दुबारा ठंडा करके पुन: बनाना पड़ेगा। जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर चली जाएगी तब दूसरी जगह जाकर नए शरीर का निर्माण करेगी।

महानुभाव! यह आत्मा चैत्य है, परमात्मा है, प्रभु है। **'तद्भक्तिश्चैत्यभक्तिश्च'** इसकी भक्ति भी चैत्य की भक्ति है। शंका–यह देह तो पुद्गल है, इसकी भक्ति क्यों करना? हम आपसे पूछते हैं–मंदिर में प्रवेश करने से पहले देहरी को क्यों छूते हो? मंदिर भगवान है क्या? नहीं, किन्तु जहाँ भगवान का वास है, वह स्थान भी पूज्य हो गया। जहाँ भगवान के कदम पड़ गए वह रज भी पूज्य हो गई। ऐसे ही देह में जो बनने वाला परमात्मा विराजमान है इसलिए देह भी पूज्य है। इसलिए तीर्थंकर के शरीर की भी पूजा की जाती है। मुक्ति होने पर शरीर बनाकर उनका संस्कार किया जाता है। मुनि महाराज की समाधि के पश्चात् भी देह की पूजा की जाती है। देही जब तक है तब तक तो पूजा होती ही है, देही निकल जाने के बाद भी मोक्षगामी महापुरुषों के शरीर की अष्ट द्रव्य से चार निकाय के देव व मनुष्य पूजा करते हैं। देही पूज्य है इसलिए देह भी पूज्य है। देही पूज्य नहीं होता तो देह पूज्य नहीं होती।

महानुभाव! परमात्मा जहाँ भी विराजमान हों–चाहे स्वर्ण- रत्नों से निर्मित मंदिर में हों या घास-फूस की झोपड़ी में–दोनों ही स्थान पवित्र हो जाते हैं। जहाँ तीन लोक के नाथ विराजमान हों, वहाँ झोपड़ी भी पूज्य हो जाती है। उस झोपड़ी के समीप की धूल भी लोग सिर पर लगाकर प्रणाम करते हैं। इसलिए आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने समयसार आदि ग्रंथों में कहा है कि तीर्थंकर के शरीर की भक्ति करना भी तीर्थंकर की स्तुति करना है। भगवान हरे वर्ण के थे, लाल वर्ण के थे, तपाए स्वर्ण समान थे अथवा स्फटिक मणिवत् उनका शरीर था इस प्रकार यदि कोई उनके गुणों का वर्णन करता है तो यह भी भगवान की भक्ति ही है। वह भक्ति भी प्रशस्त है और प्रशंसा के योग्य है। क्योंकि वह भक्ति भी भव का नाश करने में समर्थ है।

आचार्य महोदय ने सरल शब्दों में व्यवहार भक्ति को समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा–मान लो कि शरीर एक मंदिर है। जिस मंदिर की

नींव कमर के नीचे का हिस्सा है और जिसका ऊपर भाग वेदी है अर्थात् हृदयस्थान पर कमलासन है। उस पर शक्तिरूपेण आत्मा रूपी परमात्मा विराजमान है। ऐसे चैत्यालय की भक्ति करना चैत्य भक्ति कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी तथा आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है–कभी भगवान की कांति प्रियंगु पुष्प के समान है, कभी उनके शरीर का वर्ण हाटक अर्थात् रक्तवर्णी पुष्प जैसा है, कभी शशिज्योत्सना अर्थात् चन्द्रमा की चाँदनी के समान धवल है अथवा मयूर कंठ के समान कहकर विशेषण दिए किन्तु निश्चय से देखें तो क्या यह शरीर भगवान है। शरीर तो पुद्गल है और पुद्गल भगवान नहीं होता। आत्मा भगवान हो सकती है, किन्तु वह आत्मा जो भगवत्ता से युक्त हो। फिर इस देह (चैत्यालय) की भक्ति करने से देही (चैत्य) की भक्ति कैसे हो गई? क्योंकि यह आत्मा अभी इस देह से अलग नहीं है। इस देह के माध्यम से ही आत्मा परमात्मा बनने का उपक्रम करती है। क्योंकि अभी दोनों साथ-साथ हैं अतः भक्ति साथ-साथ होती है।

प्रायः देखने में आता है कि जब भव्यजीव जिनालय में प्रवेश करता है तो सबसे पहले मंदिर की देहरी को छूकर अपने उत्तमांग (मस्तक) से लगाता है। चाहे वह मंदिरजी में जाकर श्री जी का स्पर्श करे या न करे, अभिषेक-शान्तिधारा-पूजन करे या न करे–फिर भी देहरी का स्पर्श अवश्य करता है। इसी प्रकार तपस्वीजनों का शरीर भी पवित्र होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने भी लिखा–

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय-पवित्रिते।

यह शरीर स्वभाव से अपवित्र होने के बावजूद भी रत्नत्रय से पवित्र माना जाता है। इसीलिए समाधि उपरांत समाधिस्थ शरीर की भी अष्टद्रव्य से पूजा की जाती है। तीर्थंकर केवली-सामान्य केवली का निर्वाण होने के

पश्चात् उनके परमाणु बिखर जाते हैं, तब भी अग्निकुमारदेव उनके शरीर की संरचना करके भक्ति, विनयपूर्वक संस्कार को करते हैं और मोक्षकल्याणक की पूजा करते हैं। आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी जी ने आदिपुराण में लिखा है कि तीन प्रकार की अग्नि होती है। ऋषभदेव स्वामी जी के मोक्ष जाने के बाद संस्कार किए गए, तो जो अग्नि की राख थी, लोगों ने उस राख को पवित्र मानकर अपने शरीर से लगा ली। जैसे लोग अभिषेक को अपने उत्तमांग पर लगा लेते हैं। यही परम्परा आगे चलकर वैदिक परम्परा का अंग बनी। शरीर में भस्म लगाने की परम्परा वहीं से प्रारंभ हुई। हवन कुंड के पास त्रिशूल की परम्परा भी वहीं से प्रारंभ हुई। तीन रत्नों के माध्यम से अष्ट असुर अर्थात् आठ कर्मों को नष्ट किया जाता है। यही त्रिशूल का प्रतीक है। 'रत्नत्रयतिसूलं धरा' आचार्य विद्यानन्दजी महाराज कई बार बताते थे कि रत्नत्रयरूपी त्रिशूल से अष्ट दुष्ट कर्मशत्रुओं का नाश होता है।

महानुभाव! जब तक व्यक्ति को किसी सत्य बात की जानकारी प्राप्त नहीं होती तब तक व्यक्ति एक बात को पकड़कर आगे बढ़ जाता है और भ्रमित हो जाता है। आचार्य महोदय ने यही कहा है कि व्यवहार में चैत्यालय (देह) की भक्ति ही चैत्य की (देही) भक्ति है और वह प्रशस्त है, प्रशंसनीय है। वह भक्ति हमारे भव-भव के पापों का नाश करने वाली है और मुक्ति को देने में समर्थ होती है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

सम्यग्ज्ञान से आत्म शुद्धि

यथा च काञ्चनं शुद्धं, दग्ध्वा पिण्डस्य बन्धनम्।
जीवोऽपि हि तथाभूतं, सम्यग्ज्ञानेन शुद्धयति।।23।।

अन्वयार्थ-(यथा) जैसे **(काञ्चनं)** सुवर्ण **(पिण्डस्यं)** पिण्ड के **(बन्धनं)** बन्धन को **(दग्ध्वा)** जलाकर **(शुद्धं)** शुद्ध **(अभूतं)** हो जाता है **(तथा)** वैसे ही **(हि)** नियम से **(जीवः)** जीव **(अपि)** भी **(सम्यग्ज्ञानेन)** सम्यग्ज्ञान से **(शुद्धयति)** शुद्ध होता है।

अर्थ–जैसे सुवर्ण अपने साथ लगे हुए बंधन को जलाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी सम्यग्ज्ञान से शुद्ध होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आत्मा को परमात्मा बनाने के महत्त्वपूर्ण सूत्रों को देखने का प्रयास कर रहे हैं। इस तेइसवें श्लोक में भी आत्मा की शुद्धि को बता रहे हैं। हर वस्तु की शुद्धि की विधि अलग-अलग होती है। प्रतिष्ठाचार्य जी पांडाल की शुद्धि करते हैं तो कहते हैं, सभी सौभाग्यवती महिलाएँ जो घटयात्रा का कलश अपने सिर पर रखकर लाईं है वे आएँ और जल से शुद्धि करें। पूजन के वस्त्रों की शुद्धि जल से धोकर की जाती है। बर्तन झूठा हो या गंदगी में गिर गया हो तो उसे राख से शुद्ध किया जाता है। कच्चे मकानों को गोबर से लीप कर शुद्ध किया जाता है, पक्के मकानों में पोंछा लगाकर शुद्धि की जाती है। विधानादि अनुष्ठानों के समय प्रतिष्ठाचार्य अभिषेक करते हैं और भीड़ अधिक हो जाती है, तब छुलने का संदेह होने पर वस्त्रों को बार-बार बदलने के स्थान पर मंत्रोच्चारण कर जलसिंचन

द्वारा शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार मंत्र शुद्धि, मृतिका शुद्धि, जलशुद्धि आदि अनेक शुद्धियाँ हैं। इन शुद्धियों के साथ एक और शुद्धि मानी जाती है जिसे 'अग्नि शुद्धि' कहते हैं।

'दस धर्म' अग्नि परीक्षा के समान हैं। जब आत्मा दस धर्म की भट्टियों से निकलकर आगे पहुँच जाती है, तब वह निःसंदेह परमात्मा बन जाती है। सोने को भी सोलह ताप दिए जाते हैं, तभी वह पूर्ण शुद्ध हो पाता है। जैसे उदर की शुद्धि के लिए वैद्य रेचक पदार्थ देता है, जिससे मल आदि बाहर निकल जाते हैं; वचन की शुद्धि के लिए कुलंजन आदि का कुल्ला कराते हैं; श्लेष्मा अधिक होने पर नासिका की शुद्धि के लिए नेति आदि क्रियाएँ की जाती हैं या नेत्रों की शुद्धि आंवला-त्रिफला आदि के माध्यम से की जाती है। ये सभी शुद्धियाँ लौकिक शुद्धियाँ कही जाती हैं।

चौके में भी शुद्धि के चार प्रकार बताए गए।

1. द्रव्यशुद्धि अर्थात् आहारादि सामग्री की शुद्धि है। 2. क्षेत्र शुद्ध, अर्थात् जहाँ चौका लगाया गया है वह स्थान शुद्ध होना चाहिए, वहाँ कोई अशुद्ध वस्तु जैसे मल, अस्थि, नख आदि न हों। 3. काल शुद्धि-जो आहार का उचित काल है, उसी समय आहार देना चाहिए। प्रातःकाल तीन घड़ी के बाद से लेकर स्वाध्याय, सामायिक, देववंदना के समय को टालकर के संध्याकाल से तीन घड़ी पूर्व तक का जो काल होता है, उसमें आहार लिया जा सकता है। ऐसा नहीं कि प्रातःकाल देववंदना के काल में, पूजा-भक्ति के काल में या संध्याकाल में आहार दिया जाए। 4. भाव शुद्धि-मन की निर्मलता, पवित्रतापूर्वक आहारादि शुभ क्रिया सम्पन्न की जाती हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की शुद्धियाँ होती हैं। अब आचार्य महाराज आत्मा की शुद्धि कैसे हो इसके लिए श्लोक नं 23 में कहते हैं-

जैसे दूध में से घी निकलता है, सम्पूर्ण दूध घी नहीं होता; उसे जमाकर दही बनाया जाता है और फिर मंथन से घी प्राप्त होता है। अथवा जैसे फलों

से रस निकाला जाता है। जैसे कनक पाषाण से स्वर्ण निकाला जाता है। कैसे? निघर्षण, छेदन, ताप, ताड़न।

सोने की परीक्षा चार प्रकार से होती है–

1. निघर्षण– सोने को घिसकर देखा जाता है कि यह वास्तविक है या नहीं।

2. छेदन–यानि काटकर परखा जाता है कि भीतर कुछ और तो नहीं है।

3. ताप–अर्थात् तपाकर देखा जाता है; यदि धातु काली पड़ जाए, तो वह सोना नहीं है।

4. ताड़न–उसे पीट-पीटकर देखाजाता है कि कहीं उसमें कोई मिलावट तो नहीं।

यथा चतुरैकनकं परीक्षते निघर्षण छेदन ताप ताडनै।
तथा चतुरैक पुरुषं परीक्षते, गुणेन शीलेन तपेन धर्मः।।

जिस प्रकार स्वर्ण की चार प्रकार से परीक्षा की जाती है उसी प्रकार मनुष्य भी गुण, शील, तप व धर्म द्वारा परीक्षित होता है कि इस पुरुष में, आत्मा में, परमात्मा बनने की शक्ति है या नहीं। कनक पाषाण आभूषण बनने योग्य है या नहीं, इसकी चार प्रकार से परीक्षा करने के बाद भी सोलह बार तपाया जाता है।

'दग्ध्वा पिण्डस्य बन्धनम्' जब स्वर्ण को तपती हुई अग्नि में जलाया जाता है, तब उसमें से किट्टकालिमा निकल जाती है और स्वर्ण शेष रह जाता है। वह अग्नि स्वर्ण को एक रत्ती भी जला नहीं सकती, अपितु उसकी कालिमा को पूर्णरूप से दूर कर देती है। स्वर्ण जितना अधिक तपता है उतना ही अधिक निखरता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सम्यक् श्रद्धावान, विवेकवान

और क्रियावान होता है वह प्रतिकूलताओं का सामना करके और भी निखर जाता है किन्तु मिथ्यादृष्टि व्यक्ति प्रतिकूलता आते ही बिखर जाता है।

हीरे को बावन बार काटने पर उसकी चमक और बढ़ती है, उसका तेज अनुपम होता है। इसके विपरीत काँच को एक बार भी काटो तो वह चकनाचूर हो जाता है। इसी तरह निकृष्ट व्यक्ति थोड़ी सी चोट से टूट जाते हैं जबकि सुदृढ़ व्यक्ति सौ चोट खाकर भी संभल जाते हैं। मिट्टी का कलश एक चोट से बिखर जाता है पर स्वर्णकलश को चाहे सौ बार तोड़ो या हजार बार पुनः गढ़ो, वह और भी सुंदर और चमकदार बनकर सामने आता है।

'जीवोऽपि हि तथाभूतं' आचार्य महोदय कह रहे हैं उसी प्रकार से यह जीवात्मा 'सम्यग्ज्ञानेन शुद्धयति' सम्यग्ज्ञान के माध्यम से शुद्धि को प्राप्त होती है।

'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्' ज्ञान रूपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्म कर देती है। राख की अवस्था को प्राप्त करा देती है। कितनी देर में? 'क्षणात्' क्षणमात्र में। अन्तर्मुहूर्त में कर्मों से सहित आत्मा कर्मों से रहित बन जाती है। ध्यान को भी आगम में अग्नि कहा गया है। यहाँ ज्ञान को विशेष रूप से क्यों कहा गया? क्योंकि कारण को पकड़ने से कार्य भी पकड़ में आता है। कैसे? ज्ञान में चित्त की एकाग्रता ही ध्यान कहलाती है। अपने स्वाभाविक ज्ञान में चित्त का एकाग्र हो जाना ही ध्यान बन जाता है।

ज्ञान के बिना कभी शुभ ध्यान नहीं होते। शुभध्यान के लिए शुभ ज्ञान, सम्यक् ध्यान के लिए सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। मिथ्याज्ञान के साथ व्यक्ति कभी सम्यग्ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। आम की गुठली बोने से आम का पेड़ पैदा होता है, जामुन का नहीं। और नीम की निबोली बोने से नीम ही पैदा होगी, अंगूर की बेल नहीं।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि यह जीव भी सम्यग्ज्ञान की अग्नि से शुद्ध होता है। एक बात और भी है कि इस चित्त को ज्ञान के अतिरिक्त किसी और से भर भी नहीं सकते। यह चित्त केवल ज्ञान से ही तृप्त होता है। मान लो कोई बहुत बड़ा कक्ष है, यदि कोई कहे कि इस कमरे को एक रुपये में भर दो, तो आप कहेंगे–एक रुपये में तो मिट्टी या भूसे से भी यह कक्ष नहीं भरा जा सकता है। परन्तु यदि एक मोमबत्ती जलाकर रख दो, तो पूरा कमरा प्रकाश से भर जाएगा। ऐसे ही सम्यग्ज्ञान की एक बात भी अच्छी लगती है तो आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में आनन्द की अनुभूति हो जाती है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि सम्यग्ज्ञान की अग्नि में इस आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है यही एक उपाय है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

महानुभाव! इस श्लोक द्वारा आचार्य महाराज का यही भाव है कि जिस प्रकार चित्रपट पर बनी अग्नि से स्वर्ण को तपाया नहीं जा सकता, अथवा मात्र अग्नि की साधन–सामग्री जैसे लकड़ी आदि का ढेर लगा देने से भी स्वर्ण को तपाया नहीं जा सकता। अग्नि का कारक चकमक पत्थर अथवा सूर्य की किरणें हैं उनसे अग्नि पैदा होती है। यदि केवल साधन रख दिए जाएँ तो उससे भी स्वर्ण शुद्ध नहीं होता। सोना तो केवल अग्नि से ही शुद्ध होता है। उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि भी सम्यक्भाव, श्रुतज्ञान से होती है। यहाँ तक कि भावश्रुतज्ञान का जो कारण है द्रव्यश्रुतज्ञान; उससे भी आत्मा शुद्ध नहीं होती। अग्नि का कारण दीयासलाई है, परन्तु उस दीयासलाई से सोना शुद्ध नहीं हो सकता। जो कार्य वृक्ष के पत्तों से, फल से, फूल से, छाल से होता है, वह कार्य उस वृक्ष के बीज को खाने से नहीं होगा। जो कार्य दूध के द्वारा निकाले गए घी से हो सकता है वह दूध से नहीं हो सकता। ऐसे ही ज्ञान की पूर्वपर्याय कारण पर्याय है उससे भी वह कार्य नहीं होगा।

महानुभाव! ज्ञान आत्मसाधनारूप चारित्र का प्राण है। हेयोपादेय का ज्ञान होने पर ही आत्मा अहितकर वस्तुओं का त्याग व हितकारी वस्तुओं को ग्रहण कर चारित्र का अनुपालन कर सकता है। तप का महल ज्ञान के आधार पर ही खड़ा रहता है। जीवन के सम्यक् विकास में ज्ञान ही प्रमुख कारण है। आगम ग्रन्थों में ज्ञान के समीचीन और मिथ्या यह दो भेद किए हैं। संशय, विमोह, विभ्रम से सहित ज्ञान मिथ्या तथा उससे विपरीत ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए पण्डित दौलतराम जी ने कहा–

जे पूरब शिव गए जांहि अब आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय चाह दव दाह जगत जन अरनि दझावे।
तासु उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावे॥ –(छहढाला 4/5)

जो जीव आज तक भूतकाल में मोक्ष गए हैं, भविष्यकाल में मोक्ष जाएँगे और वर्तमानकाल में मोक्ष जा रहे हैं, वे सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से ही मोक्ष को प्राप्त हो रहे हैं। विषयों की इच्छारूपी दावानल में सारा संसार जल रहा है। उस दावानल को बुझाने का एकमात्र उपाय सम्यग्ज्ञान ही है।

सम्यग्ज्ञान का महत्त्व अपरम्पार है। जिस मिथ्याज्ञानरूपी महान अन्धकार को ज्योतिपुंज चन्द्रमा और सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकते, ऐसे दुर्भेद्य मिथ्यान्धकार को सम्यग्ज्ञान क्षणार्द्ध में नष्ट कर देता है। सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में जन्म लेने वाला सदसद्विवेक संसार के भय से मुक्त करने में सहयोग प्रदान करता है। सम्यग्ज्ञान से युक्त अल्पचारित्र अथवा अल्पतप भी महान फल देने में सक्षम हो जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञान से हीन चारित्र और तप तो विषकणिका से युक्त भोजन की भाँति आत्मा का घात करने वाले हैं। ज्ञानरूपी अमृत से अभिसिंचित आत्मतत्त्व ही मोक्षलक्ष्मी का वरण करने में सक्षम होता

है। विषय, कषाय और मोहोद्रेकरूपी रोग को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञान से बढ़कर कोई औषधि नहीं है।

जिस प्रकार हंस मानसरोवर के तट पर क्रीड़ा करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण गुण, यश और सिद्धिरूपी हंस ज्ञानसरोवर के तट पर ही क्रीड़ा करते हैं।

आचार्यश्री अमितगति जी महाराज लिखते हैं-

ज्ञानाद्धितं वेत्ति ततः प्रवृत्ती, रत्नत्रये संचित कर्ममोक्षः।
ततस्ततः सौख्यमबाधमुच्चै-स्तेनात्र यत्नं विदधाति दक्षः॥

—(सुभाषितरत्नसन्दोह 8/5)

प्राणी ज्ञान से अपने हित को जानता है, उससे उसकी रत्नत्रय में प्रवृत्ति होती है। वह प्रवृत्ति उसके सिंचित कर्मों का नाश कर देती है। उससे निर्बाध महान सुख प्राप्त होता है। इसलिए चतुर पुरुष सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करते हैं। कुशल स्वर्णकार के हाथों में पहुँचा हुआ अशुद्ध सुवर्ण अग्नि के संसर्ग को पाकर सम्पूर्ण किट्ट-कालिमा से रहित शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी स्वर्णकार आत्मारूपी अशुद्ध स्वर्ण को ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा कर्म कलंकों से मुक्त करा देता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय की यह कारिका निःसंदेह बहुत मार्मिक है। इस पर जितना चिंतन करते चले जाओ, उतना आपको आनन्द आता जाएगा। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

शास्त्र-गुरु व मोक्ष का लक्षण

प्रपञ्च रहितं शास्त्रं, प्रपञ्च रहितो गुरुः।
प्रपञ्चरहितो मोक्षो, दृश्यते जिनशासने।।24।।

अन्वयार्थ–(शास्त्र) शास्त्र **(प्रपञ्चरहितम्)** प्रपञ्च से रहित है **(गुरु)** गुरु **(प्रपञ्चरहितः)** प्रपञ्च से रहित हैं। **(मोक्षः)** मोक्ष **(प्रपञ्चरहितः)** प्रपञ्च से रहित है ऐसा **(जिनशासने)** जिनशासन में **(दृश्यते)** देखा जाता है।

अर्थ–जिनशासन में शास्त्र, गुरु और मोक्ष प्रपंच से रहित होते हैं, ऐसा देखा जाता है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत निहित श्लोकों का आत्मिक आनन्द आप और हम ले रहे हैं। गन्ने को पेरने पर रस निकलता है, परंतु दो-तीन बार पेरने के बाद रस क्रमशः कम होता जाता है। इसी तरह सरसों या तिलहन को पेरने पर तेल निकलता है; पहली बार अधिक फिर धीरे-धीरे कम होता चला जाता है। किन्तु ज्ञान को पेरने से आनन्द निकलता है, और वह आनन्द घटता नहीं, बल्कि बढ़ता जाता है। जैसे रत्नों को घिसने से प्रारम्भ में उनकी चमक कम होती है किन्तु बार-बार घिसने से वे और अधिक उज्ज्वल हो जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा में ज्यों-ज्यों अथाह ज्ञान बढ़ता चला जाता है त्यों-त्यों आत्मा में आनन्द की अनुभूति वृद्धि को प्राप्त होती जाती है।

छोटा बालक अल्प पानी को प्राप्त करके आनंदित होता है, किन्तु ज्यों ही उसका टब पूरा भर दिया तब उसे बहुत आनन्द आता है। जैसे कोई युवती;

जिसके मुख की तुलना लोग चन्द्रमा से करते हैं, नयनों की कमल से, दाँतों की अनार के दानों से, नासिका की शुकनासिका से करते हैं। किन्तु उसी युवती के सिर पर यदि दो-चार बाल दिखाई दें, तो कैसी लगेगी? अच्छी नहीं लगेगी। क्योंकि वे दो-चार बाल उसकी शोभा को बिगाड़ देंगे। ऐसे ही किसी योगी, साधु के पास भावश्रुत ज्ञान कम हो तो वह अपने मन को बांधकर आर्त्त-रौद्रध्यान से निकालकर धर्मध्यान में नहीं ले जा सकता। जैसे कमजोर रस्सी से बँधी गाय को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। ग्वाला खींचे तो रस्सी टूट जाएगी और गाय छूटकर मनचाहे खेत में चरने लग जाएगी। उसी तरह जिसका चित्त आर्त्तरौद्र ध्यान के खेत में चर रहा हो उस चित्त को सम्यग्ज्ञान की मजबूत सांकल से बांधे बिना, वहाँ से हटाकर बाहर लाना कठिन है।

महानुभाव! आचार्य महोदय कहते हैं कि आत्मा के आनन्द का कारण केवल सम्यग्ज्ञान ही है। क्योंकि बिना कारण कभी भी कार्य नहीं होता। क्रिया सदैव दो द्रव्यों के निमित्त से होती है। एक द्रव्य में परिणमन होता है, भाव होता है किन्तु क्रिया जब भी होती है उपादान में घटित होती है और निमित्त से होती है। निमित्त और उपादान दोनों को लेकर चलना है। जो निमित्त को छोड़ देते हैं वे भी डूब जाते हैं और जो उपादान को छोड़ देते हैं वो भी डूब जाते हैं। जिस प्रकार नाव दो पतवारों से चलती है तभी उसकी दोनों दिशाएँ सुरक्षित रहती हैं और वह एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँच जाती है। यदि नाव का कोई भी एक हिस्सा टूट जाए तो पानी भर जाएगा और नाव डूब जाएगी।

जो उपादान को छोड़ते हैं, वे भी डूब जाते हैं और जो निमित्त को छोड़ते हैं, वे भी डूब जाते हैं। इसी प्रकार जो व्यवहार को छोड़ते हैं, वे भी डूब जाते हैं और जो निश्चय को छोड़ देते हैं, वे भी डूब जाते हैं। इसीलिए आचार्य

महोदय कह रहे हैं–यदि जिनशासन को समझना है तो निमित्त और उपादान दोनों को समझना होगा, निश्चय और व्यवहार दोनों को समझना होगा। यदि अपनी आत्मा को समझना है तो अपनी ज्ञान-दर्शन चेतना को समझना होगा। साकार-निराकार दोनों ही चेतना हैं। एक अवान्तर सत्ता प्रकट करने वाली है और दूसरी सामान्य सत्ता ग्रहण करने वाली है। दोनों के माध्यम से आत्मा समझ में आती है।

यदि आपसे पूछा जाए कि जैनधर्म का हृदय क्या है, जैनदर्शन का मूल क्या है, जैनदर्शन की नाभि क्या है, जैनदर्शन का प्राण क्या है–तो आप कहते हैं कि अनेकान्त है, स्याद्वाद है। कोई कहता है पंचपरमेष्ठी हैं, कोई कहता है देव-शास्त्र-गुरु हैं तो कोई कहता है नवदेवता हैं। अथवा कोई कहता है अहिंसा है, कोई दानधर्म तो कोई बारह भावना, सोलहकारण भावना आदि को कहता है। सब अपने-अपने दृष्टिकोण से कहेंगे किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं–

'जिनशासने' जिनशासन में **'प्रपञ्च रहितं शास्त्रं'** प्रपंच से रहित शास्त्र देखे जाते हैं। जो शास्त्र वीतरागता के पोषक हों, अहिंसा के संवाहक हों, अनेकान्तात्मक वस्तु को बताने वाले हों, स्याद्वाद शैली से कथन करने वाले हों, जो आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि सिखाते हों, जो आत्मा के मूलस्वरूप को बताने वाले हैं, जो आत्मा के स्वभाव और विभाव का भेद बताने वाले हैं, जो जीव और पुद्गल का भेद-विज्ञान कराने वाले हैं, जो षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, पञ्चास्तिकाय, नवपदार्थों को बताने वाले हैं वे ही सच्चे शास्त्र हैं। जो शास्त्र ये बताते हैं कि प्रत्येक आत्मा शक्ति रूपेण परमात्मा है। जिन शास्त्रों में हिंसा-असत्य-अचौर्य-अब्रह्म-परिग्रह आदि पापों का पोषण नहीं है, जिनमें विषय-कषायों की पुष्टि नहीं है, जिन शास्त्रों में भ्रामक ज्ञान

का प्रचार-प्रसार नहीं, जिन शास्त्रों में आत्मा को भुलाने की बात नहीं अपितु आत्मा के शुद्ध स्वरूप को बुलाने की बात है, जिन्हें पढ़कर हम आत्म स्वरूप को प्रकट करने की विधि सीख सकें वहीं शास्त्र सम्यक् शास्त्र हैं।

प्रपंच सहित शास्त्र तो मिथ्या हैं। जिनशासन केवल उन्हीं शास्त्रों को गरिमा या गौरव प्रदान करता है जो शास्त्र छल-कपट-प्रपंच से रहित हैं। जो शास्त्र एकान्तवाद के दूषण से रहित हैं, जिन शास्त्रों में मिथ्या अपलाप नहीं है, जिन शास्त्रों में जन-जन की वाणी नहीं जिनेन्द्रप्रभु की वाणी है, वही शास्त्र जिनशासन में ग्राह्य हैं। जिन शास्त्रों में निज की सोच नहीं वरन् जिनत्व का शाश्वत सत्य प्रकट हो रहा है, वही शास्त्र वास्तव में सम्यक् शास्त्र हैं। जैसा कि आचार्यों ने लिखा है-

तस्स मुहुग्गद-वयणं, पुव्वावर-दोस - विरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।8।।

नियमसार में आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने आगम को परिभाषित करके लिखा है-आप्तदेव के मुख से निकले हुए वचन पूर्वापर विरोध-दोष से रहित व शुद्ध हैं, इस कारण आगम कहे जाते हैं। उस आगम से तत्त्वार्थ का कथन होता है। शास्त्रों के समीचीन लक्षण को लक्षित करते हुए आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने कहा-

पूर्वापरविरोधादि, दूरं हिंसाद्यपासनम्।
प्रमाणद्वयं संवादि, शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्।।7।। -पूज्यपाद श्रावकाचार

जो पूर्वापर के विरोध से रहित है, हिंसादि पापों से छुड़ाने वाला है, प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों को कहने वाला है और सर्वज्ञ भाषित हो, वह शास्त्र है।

महानुभाव! जिनको तत्त्व ज्ञान नहीं हुआ है, जो अज्ञान रूपी तिमिर से व्याप्त हैं, रागादि से सने हैं, ऐसे कुमत प्रवर्तकों के द्वारा प्ररूपित शास्त्र स्व-पर के लिए बैरी स्वरूप ही हैं। आप्त द्वारा कथित, गणधर देव द्वारा संग्रहित, निर्ग्रंथ गुरुओं द्वारा लिपिबद्ध शास्त्र ही सम्यक् शास्त्र हैं।

इन सम्यक् शास्त्रों को आगम ग्रन्थ भी कहते हैं। जो ग्रन्थ भव्यजीवों के चित्त की ग्रंथियों को खोलने में समर्थ हैं, वे सद्ग्रन्थ हैं अथवा आप्त द्वारा कथित, गणधर द्वारा संग्रहित, मुनियों द्वारा रचित सम्यक् शास्त्र हैं। जिस शास्त्र के पढ़ने पर ग्रन्थी नहीं खुली, पढ़ने पर भी कषाय कम नहीं हुई, एक दिन भी भगवान की पूजा-भक्ति का भाव नहीं आया, अपने कर्तव्य का बोध नहीं हुआ, अपनी बुराईयों को नहीं छोड़ पा रहे तो या तो आपके स्वाध्याय में कमी है या शास्त्र में। शास्त्र प्रपञ्च से रहित होने चाहिए। शास्त्र तो ऐसे होते है जो अंतरंग के प्रपंच अर्थात् अज्ञान के अंधकार को दूर कर दें।

आगे कहा **''प्रपञ्च रहितो गुरु''** गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्य शिवकोटि जी महाराज ने रत्नमाला में कहा-

निरम्बरो निरारम्भो, नित्यानन्दपदार्थिनः।
धर्मदिक् कर्मधिक्साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः॥8॥

जो दिगम्बर हैं, निरारंभ हैं, नित्यानन्द पद के इच्छुक हैं, जो धर्म को बढ़ाने वाले हैं एवं कर्म को जलाने वाले हैं, वे साधु हैं। ऐसा बुधजनों ने कहा है। दिगम्बरसाधु सर्व आडंबरों से विहीन, पाखण्डों से हीन, कषायों से उपरत एवं आत्मतत्त्व की भावना में रत रहते हैं, इसीलिए वे प्रपंच रहित हैं। इसके विपरीत अन्य भेषी साधु महन्तपने का भाव रखने वाले, विषयाशा से संसक्त, एकान्ताग्रह से रक्त, आरंभ-परिग्रह युक्त, आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से हीन, पाखण्ड के पिटारे एवं मलिन चित्त होते हैं।

गुरु वे हैं जो आरंभ और परिग्रह से रहित हों, कषायों से मुक्त हों, विषय-भोगों से विरक्त और पाप प्रवृत्तियों से रहित हों। वे दुर्वचनों और दुर्ध्यानों से दूर हों, अशुभलेश्याओं से रहित हों। जो त्रिदण्डों को जीतने वाले हों, बाईस परीषहों को समता से सहने वाले हों, बारह प्रकार के तपों की भावना व साधना करने वाले हों, वे निर्ग्रंथ गुरु कहलाते हैं। जो केवल अस्त्र लेकर किसी को मारने जा रहे हों, जो नाना प्रकार के लाल, नीले, पीले वस्त्र धारण कर अपने आपको बड़ा मानते हों, जो शॉल ओढ़कर या बाल बढ़ाकर शान दिखाते हों, जो कोठी बनवाकर, चोटी रखवाकर अपने को श्रेष्ठ मानते हों—जिनदर्शन में ऐसे गुरुओं को प्रपंच सहित बताया गया है।

जैसे जन्म के समय पैदा हुए वैसे यथाजात दिगम्बर, निर्विकार बालकवत्, निर्भय साधु प्रपंच रहित होते हैं, उनके चरणों में हमारी धोक है। तीव्र कषाय वाले अथवा सरल-सहज चित्त वाले लोग भले ही कह दें कि ये साधु मूर्ख हैं, तो कहने दें। उनका कथन सत्य नहीं हो सकता। यदि किसी व्यक्ति ने सोने को पीतल कह दिया, तो क्या सोना पीतल हो जाएगा? यदि किसी ने हीरे को काँच कह दिया, तो हीरे के मूल्य में कमी आ गई? यदि कोई अज्ञानी दिन को रात कह दे, तो क्या दिन रात बन जाएगा? यदि कोई सूर्य को तम का समूह कह दे, तो क्या सूर्य का तेज नष्ट हो जाएगा? इसलिए सामने वाले के कहने से अपना मूल्यांकन मत करो। अपना मूल्यांकन करने का पैमाना अपने अंदर से खोजकर लाओ और जिनागम से प्राप्त करो।

गुरु वे होते हैं जो खेती-बाड़ी, आरंभ परिग्रह आदि से रहित हों या अन्य प्रकार के कार्य राजनीति आदि से रहित हों। कोई गृहस्थी बसाकर रहता हो और ये कहे कि मेरी गुराणी है तो वह कहाँ का गुरु, वह तो संसार का नेतृत्व करने वाला है। वह मोक्षमार्ग का नेतृत्व कैसे करेगा। जहाँ छलकपट

एवं मायाचारी युत प्रवृत्ति नहीं हो, जहाँ सरल-सहज-निश्छलता दिखाई देती है, वहाँ पर गुरुता पाई जाती है। नीतिकारों ने कहा है-

गुशब्दस्त्वंधकारे च, रुशब्दस्तन्निवर्तका।
अंधकार विनिस्तत्त्वात्, गुरुसंज्ञा विधीयते॥

'गु' अक्षर का अर्थ होता है अंधकार, 'रु' अर्थात् निवर्तक या नाश करने वाला। इस प्रकार, जो चेतना में विद्यमान अंधकार को दूर करता है, वही गुरु होता है। 'उदयंतु शत-मार्तण्डाः उदयंतु शत-चन्द्रमसः' यदि सैकड़ों चन्द्र व सैकड़ों सूर्य उदय को प्राप्त हो जाएँ तो वे सब मिलकर भी मेरी आत्मा में विद्यमान मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के अंधकार को दूर नहीं कर सकते; जो एक सद्गुरु कर सकते हैं। उनके वचनों से अनादि के अज्ञान, असंयम, मिथ्यात्व का अंधकार तिरोहित होता है।

गुरु शब्द का अर्थ और भी होता है-ग + उ + र + उ = गुरु। 'ग' का अर्थ है गरिमावान्। गरिमा कैसे आती है? जिसके पास 'गम' अर्थात् ज्ञान और गति हो, आपकी भाषा में कहें तो-जो 'गम' खाए, अर्थात् उतावलेपन में न बह जाए। 'उ का अर्थ है उन्नतशील। उन्नतशील कौन होता है? जो नतशील होता है वह उन्नतशील होता है। वास्तव में जो झुकना जानता है वही संसार में उठना जानता है। जो झुकना नहीं जानता केवल ऊपर उठना-उठना जानता है, वह पतित हो जाता है। 'र' शब्द का अर्थ है 'रहस्य' और 'उ' का अर्थ है 'उद्घाटक' जो नये-नये रहस्यों को उद्घाटित करने वाले हों, वही गुरु कहलाते हैं। संसार का सबसे बड़ा रहस्य केवल एक है-अपनी आत्मा का परिचय। आत्मा के अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थों को जान लेना कोई रहस्य की बात नहीं है। जो तुम्हें तुम्हारी आत्मा के रहस्य के बारे में बता

दे, आत्मा का आत्मा से परिचय करा दे संसार का सबसे बड़ा रहस्य वह ही है। उस रहस्य के उद्घाटक गुरु ही होते हैं।

क्षत्रचूडामणि में आचार्य वादीभसिंह सूरीजी ने कहा–

''रत्नत्रयविशुद्धसन् पात्रस्नेहीपरार्थकृत्।

परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः।।2/30।।

जो रत्नत्रय से विशुद्ध हैं, शिष्य से स्नेह करने वाले हैं, परोपकारी हैं तथा धर्म पालन करने वाले हैं ऐसे गुरु ही संसार-सागर से पार कराने वाले होते हैं।

महानुभाव! शिष्यों का अनुग्रह करने वाले, इंद्रिय-भोगों से विरक्त, जिनाज्ञा का पालन करने वाले, शास्त्रों के पठन-पाठन में समर्थ, रत्नत्रय से संयुक्त, विशुद्धबुद्धि वाले, जिनशासन की प्रभावना में रत, मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले सच्चे गुरु ही भव्यों के प्रति संसार सागर से तारने वाले हस्तावलम्बन हैं, वे ही गुरुवर श्रेष्ठ गुरु हो सकते हैं।

आगे कहा **'प्रपञ्चरहितो मोक्षो'** जिनशासन में मोक्ष का स्वरूप कर्मों से रहित माना गया है। आचार्य भगवन् उमास्वामी जी ने बताया–

बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षोमोक्षः।

–(तत्त्वार्थसूत्र-10/2)

बंध हेतुओं का अभाव होने पर और सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होकर कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मोक्ष है। तत्त्वार्थसार में भी मोक्ष का लक्षण बताते हुए कहा–

अभावाद्बन्ध हेतुनां बद्धनिर्जरया तथा।

कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते।।2।।

बंध के कारणों का अभाव तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का सदा के लिए छूट जाना मोक्ष कहलाता है।

अन्य मतावलम्बी सिद्धों का कुछ काल बाद संसार में पुनः आना मानते हैं, किन्तु जिनशासन की मान्यता है कि जिस प्रकार दग्धबीज अंकुरोत्पत्ति नहीं करा सकता उसी प्रकार बंध हेतुओं का अभाव हो जाने पर पुनः संसार में आगमन नहीं होता। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में इंद्रिय सुखों की बहुलता है, किन्तु जिनशासन का कथन है कि सिद्धों को अर्थात् मोक्षस्थ जीवों को अव्याबाध सुख तो होता है परंतु वह सुख इंद्रियजन्य या पराधीन नहीं है। जिनशासन का कथन निर्भ्रान्त है अतः जिनशासन द्वारा प्ररूपित मोक्ष प्रपंच से रहित है।

'दृश्यते जिनशासने' जहाँ कर्मों से रहित अवस्था देखी जाती है, वह ही जिनशासन है, अन्य नहीं। जिनशासन क्या है? जहाँ प्रपंच अर्थात् किंचित् भी कर्म कालिमा न हो। प्रपंच सहित है तो वह जिनशासन नहीं, उससे इतर है। जैसे स्वर्ण को अग्नि में तपाकर निखारा जाता है ऐसे ही सत्यशासन की कसौटी पर कसकर के जिनशासन को निखारा जा सकता है। इस प्रकार आचार्य महोदय ने यहाँ तीन पदों में जिनशासन की विशेषता कही। जो भव्यजीव सर्व प्रपंचों को त्यागकर सम्यक् मार्ग पर आरूढ़ होता है, उसका संसार अत्यल्प रह जाता है। आचार्यों ने कहा है–

जैनेन्द्रं यो मतं लब्ध्वा नियमे यस्य तिष्ठति।
अशेषं कल्विषं दग्ध्वा सुस्थानं सोऽधिगच्छति॥

जो जीव जिनमत को प्राप्त कर उसके नियम, संयम में दृढ़ चित्त होकर स्थिर रहता है वह समस्त पाप को जलाकर उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने करुणाबुद्धि पूर्वक आत्महितार्थ आसन्न भव्यजीवों के लिए कहा कि हे भव्य प्राणियों! अभी तक आप संसार परिभ्रमण कराने वाले अन्य-अन्य प्रपंचों में फँसकर अनंत परावर्तन करते आ रहे हो, अब सर्व प्रपंचों से रहित इस जिनशासन की शरण लो। जिनशासन के अतिरिक्त ऐसा कोई भी आपका हितैषी नहीं, जो आपके संसारकाल का अंत कर सके। इसीलिए शास्त्र, गुरु व मोक्ष आदि के समीचीन रूप को जानकर श्रद्धान करें और अपने जीवन में चरितार्थ करें। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान का महत्त्व

नास्ति ध्यान समो बन्धुर्नास्ति ध्यान समो गुरुः।
नास्ति ध्यान समं मित्रं, नास्ति ध्यान समो तपः।।25।।

अन्वयार्थ–(ध्यान) ध्यान के **(समः)** समान **(बन्धुः)** बंधु **(नास्ति)** नहीं है **(ध्यान समः)** ध्यान के समान **(गुरुः नास्ति)** गुरु नहीं है। **(ध्यानसमं)** ध्यान के समान **(मित्रं नास्ति)** मित्र नहीं है। **(ध्यानसमो)** ध्यान के समान **(तपः नास्ति)** तप नहीं है।

अर्थ–ध्यान के समान बंधु, गुरु, मित्र और तप नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत इस पच्चीसवीं कारिका को देखते हैं, जहाँ आचार्य महोदय ध्यान को निरूपमेय कह रहे हैं। ध्यान के संबंध में आचार्य भगवन् उमास्वामी जी ने कहा–**'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोधोध्यान-मान्तर्मुहूर्त्तात्'** एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उत्तम संहनन वाला पुरुष चित्त को एकाग्र करता है, वह उत्तम ध्यान है, जो कि कर्म को क्षय करने में समर्थ है। उत्तम संहनन कहिए तो वज्रवृषभनाराच संहनन। अन्य संहनन वाले महानुभाव शुक्लध्यान के द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ पाद को प्राप्त नहीं करते, प्रथम पाद को कदाचित् प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि उत्तम संहनन धारी ही क्षपक श्रेणी चढ़ने में समर्थ है। अन्य दो संहनन वज्रनाराच, नाराच, के माध्यम से उपशम श्रेणी तो माड़ी जा सकती है किन्तु क्षपक श्रेणी नहीं।

यहाँ आचार्य महोदय ने ध्यान के विषय में चार बातें कहीं। **''चार दिन की जिंदगी में चार बातें चाहिए।''** जिस व्यक्ति के पास धर्मध्यान है उसके पास स्वाध्याय है, सामायिक है, पूजा-पाठ है, भक्ति है, ध्यान है, जप है, तप है, संयम है, प्रत्याख्यान है, तीर्थयात्रा है, देववंदना है। यदि धर्मध्यान है तो सब है और यदि धर्मध्यान नहीं है तो केवल आँखें बंद करके, शरीर तानकर पत्थर की मूर्ति की तरह से बैठ जाने से केवल काय निश्चेष्ट करने का थोड़ा बहुत पुण्य तो मिल जाएगा किन्तु कर्मों की क्षपणा नहीं होगी। यदि कर्मों को उपशान्त करना चाहते हैं, पाप प्रकृतियों को पुण्य में बदलना चाहते हैं, यदि कर्मों को क्षय करने का दृढ़ संकल्प है तो शुभध्यान का आलम्बन लेना होगा। शुभ मार्ग को परित्याग करके कोई भी व्यक्ति शुभ फल को प्राप्त नहीं कर सकता।

आचार्य महोदय ने पहली बात कही-**'नास्तिध्यान समो बन्धुः'** ध्यान के समान कोई बन्धु नहीं है। संसार में चार बातें कही जाती हैं। 1. साथ में बंधु-बांधव हों। 2. दिशा/मार्ग निर्देशन हेतु गुरु हों। 3. हर समय परछाईं की तरह साथ रहने वाला, मन के हर सुख-दुःख को जानने वाला मित्र हो। 4 अपनी समग्र इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए एक तप नाम का दिव्यरत्न हो। जिसके पास ये चार चीजें हैं उसे और कुछ नही चाहिए। आचार्य महाराज कह रहे हैं ये चार चीजें ध्यान ही हैं। इसलिए कहा संसार में शुभ ध्यान के समान अन्य कोई बंधु नहीं है, जो आत्मा को सुखद अनुभूति दे सके। जितनी सुखद अनुभूति और शान्ति ध्यान में लीन ध्याता को, योगी को, साधक वा श्रमण को होती है, उतनी आनन्द की अनुभूति अन्य किसी क्रिया को करने से नहीं होती।

महानुभाव! ध्यान का आशय समझें रत्नों का व्यापार, वह भी रिटेल में नहीं, होलसेल में। मिट्टी का व्यापार करने वाला जो हजार दिनों में न कमा पाए उतना तो रत्नों का व्यापारी एक डील में कमा लेगा। ध्यान अन्तर्मुहूर्त में कर्मों के बंधन तोड़ने में समर्थ है। ध्यान तो ऐसा बंधु है जिसे देखकर के चित्त में प्रसन्नता का भाव होता है। व्यक्ति अपने बंधु-बांधवों के बीच में प्रतिष्ठा-यश व सम्मान के साथ रहना चाहता है। विदेश में जाकर फटे कपड़े पहनकर, नंगे पैर घूमकर, भीख माँगकर खा लेगा, किन्तु अपने बंधु-बांधवों के बीच में प्रतिष्ठा बनाकर रखता है। वह जितना कष्ट सहन करता है उसमें से आधे से अधिक कष्ट तो अपनी प्रतिष्ठा के लिए सहन करता है। दुनिया तो शान पर मरी है और जब शान नहीं दिखा पाता है तो खिसियाकर रह जाता है।

प्रथम चक्रवर्ती भरतेश, चक्रवर्ती तो बन गए, छह खण्ड को जीत लिया, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा नम्रीभूत हो गए, किन्तु उनके सगे निन्यानवे भाई, द्वितीय माँ का पुत्र बाहुबली भी चल दिए। दोनों बहिनों ने भी दीक्षा ले ली, पिता भी दीक्षित होकर केवली बन गए। अब वह अपने भौतिक वैभव को किसे दिखाएँ। आप अपने मन से पूछो-आपको जब भी कोई भौतिक या आध्यात्मिक उपलब्धि होती है, तो आप दौड़कर के कहाँ जाते हो? वहाँ जिन्हें आप अपना मानते हैं। यदि संसार में आपका कोई अपना न हो तो आप उपलब्धि करना ही न चाहेंगे और हो भी जाएगी तो कहोगे-ये मेरे लिए व्यर्थ है। आप उन्हीं को दिखाना चाहते हैं जिनके बीच आप रहते हैं, और जिनके पास वह वस्तु नहीं है तो दिखाते हैं कि मेरे पास विशेष कुछ है।

बंधु-बांधवों के बीच रहकर एक आनन्द की अनुभूति होती है, उन्हें कुछ उपलब्धि दिखाकर के मन संतोष को प्राप्त होता है। बंधु-बांधवों को पाकर

के व्यक्ति ये सोचता है कि मुझे सब कुछ मिल गया, मैं चाहे जैसे भी रहूँ, किन्तु मेरे बंधु-बांधव मुझसे न छूटें। समाधि के समय तक के लिए कहा-

धर्मात्मा निकट हो, चर्चा धरम सुनावें।
वे सावधान रखें, गाफिल न होने पाऊँ।।

बंधु-बांधव तो वहाँ तक चाहिए। उनके साथ तो प्रतिकूलता में भी आनन्द की अनुभूति की जा सकती है। यदि बंधु-बांधव नहीं हैं तो बहुत बड़ी उपलब्धि करके भी किंचित् भी आनन्द का अनुभव नहीं किया जा सकता। इसलिए संसार में कोई सबसे अच्छा और सच्चा बंधु है, तो वह है शुभ ध्यान। वही आपका सच्चा बंधु है। बंधु वे नहीं हैं जो आपको बंधनों में बाँध दें। अरे! जो बंधु-बांधव केवल विवाह की चिन्ता में पड़े हैं, वे तो आपको संसार में उलझा देंगे। ऐसे बंधु-बांधव किस काम के? सच्चे बंधु-बांधव तो वे हैं जो तुम्हें गर्त से निकालकर सही मार्ग दिखाएँ। जिन्हें देखकर तुम्हारी आँखों में स्वयं चमक आ जाए। अपने सच्चे बन्धु वे होते हैं जिनसे हम अपने मन की बात छिपा नहीं पाते, जो हमारे भीतर की बात को भी सहज ही बाहर ले आते हैं। बंधु वह है जिसके साथ हमें अपनत्व का अनुभव हो।

दूसरी बात आचार्य महोदय ने कही-**'नास्ति ध्यान समो गुरुः'** ध्यान के समान कोई गुरु नहीं है।

जाके रक्षक गुरु धनी, कर का सके कोई और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहीं ठौर।।

जिसकी रक्षा करने वाले गुरु हैं संसार का कोई व्यक्ति उसका क्या बिगाड़ सकता है। वैदिक परम्परा का यह दोहा कि यदि भगवान भी रूठ जाए तो गुरु के पास ठौर है किन्तु यदि गुरु रूठ जाएँ तो तीनों लोकों में कहीं कोई ठौर नहीं है। शुभध्यान ही हमारा गुरु है। आचार्य भगवन् पूज्यपाद

स्वामी जी ने भी लिखा है–**'आत्मैव गुरुरात्मनः'** आत्मा ही आत्मा का गुरु है। जब तक हम अपनी आत्मा को अपना गुरु नही बनाएँगे, तब तक संसार के कितने भी गुरु क्यों न हों, वे हमारी आत्मा का कल्याण नहीं कर पाएँगे। संसार में श्रेष्ठतम गुरु है–हमारा शुभ ध्यान, हमारा प्रशस्त भाव, हमारा निर्मल परिणमन, हमारी कषायों और राग की मंदता यही हमारे शुभभाव के कारण हैं। जब यह शुभध्यान प्राप्त होता है तभी सविकल्प या निर्विकल्प धर्मध्यान होता है, तभी शुक्लध्यान होता है। यह ध्यान ही निःसंदेह आत्मा की गुरुता को प्रदान करता है। जिसके पास ध्यान आ गया, उसे अब किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

जैसे शिष्य अपने गुरु के पास जाकर निश्चिंत हो जाते हैं, जैसे पुत्र पिता के पास आकर निश्चिंत हो जाता है। पिता ने यदि उसे व्यापार हेतु बाहर भेज दिया हो तो वह अकेला जाते समय भयभीत और चिन्तित रहता है, किन्तु जब पिता साथ में हों तो उसे चैन है, चिंता दूर हो जाती है। ऐसे ही जिसके पास शुभध्यान रूपी गुरु है, उसे फिर घबराने की आवश्यकता नहीं रहती। वह शुभध्यान इस आत्मा को पतित होने से बचा लेता है, पूर्वकृत अशुभ कर्मों की भी निर्जरा कर देता है और अशुभ प्रवृति को शुभ में परिवर्तित कर देता है।

महानुभाव! शुभध्यान रूपी गुरु ऐसे रक्षा करता है जैसे गरुड़ पक्षी अपने पंखों में आश्रित जीवों की रक्षा करता है। जैसे वृक्ष अपने ऊपर पक्षियों को ठहरने का आश्रय देता है वैसे ही गुरु आश्रितों को छाया देते हैं। पुष्पों की तरह गुरु शिष्यों को संयम की सुगंध प्रदान करते हैं और मधुर फल रूपी उत्तम ध्यान देते हैं। गुरु ऐसे आश्रय देते हैं जैसे एक जलाशय जलचर जीवों को आश्रय देता है।

जिसके पास गुरु है, उसको किसी चीज की कमी नहीं है। गुरु तो नाविक के समान हैं, यदि नाविक न हो तो नाव से नदी पार नहीं की जा

सकती, और यदि नाविक हो तो नाव न होने पर भी वह नाविक अपने कंधों पर बैठाकर नदी पार करा देगा। जिन्हें नाव तो मिल गई किन्तु यह ज्ञान नहीं कि इससे पार होना है या अग्नि लगाकर तापना है, या उसे तोड़कर नदी में बहाना है अथवा अन्य कुछ करना है–यदि यह समझ न हो तो वह नाव कभी पार नहीं करा सकती। शास्त्र मिल जाएँ, पर शास्त्र का अर्थ बताने वाले गुरु न मिलें, तो वे शास्त्र कई बार शस्त्र का रूप ले लेते हैं। इसीलिए कहा गया कि उत्तम ध्यान के समान कोई गुरु नहीं है।

तीसरी बात कही **'नास्ति ध्यान समं मित्रं'** ध्यान के समान कोई मित्र नहीं है। मित्र दो अक्षर का एक ऐसा रत्न है जिसे प्राप्त करने के लिए छह खण्ड की ही नहीं अपितु तीन लोक की विभूति भी न्यौछावर की जा सकती है। जिसे सच्चे रत्न जैसा सच्चा मित्र मिल गया उसे सब कुछ मिल गया।

पापान् निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगुह्यति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद् गतं न जहाति ददाति काले, सन्मित्र लक्षण मिदं प्रवदन्ति संतः॥

जो पापों से हटाकर हित के मार्ग में लगाने वाला हे, गुप्त बात को छिपाता है और गुणों की प्रशंसा करता है, जो सुख-दुःख दोनों में साथ देता है, जिसे देखकर के स्वतः ही अंतरंग में मित्र के भाव प्रकट हो जाते हैं। जैसे स्वाति नक्षत्र में पानी की बूँद गिरती है तो सीप का मुख खुल जाता है, ऐसे ही मित्र को देखकर मित्र का मुख खिल जाता है। पद्मबंधु अर्थात् कमल का मित्र सूर्य है, उसे देखकर कमल का मुख खिल जाता है, चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी खिल जाती है, ऐसे ही सच्चे मित्र को देखकर मित्र अपना दुःख भूल जाता है। वह सोचता है अब मुझे किसी की चिन्ता नहीं। मित्र संसार में दो ही होते हैं।

एको मित्रो भवति यति वा भूपति र्वा।
राजा मित्रो भवति केन दुष्टं वा श्रुत वा।

मित्र दो होते हैं राजा या साधु, और राजा किसी का मित्र होता है ऐसा क्या कभी देखा-सुना है? नहीं। तो कौन बचा? यति, वह ही सच्चा मित्र होता है। किन्तु यति भी ध्यान की बात कहता है, अतः ध्यान परम मित्र है।

चौथी बात कही-**'नास्ति ध्यान समो तपः'** ध्यान के समान संसार में कोई तप नहीं है। ध्यान अंतिम तप है। छह बहिरंग तप होते हैं-अनशन, ऊनोदर, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तिशय्यासन और कायक्लेश। छह अंतरंग तप होते हैं-प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। ध्यान उत्कृष्ट व अंतिम तप है। जिसके पास यह है, उसके पास समस्त सुखों का सार है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने ध्यान को सर्वोत्कृष्ट बताया। ध्यान से उत्कृष्ट अन्य कोई चेतना का व्यापार हो ही नहीं सकता। जैसे व्यापारी के लिए शुद्ध रत्नों से बढ़कर कोई व्यापार नहीं होता। संसार में अधिकांश व्यक्ति मिट्टी का, घासफूस का, अनाज का तो कोई काँच या धातु (उत्तम, मध्यम, जघन्य) का व्यापार करते हैं किन्तु कोई विरले ही सर्वोत्कृष्ट रत्नों का व्यापार कर पाते हैं। सामान्य व्यक्ति हीरे-मोती आदि की रत्न संज्ञा मानते हैं। एक सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थभूत देव, शास्त्र, गुरु को रत्न कहता है। एक योगी सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को रत्न कहता है। एक भक्त कहता है-'संयम रत्न संभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।' नीतिकार कहते हैं-

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितं।
मूढैः पाषाण खण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥

जल, अन्न और रत्न–ये तीन ही वस्तुएँ पृथ्वी पर वास्तविक रत्न हैं किन्तु मूर्ख व्यक्ति पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहते हैं। जिन्हें खाया जा सकता है और न ही उनसे शरीर की तृप्ति होती है। व्यक्ति गरीब हो या अमीर, बहुत रईस हो या मध्यमवर्गीय–सभी अन्न-जल के माध्यम से शरीर की तृप्ति करते हैं। कोई भी अन्न-जल को छोड़कर के हीरे-मोती की रोटी तो नहीं बनवाता। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहता कि "घर में थोड़े मूंगा रखे हैं, उनका हलवा बना लो। मूँग की दाल का हलवा तो कह सकता है किन्तु यह नहीं कहता कि हीरे रखे हैं, उनकी जलेबी बना लो। प्रत्येक व्यक्ति दाल, सब्जी, रोटी ही खाता है। गरीब हो तो बेचारा सूखी रोटी खाता है, मध्यम वर्गीय हो तो घी-तेल लगाकर रोटी-परांठा खाता है। यहाँ तक कि राजा, अधिराजा, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, चक्रवर्ती या तीर्थंकर भी हों तब भी हीरे-मोती नहीं खाते। सौधर्मइन्द्र; जिसकी इतनी सामर्थ्य है कि रत्नों के पहाड़ जैसे ढेर लगा दें, किन्तु वह भी हीरे-मोती नहीं खाता, उसके कंठ से भी अमृत झरता है। चक्रवर्ती के 360 रसोईया होते हैं, वे गरिष्ठ से गरिष्ठ भोजन बनाते हैं, पर हीरे-मोती का भोजन नहीं बनाते। इससे सिद्ध है कि लोक-व्यवहार में जिन पाषाणखंडों को 'रत्न' कहते हैं, नीतिकार उन्हें रत्न नहीं मानते। धर्मात्माजन जिन रत्नों को वास्तविक रत्न कहते हैं, वे हैं–

देवशास्त्र गुरु रत्न शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न-भिन्न कहूँ आरती अल्पसुगुण विस्तार॥

अर्थात् देव, शास्त्र और गुरु ही वास्तविक रत्न हैं।

कई बार भक्त लोग आचार्यरत्न, उपाध्यायरत्न, साधुरत्न, आर्यिका रत्न आदि कहकर संबोधित करते हैं। जो जिस यूथ में श्रेष्ठ होता है उसे रत्न संज्ञा दे देते हैं। यहाँ आचार्य महोदय ने कहा ध्यान से बढ़कर कोई रत्न नहीं

है। बाहर के रत्न तो छूट जाएँगे किन्तु जो रत्न हमारी चेतना में विद्यमान हैं वे कभी नहीं छूटते।

महानुभाव! जिनागम में इस ध्यान की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। लाखों जन्मों में उपार्जित योगी के सर्वकर्म ध्यान के अभ्यास से उस तरह तत्काल नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय से सब अंधकार नष्ट हो जाता है। ऐसा उत्कृष्ट ध्यान जो अनंत अविनाशी सुख को देता है वह परमनिर्ग्रंथ मुनियों द्वारा ही संभव है। यह ध्यान ही एक मात्र मोक्ष का मुख्य एवं अद्वि तीय कारण है तथा पाप समूह अटवी को भस्मीभूत करने के लिए अग्नि है। इस आत्म ध्यान से बढ़कर कोई सुख नहीं, कोई तप नहीं और कोई साधना नहीं। आत्मध्यान ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है।

महानुभाव! ध्यान के समान उत्कृष्ट कोई बंधु नहीं है। जैसे गुरु सन्मार्ग दिखाते हैं, वैसे ही ध्यान भी उसी सन्मार्ग का फल प्रदान करता है। जैसे मित्र अपने मित्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार ध्यान भी आत्मा की रक्षा करता है। जिस आत्मा में ध्यान प्रकट होता है वह समस्त विकारों, विकृतियों, विभावों एवं समस्त दुर्विचारों को स्वाहा कर देता है, जैसे अग्नि समस्त ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ध्यान समस्त दूषणों को नष्ट कर देता है। ध्यान श्रेष्ठतम तप है। इस प्रकार संक्षेप में इस कारिका का अर्थ हुआ। आज बस इतना ही....

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

परमात्मा के भेद

परमात्मा द्विविधः प्रोक्तः, सकलो निष्कलस्तथा।
सकलोऽर्हत्स्वरूपो हि, सिद्धो निष्कल उच्यते।।26।।

अन्वयार्थ-(**सकलः**) शरीर सहित (**तथा**) तथा (**निष्कलः**) शरीर से रहित (**द्विविधः**) दो प्रकार का (**परमात्मा**) परमात्मा (**प्रोक्तः**) कहा है (**हि**) निश्चय से (**अर्हत् स्वरूपः**) अरिहन्त परमेष्ठी (**सकलः**) सकल परमात्मा हैं (**सिद्धः**) सिद्धों को (**निकलः**) निकल परमात्मा (**उच्यते**) कहते हैं।

अर्थ—परमात्मा सकल और निकल के भेद से दो प्रकार का है। अरिहंतों को सकल तथा सिद्धों को निकल परमात्मा कहते हैं।

व्याख्यान—महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आज देखते हैं परमात्मा के संबंध में। परमात्मा किसे कहते हैं? जिन्होंने परम अवस्था को प्राप्त कर लिया है। उससे उत्कृष्ट कोई दूसरी अवस्था है ही नहीं। जो वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं, हितोपदेशी हैं, अट्ठारह दोषों से रहित हैं, परमौदारिक शरीर से युक्त हैं, नवकेवललब्धि से युक्त हैं और अनंतचतुष्टय से युक्त हैं, वे परमात्मा कहे जाते हैं।

परमात्मा वह है जो भवभ्रमण से रहित है, जिसका अब कभी जन्म नहीं होगा, जो गर्भ में नहीं आएगा, जिसकी शैशव अवस्था नहीं आएगी, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और वृद्धावस्था भी नहीं आएगी। परमात्मा वह है जो मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। मृत्यु का अर्थ है—कर्म के साथ शरीर व आत्मा

का अलग होना। एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर प्राप्त करना मृत्यु है। किन्तु जो अरिहंत भगवान हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती। वे तो मृत्यु की मृत्यु करके मुक्ति अवस्था, निर्वाण अवस्था, मोक्ष अवस्था को प्राप्त करते हैं।

परमात्मा वह है जिनमें भय नहीं है, जिनमें न कोई उद्वेग है और न ही राग-द्वेषादि विकारी भाव हैं। उनमें हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि नवकषाय नहीं होती। उनमें कोई बाह्य इन्द्रिय व्यापार नहीं, कोई क्षयोपशम भाव नहीं, कोई उपशम भाव नहीं। औदयिक भाव है उपचार से कुछ प्रकृतियों का सत्व भी है किन्तु वे प्रकृतियाँ जो सत्ता में पड़ी हैं या उदय में आ रही हैं, वे अब संसार की कारण नहीं बन सकती। आयु कर्म के नष्ट होते ही वे प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं-**'परमात्मा द्विविधः प्रोक्ताः'** जिनशासन में परमात्मा दो प्रकार का कहा गया है सकल और निकल। सकल का अर्थ है-शरीर। जो शरीर से सहित हैं वे सकल परमात्मा हैं। निकल का अर्थ है-शरीर से रहित आत्मा। जो आत्मा समस्त शरीरों से मुक्त होकर सिद्ध-शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुकी हे, वही निकल परमात्मा है। सकल परमात्मा का स्वरूप आचार्य महोदय स्वयं अपने शब्दों में कह रहे हैं-**'सकलोऽर्हत्स्वरूपो हि'** निश्चय से सकल परमात्मा वह है जिसने अर्हत् अवस्था को प्राप्त कर लिया है। अर्हत् शब्द का अर्थ है-पूज्यनीय, वंदनीय, अर्चनीय, स्तुत्य, प्रणम्य। अर्हत् कहो, अरिहंत कहो, अरहंत कहो, अरिहा कहो, अरुहा कहो, ये सब एकार्थवाची हैं। वही अरिहंत भगवान हैं, जिनके चरणों में **''शत इंद्र नमत कर शीश धार''** सौ इन्द्र अपना शीश झुकाते हैं। जो तीन लोक के द्वारा वंदनीय हैं अतः 'त्रिलोकी नाथ' भी कहे जाते हैं। जिन्होंने अपनी आत्मा का सम्पूर्ण ईशपना प्राप्त कर लिया है। इसीलिए वे 'ईश' भी कहे जाते

हैं। वे जितेन्द्रिय हैं, उन्होंने अपने समस्त कर्मों पर विजय पा ली है इसीलिए उन्हें 'जिनेन्द्र' भी कहा जाता है। वे 'आप्त' हैं, उन्होंने ऐसी अवस्था को प्राप्त किया जिसे कभी पूर्व में प्राप्त नहीं किया। उन्होंने वह अवस्था बाहर से प्राप्त नहीं की अपितु अंदर से प्रकट की है, कर्मों को क्षीण करके प्राप्त की है, ऐसा यह अर्हत् स्वरूप है।

महानुभाव! सात प्रकार के केवली होते हैं–तीर्थंकर केवली, सामान्य केवली, मूक केवली, समुद्घात केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली और अनुबद्ध केवली। ये सभी केवली अरिहंत भगवान हैं। श्रुत केवली अरिहंत भगवान नहीं हैं। श्रुत शब्द कह रहा है, वे श्रुतज्ञान के ज्ञाता हैं।

अरिहंत भगवान सकल परमात्मा हैं। चाहे वे समवसरण में विराजमान हों, चाहे गंधकुटी में, चाहे अन्तर्मुहूर्त के लिए ही अरिहंत अवस्था प्राप्त की हो, वेसकल परमात्मा कहलाते हैं। अरिहंत भगवान का नाम लेने मात्र से, उनके गुणों का चिंतन करने मात्र से मोहनीय कर्म ऐसे भागता है जैसे कमजोर दिल वाला व्यक्ति बन्दूक की आवाज सुनकर भाग जाता है। अरिहंत भगवान का नाम लेने से विषय–कषाय भाग जाते हैं।

अर्हत् भक्ति सदा मन आने,
सो जन विषय कषाय न जाने।

महानुभाव! आगे कह रहे हैं **'सिद्धो निष्कल उच्यते'** सिद्ध परमेष्ठी शरीर से रहित हैं, कर्मों से रहित हैं, संसार से रहित हैं। जिन्होंने अष्ट कर्मों का क्षय करके आत्मा के सत्य स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध कहलाते हैं। इसी को आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने कहा **'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धि'** अर्थात् अपने शुद्ध आत्मरूप, अविनाशी, अनंत आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाना सिद्धिः अर्थात् मुक्त अवस्था कहलाती है। वह परम परमेष्ठी

रूप सिद्ध अवस्था चौदहवें गुणस्थान में चतुर्थ शुक्लध्यान व्युपरतक्रियानिवर्ती के बल से चार अघातिया कर्मों का क्षय करके प्राप्त होती है। उस सिद्धत्व के प्रकट होते ही बहिरंग विभूति, अष्टप्रातिहार्य व दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि का नाश हो जाता है। मात्र क्षायिक सम्यक्त्वादि आत्मिक अष्ट गुण शाश्वत विद्यमान रहते हैं। उन शाश्वत आत्मीय गुणों से शोभायमान वे सिद्ध परमेष्ठी सदा अनंतकाल के लिए लोकाग्र में विराजमान रहते हैं। मात्र ज्ञाता–दृष्टा बनकर सिद्ध प्रभु शुद्ध आत्मा में ही प्रतिक्षण निमग्न रहते हैं।

महानुभाव! संसारवर्धक दु:खों के क्षय होने से जो अनंत सुखों को प्राप्त हो गए हैं ऐसे सिद्धों के अनंत सुखों का परिमाण कौन कर सकता है? कोई नहीं कर सकता। चार ज्ञान के धनी गणधर भी असमर्थ हैं। सिद्धों का सुख मात्र आत्मा के उपादान से उत्पन्न होने से स्वाभाविक है, शाश्वत है। उनका सुख निर्बाध है। इंद्रिय सुखों में निरंतर बाधा रहती है पर सिद्धों का सुख अव्याबाध है। उनका सुख इच्छा रहित होने से न कभी घटता है न कभी बढ़ता है। वह सुख आत्मा के प्रत्येक प्रदेशों में व्याप्त होकर रहता है। सत्य तो यह है कि सिद्ध परमेष्ठी का सुख संसारी जीवों के क्षणिक सुख से अत्यंत विलक्षण, आत्मसापेक्ष है।

आचार्य महोदय ने कहा–'निष्कल' अर्थात् शरीर से रहित अवस्था, क्योंकि सिद्ध परमात्मा की सिद्धपर्याय पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्रतीक है। उस पर्याय में पर की अपेक्षा ही नहीं है। संसारी जीवों के औदारिक आदि शरीर होने से वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधादि पीड़ाएँ उत्पन्न होती हैं, वे षट्रस युत विविध व्यंजनों से शरीर की रक्षा करते हैं, किन्तु सिद्धों के उन क्षुधादि दोषों का अभाव हो गया है। अत: उन्हें इनसे कोई प्रयोजन नहीं। वे सदा निजस्वरूप में लीन रहते हैं।

संसारी जीवों का शरीर सात कुधातुओं से भरा हुआ है, अशुचि है, उसके लिए वे नाना प्रकार के सुगंधित पदार्थों का उपयोग करते हैं, किन्तु सिद्ध परमेष्ठी के शरीर अभाव होने से वहाँ अशुचिता का स्पर्श नहीं देखा जाता। संसारी जीव निरंतर मोहाभिभूत होकर श्रम करता है, थकावट होने पर कोमल शय्या पर शयन करता है, किन्तु सिद्ध परमेष्ठी जिनों के पास अनंतवीर्य नामक एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति है, जिसके माध्यम से त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानते, देखते रहने पर भी वे कभी थकते नहीं हैं। जहाँ थकान नहीं ऐसे सिद्धों के कोमल शय्या आदि से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता।

महानुभाव! सत्य ही है–जिस प्रकार रोग के अभाव हो जाने पर औषधि का कोई प्रयोजन नहीं, अंधकार के अभाव में दीपक का कोई उपयोग नहीं, ठीक वैसे ही पूर्ण स्वावलंबी आत्मा के सिद्धपर्याय में पूर्ण स्वाधीनता हो जाने से परपदार्थ का कोई प्रयोजन नहीं रहता। वास्तव में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त सिद्ध परमात्मा ही हैं।

इस प्रकार यहाँ अरिहंत व सिद्ध रूप दो प्रकार के परमात्माओं का कथन किया। जो भव्यजीव भक्ति से, निर्मल परिणामों से उनकी वंदना करते हैं, वे परम मुक्ति स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर उन्हीं के समान अनंत सुखों के भोगी होते हैं। आप और हम सभी उनके गुणों की आराधना कर परमात्म गुणों को प्राप्त करें। इन्हीं–शुभ भावनाओं के साथ। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान का फल

श्रूयते ध्यान - योगेन, सम्प्राप्तं पदमव्ययम्।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन, कुर्याद् ध्यानं बुधोत्तमः।।27।।

अन्वयार्थ–(ध्यान-योगेन) ध्यान योग से **(अव्ययं)** अव्यय **(पदं)** पद को **(सम्प्राप्तम्)** प्राप्त करता है। ऐसा **(श्रूयते)** सुना जाता है। **(तस्मात्)** इसलिए **(सर्व)** सम्पूर्ण **(प्रयत्नेन)** प्रयत्न से **(बुधोत्तमः)** बुद्धिमानों में भी उत्तम पुरुष **(ध्यानं)** ध्यान **(कुर्यात्)** करें।

अर्थ–ध्यानके योग से ही जीव अव्यय पद को प्राप्त करता है। इसलिए बुद्धिमान जीवों को प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आज हम देखते हैं कि आचार्य महोदय ने ध्यान का फल क्या कहा है। ध्यान का फल है अर्हंत और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति। परन्तु ये कौन से ध्यान का फल है? प्रशस्त ध्यान का फल प्रशस्त होता है, अप्रशस्त ध्यान का फल अप्रशस्त होता है। बुरे कार्य का प्रतिफल बुरा और अच्छे का अच्छा होता है। संसार में बुरे व्यक्तियों से अच्छा कार्य हो पाना दुष्कर है, और अच्छे व्यक्तियों से बुरा कार्य हो पाना दुर्लभ है। सबकी अलग-अलग प्रकृति, प्रवृत्ति और नियति होती है। जिसकी प्रकृति और नियति अच्छी है उसकी प्रवृत्ति भी अच्छी होगी और जिसकी प्रकृति व नियति खराब है उसकी प्रवृत्ति भी खराब होगी।

नारकी जीव चाहकर भी शुभ चेष्टा नहीं कर सकते, शुभ लेश्या नहीं कर सकते। उनके अशुभतर वेदना, परिणाम, लेश्यादि होते हैं। उनकी संक्लेशता

अशुभ, अशुभतर व अशुभतम तक पहुँच जाती है। देवों का शुभ से प्रारंभ होकर शुभतर होता हुआ शुभतम तक पहुँच जाता है। शुद्ध तक नहीं पहुँच पाता। अनुत्तरवासी और अनुदिशवासी अहमिन्द्रों के कभी भी अशुभ विक्रिया नहीं होती, अशुभलेश्या नहीं होती और न ही अशुभ परिणाम होते हैं। वे अपने परिणाम मिथ्यात्वजन्य नहीं कर पाते क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे एक-दो भव लेकर ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वे कभी चाहकर भी अशुद्ध वस्तु का भक्षण नहीं कर सकते और नारकी चाहे कि मुझे शुद्ध वस्तु भक्षण करने के लिए मिल जाए तो उसे मिल नहीं सकती। संसारी लोग कहते हैं-

'जो आयो जी काम को, ऊ से और न होय'

जो व्यक्ति पूर्व भव से ही सुसंस्कार लेकर आया है, वह बाल्यावस्था से ही वैराग्य को धारण कर मुनि बन जाता है। वह धर्म प्रभावक बन जाता है और सिर्फ अपने शासन का नहीं, अपने क्षेत्र व देश का नहीं, अपितु विश्व के समस्त प्राणियों का संवाहक और नायक कहलाता है। तीर्थंकर तीन लोक का नेतृत्व करने वाले नायक कहलाते हैं। एक व्यक्ति ऐसा है जो स्वयं तो नरक में जा रहा है, अकेला नहीं जा रहा, अपने साथ दस, बीस, पचास, सौ या इससे भी ज्यादा को लेकर जा रहा है। वह वहाँ का नेतृत्व कर रहा है। तीर्थंकर प्रभु स्वयं मोक्ष जाते हैं और अपने साथ अन्य जीवों को भी मोक्षमार्ग बताते हैं। सर्वार्थसिद्धि जाने वाले मुनिराज स्वयं तो स्वर्ग जाते ही हैं किन्तु उनकी प्रेरणा से कितने हजारों जीव भी स्वर्ग पहुँच जाते हैं।

महानुभाव! जिसे आप चाहते हैं, आपको जिससे अनुराग है, संभव है वह जहाँ जा रहा है, आप भी वहीं पहुँच जाएँगे। माना कि आप वीतराग जिनेन्द्र प्रभु के अनुरागी हैं, उनके दर्शन किए बिना आपको चैन नहीं मिलता, भगवान आपको कहीं भी मिलें आप दर्शन करने मंदिर में पहुँच जाते हैं।

अथवा जीवंत भगवान हों, तो जहाँ भी विहार हो भव्यजीव वहाँ पहुँच जाते हैं। अथवा किन्हीं मुनिराज से आपको विशेष अनुराग लगाव हो गया हो, वे इस नगर से उस नगर, इस ग्राम से अन्य ग्राम अथवा विभिन्न प्रान्तों में विहार करते हों–तो उन्हें चाहने वाले लोग उनके पास वहीं पहुँच जाते हैं। उनकी भक्ति, वंदना, स्मरण करते हैं और उनके गुणगान तथा यशोगान करते हैं। यद्यपि अधिक काल तक वहाँ ठहर नहीं पाते और फिर अपने स्थान पर लौट आते हैं। किन्तु उनसे हृदयपूर्वक कहते हैं–महाराज श्री! हमारा शरीर हमारे साथ जा रहा है, परन्तु मन तो आपके पास ही है। तो मुनिराज जिस स्वर्ग में पहुँचेंगे, उनके भक्त भी उसी स्वर्ग में पहुँचेंगे। यदि मुनिराज का उत्कृष्ट पुण्य है तो उन्हें उत्कृष्ट पद मिल गया और भक्तों को अपने पुण्यानुसार उसी स्थान पर मध्यम, जघन्य स्थान मिल गया।

जो जिसको चाहता है उसके पीछे-पीछे चला जाता है। जैसे परछाई विषय के साथ चलती है, प्रतिबिम्ब भी उसके साथ जाता है। ऐसे ही शुभ गति में जाने वाले व्यक्ति के पीछे जो भी लग गया, वह भी शुभ गति में पहुँच जाएगा। वीतरागी के पीछे जो लग गया, वह एक दिन वीतरागी बन ही जाएगा। यदि एक छलांग में नहीं पहुँच पाया तो 2-3-4 में पहुँच ही जाएगा। ऊँचाई को छूने वाले के पीछे लगोगे तो ऊँचा उठ जाओगे, अधःस्थान को जाने वाले के पीछे लगोगे तो पतित हो जाओगे।

महानुभाव! आप भी यदि उन्हें चाहते हैं, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है अथवा उस मार्ग पर चल रहे हैं, तो वे जहाँ जा रहे हैं, वहाँ तक आप भी पहुँच जाओगे। आप यह देख लो कि हमारा मन ईमानदारी से किसे चाहता है? जिसे चाह रहा है, उसकी गति आपकी दृष्टि में क्या है? समझ लेना, लगभग आपकी गति भी वही है।

व्यक्ति उसे ही चाहता है जो उसके मन के अनुकूल हो। अपने मन की प्रकृति और प्रवृत्ति जिससे मिलती है, समझ लेना हम उसके इर्द-गिर्द ही घूम रहे हैं और कुछ नहीं। जो हमारे मन में चल रहा है, वही हम हैं। जो हमारी परिणति है, वही हम हैं।

बालक माँ से लड्डू माँगता है। माँ कहती है–''अभी नहीं, जाओ थोड़ी देर खेलकर आओ।'' बेटा थोड़ी देर खेलकर आ गया और फिर जिद करने लगा–माँ लड्डू दो न, माँ फिर कहती है–''शाम को दूँगी।'' बेटा शाम को आया तो माँ बोली–बेटा! अभी रात हो गई सुबह जरूर दूँगी। बेटे को सुबह से शाम तक वही चाहिए और उसे कुछ नहीं चाहिए। उसका मन उसी पर अड़ा रहता है। माँ के पीछे-पीछे घूमते हुए भी वह कहता है–''मुझे वही चाहिए।'' अन्ततः वही उसे मिल भी जाता है। ऐसे ही जो मनुष्य एक साथ बहुत कुछ चाहता है, वह कुछ नहीं पा सकता। परंतु जो एक को चाहता है, उसी पर अडिग रहता है, तो वह उसे अवश्य प्राप्त कर ही लेता है।

एके साधें सब सधे सब साधे सब जाय।
जो तू सेवे मूल को, फूले फले अघाय॥

एक लक्ष्य बनाने से प्राप्त हो जाता है, जब लक्ष्य अलग-अलग बनाते हैं तब एक भी प्राप्त नहीं हो पाता। जब एक समीचीन संकल्प में दृढ़ता है तो प्राप्त हो जाएगा और यदि मन में विकल्प है, मन पीपल के पत्ते की तरह डंवाडोल हो रहा है, तो संशय में पड़कर कुछ भी हाथ नहीं आएगा। यहाँ आचार्य महोदय ध्यान की प्रेरणा दें रहे हैं।

'श्रूयते' अर्थात् सुना जाता है। यहाँ यहा नहीं कहा कि मैंने सुना है अथवा उसने सुना है। नहीं यह ऐसी बात है जो सबने सुनी, आज भी सुन रहे हैं और आगे भी सुनते रहेंगे। तीनों लोकों में यह बात विख्यात है। यह सत्य है

कि 'ध्यान योगेन' ध्यान को आत्मा से जोड़ने से, आत्मा में ध्यान आ जाने से जिसका मन एकाग्र है, ऐसी आत्मा अष्टांग योग के माध्यम से (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) उस ध्यान के फल को प्राप्त करता है। आचार्य शुभचंद्रस्वामी जी ने वैराग्य मणिमाला में लिखा है–

यमनियमासन-योगाभ्यासान्, प्राणायाम-प्रत्याहारान्।
धारण-ध्येय-समाधीन् धारय, संसाराब्धेर्जीवान् तारय॥

यम-अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः पञ्च यमाः।'' यावज्जीवन के लिए अभक्ष्यादि पापों का त्याग यम कहलाता है।

नियम ''शौच-संतोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः'' नियम आत्मा को शुद्ध करने वाले साधन हैं।

नियम का मतलब है–अपनी लाइफ को एक सिस्टम में लाना। अथवा आत्मसंयम और अच्छे संस्कारों का पालन। अल्पकाल के लिए जो छोटे-छोटे नियम लिए जाते हैं वह नियम कहलाता है। यह स्वअनुशासन का मार्ग है।

आसन–''स्थिर सुखमासनम्'' शरीर की ऐसी अवस्था जो सुखद और स्थिर हो आसन कहलाती है। परीक्षा की तैयारी करते वक्त अगर बार-बार उठो तो मन भटक जाता है। पद्मासन में या कायोत्सर्ग जैसे आसन में बैठकर ध्यान लगाओ, तो Focus दोगुना बढ़ेगा। शरीर अगर बैचेन है तो मन कभी स्थिर नहीं होगा। यदि आसन सही है तो मस्तिष्क भी स्थिर होता है। सीधे बैठना, रिलैक्स होना और लम्बे समय तक एक जगह टिकना ही आसन है। यह शरीर को ध्यान अवस्था में ले जाता है।

आसन का उद्देश्य शरीर को स्थिर और संयमित करना है ताकि ध्यान संभव हो। जैन योग में पद्मासन, खड्गासन, कायोत्सर्ग आदि विविध आसन

प्रसिद्ध हैं। आसन का दूसरा अर्थ है 'आस + न' जहाँ आशाओं को छोड़ दिया, वह आसन है। कवि महोदय कहते हैं–

आसन मारे क्या भया, मरी न मन की आस।
तैली केरा बैल ज्यों, घर ही कोस पचास।

तेली का बैल तेल निकालता है, घर में ही घूमता रहता है, कहीं बाहर नहीं जाता। तेली से किसी ने पूछा कि आप तो कह रहे थे मेरे बैल थक गए, किन्तु वे तो बाड़े के बाहर भी नहीं गए तो थक कैसे गए? हाँ, सही कहते हो, न जाने कैसे थक जाते हैं, मैं तो इन्हें बाड़े के बाहर लेकर भी नहीं जाता हूँ, वहीं पर घास खिलाता हूँ। तो बाड़े में कुछ चीज है क्या? हाँ, बाड़े में एक कोल्हू है, उसे ही ये खींचते रहते हैं। ऐसे ही जिस योगी का मन बाहर जा रहा है, वह भले ही बाह्य में आसन मारकर बैठ गया किन्तु मन की आशा नहीं मरी। ये भी चाहिए वो भी चाहिए, तो बस पेनडुलम जैसा हो जाएगा, यूँ जाए कि यूँ जाए। बस फिर उसका मकड़ी जैसा जीवन हो जाता है, जाल बुनते चले जाते हैं–बुनते चले जाते हैं और पुनः स्वयं उसी में फँस जाते हैं। अपनी इच्छाओं के मकड़ जाल से उबर पाना बड़ा मुश्किल है।

प्राणायाम–''श्वासप्रश्वासयोः गति-विच्छेदः प्राणायामः''। श्वास-प्रश्वास को नियंत्रित करना प्राणायाम है। यह मानसिक शांति और चित्त की एकाग्रता लाता है। यह प्रत्याहार और ध्यान के लिए साधक को तैयार करता है।

ध्यान के फल को प्राप्त करने में प्राणायाम की अहम् भूमिका है। प्राणायाम से आत्मा पर शरीर और मन का बोझ कम होता है। यदि इंटरव्यू से पहले Nervous लग रहा हो तो 10 गहरी साँसें लो, तुरन्त confidence बढ़ेगा। प्राणायाम अर्थात् श्वसन को जीत लेना। ऐसा नहीं कि थोड़ी किसी ने बात कह दी तो घबरा गए, श्वांस की गति तेज हो गई, कोई बात हो

गई तो शरीर ठंडा पड़ गया। श्वांसों की गति तीव्र होती है तब भी घबराहट होती है और श्वांस की गति मंद होती है तब भी घबराहट होती है। इसलिए जब वह गति सहज होती है तब सब ठीक रहता है। नदी में पानी ज्यादा आ जाए, तब भी खतरनाक है और नदी में पानी कम हो जाए तब भी खतरा है। नदी दोनों तटों पर समीचीन वेग के साथ, समत्व के साथ बहती रहे तो हरियाली, खुशहाली देने वाली होती है।

प्रत्याहार–''स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारः प्रत्याहारः।'' इंद्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर करना प्रत्याहार है। जब पढ़ाई करनी हो और Mobile Notification Distract करे, तो Phone silent करके ध्यान किताब पर लगाना–यही प्रत्याहार है। प्रत्याहार मस्तिष्क को बाहरी Distractions से हटाकर आन्तरिक शान्ति की ओर ले जाता है।

प्रत्याहार Mind का switch off बटन है। यह आपको self control यानि आत्म नियंत्रण में निष्णात बनाता है। यह साधन के लिए मन को अंतर्मुख बनाता है।

धारणा–''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''। मन को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना ही धारणा है। जिस प्रकार कोई क्रिकेटर बैटिंग के समय Crowd, Camera, Commentator सबको ignore कर सिर्फ बॉल पर Focus करता है। यही धारणा है। जीवन में सफलता उन्हीं को मिलती है जिनका Focus strong हो। धारणा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मन को चंचलता से मुक्त करती है।

ध्यान–''तंत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'' एक ही विषय में मन की निरंतर प्रवाहशीलता ध्यान है। जैसे म्यूजिक सुनते वक्त अगर आप खो जाते हैं और सब भूल जाते हैं, तो वो एक लघु ध्यान की स्थिति है। ध्यान का मतलब

है Mind को Pure State में रखना। आज के युवाओं के लिए यह Mind Detox है। यह आत्मा को शांति, स्वच्छता और शक्ति देता है।

समाधि-''तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''। जहाँ मन पूर्णतः शांत हो जाए और आत्मा ही प्रकट हो वह समाधि की दशा है।

जब वैज्ञानिक (scientist) को कोई नई खोज सूझती है, या जब कोई Artist पेंटिंग में इतना डूब जाता है कि समय का अहसास नहीं रहता-यह लघु समाधि है। समाधि जन्म-मरण से परे मोक्ष की अवस्था है।

महानुभाव! अष्टांग योग केवल 'पुराने ग्रंथों' की बातें नहीं हैं। यह तो Life Skills का Toolkit है।

- यम और नियम से बनता है character
- आसन और प्राणायाम से मिलता है Health + Calmness
- प्रत्याहार और ध्यान से मिलता है Focus
- ध्यान और समाधि से मिलती है Real happiness

योगाभ्यास करने से शरीर में स्थिरता आती है। और वचनों से मौन लेने से वचनों में स्थिरता आती है। मौन केवल बाह्यवचनालाप का नहीं वरन् अंतरजल्प को भी विश्रांति या विराम देना चाहिए और साथ ही मन की दौड़ को भी कम करो। मन को काम सौंप दो, क्योंकि मन शैतान है, जिंद की तरह से कहता है, काम बताओ-काम बताओ। आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने कह दिया, चलो इधर आओ, हम तुम्हें काम बताते हैं, **'श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनो मर्कट ममु'** इस मन रूपी बंदर को श्रुत रूपी स्कंध पर रमा दो। अर्थात् मन को शास्त्र स्वाध्याय में लगा दो, यह अपने आप एकाग्र हो जाएगा।

यहाँ कहा कि कि ध्यान के योग से अव्यय पद की प्राप्ति होती है। अर्थात् आत्मा जब ध्यान के योग से जुड़ जाती है तो आत्मा अव्यय पद को

प्राप्त कर लेती है। जैसे अग्नि के संयोग से जल गर्म हो जाता है, पारसमणि के संयोग से लोहा भी स्वर्ण हो जाता है, कल्पवृक्ष की शीतल छाया में बैठकर जो कल्पना करो वह पूर्ण हो जाती है, अर्हंत भगवान की अनीचा भक्ति करने से सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। कर्म रहित आत्मा ही मुक्त होती है और उसका उपाय रत्नत्रय है। जिस प्रकार समीचीन विधि से अशुद्ध सोना भी शुद्ध हो सकता है, ऐसे ही ध्यान योग के माध्यम से इस आत्मा को अव्यय पद की प्राप्ति हो जाती है।

अव्यय कहिए तो जिसका कभी व्यय न हो। व्यय यानि खर्च। खर्च का आशय है जो चीज हमारे पास थी अब नहीं है। जैसे बालक के पास पैसे थे, वह मेले में गया तो पैसे खर्च हो गए। माँ ने पूछा–पैसे कहाँ हैं? मम्मी वो तो खम हो गए। खत्म हो गए ये नहीं कह रहा, क्या कह रहा है? खम हो गए। ऐसे ही योगी के लिए कहा हे योगी! अब तू खम में आ जा। खम कहिए तो आकाश। अब तू आकाश जैसा अमूर्तिक बन जा, निर्लेप बन जा। अभी तुम खम में नहीं आए, अभी तो कहते हैं हममें कुछ दमखम है।

अरे! दमखम शरीर की नहीं होती। खम का अर्थ होता है सामर्थ्य–क्षमता। इस शरीर की कोई क्षमता नहीं है। शरीर में कोई दम नहीं है। पर आज लोग इसका उल्टा अर्थ करते है। इसका सही अर्थ है 'दम' अर्थात् इन्द्रियों का दमन करने से आत्मा की शक्ति जागृत होती है, और 'खम' यानि क्षमा भाव से आत्मा की सामर्थ्य प्रकट होती है। तो दमखम यदि इंद्रियों का दमन और क्षमा भाव जिसके पास है वही दमखम अवस्था को प्राप्त होता है। वही शून्य अवस्था को प्राप्त कर सकता है, वही निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त कर सकता है और कालान्तर में अपनी आत्मा को आकाश की तरह अमूर्त बना सकता है।

यहाँ कहा कि ध्यान योग से अव्यय पद प्राप्त होता है। पर यदि ध्यान योग किया जाए तो क्या आत्मा अव्यय नहीं रहेगी? क्या आत्मा मर जाएगी? किन्तु आत्मा तो कभी मरती नहीं है? हाँ, ठीक कहते हो, परंतु जिसके साथ आत्मा है वह शरीर तो मरता है न। और जब वह मरता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो आत्मा भी मर गई। यदि किसी संस्था का दिवालिया निकल जाए तो केवल एक व्यापारी नहीं, बल्कि पूरी संस्था दिवालिया घोषित हो जाती है। कोई कहे कम्पनी का दिवाला निकला है, मेरा थोड़े ही निकला है, तो ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार जब शरीर नष्ट होता है तो आत्मा भी शरीर में विद्यमान नहीं रहती। जब शरीर पूजनीय होता है, तब आत्मा भी पूजनीय कही जाती है। जब शरीर निंदनीय होता है तो आत्मा भी निन्दनीय कही जाती है। यदि आत्मा वन्दनीय होती है तो शरीर भी वन्दनीय हो जाता है। जब तक दोनों अविनाभावी रूप से रहेंगे तब तक एक-दूसरे के साथ उनका मूल्यांकन होता है। सूखी लकड़ी स्वयं जलती है, और यदि गीला ईंधन उसके साथ में आ जाए तो उसे भी जलना पड़ता है। वैसे ही आत्मा स्वयं तो कभी मरती नहीं, किन्तु शरीर के साथ उसका संबंध होने से मरना प्रतीत होता है।

व्यवहार में दस प्राणों का वियोग हो जाना मृत्यु कहलाती है। मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर का वियोग हो जाना। जब शरीर का व्यय हो जाता है, तो अव्यय अवस्था नहीं कहलाएगी। व्यय हुआ तो दूसरी अवस्था आएगी, फिर व्यय हुआ पुनः अगली अवस्था आएगी। अतः जो पुन-पुनः नष्ट होता चला जा रहा है उसे अव्यय नहीं कहते।

अव्यय का अर्थ है—जिस पद का कभी व्यय न हो। इसलिए पंचपरमेष्ठी का ही वह पद है जो कभी भूतपूर्व नहीं होता। अन्य पद तो भूतपूर्व होते हैं—कोई भूतपूर्व सरपंच होता है, कोई भूतपूर्व सांसद, कोई भूतपूर्व प्रधानमंत्री

तो कोई भूतपूर्व राष्ट्रपति या अन्य किसी पद पर रहने वाला। कोई यह भी कह सकता है कि ये भूतपूर्व श्रावक अब मुनि बन गए हैं, या ये इनका भूतपूर्व परिवार है। अरिहंत भगवान में भी भूतपूर्व का उपचार किया जा सकता है। जैसे कहें कि ये सिद्ध आत्मा हैं इनकी भूतपूर्व अवस्था अरिहन्त की थी, किन्तु सिद्धों के लिए भूतपूर्व शब्द प्रयोग नहीं किया जा सकता सिद्ध अवस्था तो अभूतपूर्व है। यद्यपि पाँच परमेष्ठी की अवस्था भी अभूतपूर्व हो सकती है। अरिहंत अवस्था दुबारा प्राप्त नहीं होती है, किन्तु उसके आगे भी कोई अवस्था है इसलिए इसे भूतपूर्व कह सकते हैं।

सिद्ध अवस्था अव्यय पद की अवस्था है, जिसका कभी व्यय नहीं होता। इसलिए वह अपने आप में अभूतपूर्व है। यह अवस्था ऐसी अपूर्व है जिसकी कोई उत्तर पर्याय नहीं है।

एक बार एक शिविर चल रहा था। शिवरार्थी सामायिक करने बैठे थे। उसी समय अचानक कहीं रिकॉर्डर चल गया और उसमें बारह भावना चली, 'कहाँ गए चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा' अथवा 'ओस बूंद ज्यों गले धूप में वा अंजुली पानी....'। एक शिवरार्थी यह सुन रहा था। रिकॉर्डर में फिर भजन चलने लगा–**''अरे नर! कर उस दिन की याद कि जिस दिन चल चल चल होगी'...।** सुनते–सुनते उसका दिमाग खराब हो गया। वो आया और रिकॉर्डर बंद कर दिया। किसी ने पूछा–भाई, क्यों बंद कर दिया? वह बोला–मेरे कान इसे सुनते–सुनते पक गए हैं। भैया! एक दिन सबको मरना है, सही तो कह रहा है। वह बोला, तो क्या करें? मर जाएँ? फाँसी लगा लें? अरे भैया! ऐसा तो नहीं कहा। भजन यदि यह कह रहे हैं कि तुझे मरना है, तो यह भी कह रहा है कि मरने से पहले ऐसा काम कर ले जिससे तेरी ये पर्याय सार्थक हो जाए। यह नहीं कह रहे कि अभी मर जाओ, बल्कि ये

तुझे होश दिला रहे हैं कि एक दिन तुम्हें मरना ही है, इसलिए उससे पहले कुछ कर लो। तेरी ये शरीर रूपी गाड़ी खराब होने वाली है, इससे पहले कुछ यात्रा कर लो। आयु रूपी लाइट कब चली जाए, पता नहीं। इसलिए जो काम करना है वह शीघ्र कर लो। इस विषय में मक्खनलाल जी की पंक्ति बड़ी अच्छी हैं–

करना है सो जल्दी कर लो, सुकृत तरुण अवस्था में,
पैसा पास, निरोगी काया, इंद्रिय ठीक व्यवस्था में।
कर न सकोगे वृद्धापन में, बल पौरुष थक जाने से,
लगी आग कुटिया में फिर क्या होगा कूप खुदाने से।।

जैसे–किसी को प्यास लगी हो, पास एक मटका है जिसमें केवल एक छेद है। उसमें से एक-एक बूँद पानी टपकने से वह माना एक घंटे में खाली हो जाएगा। तो क्या करें? मटका फोड़ दें क्या? नहीं, मटका न फोड़ो, पानी पी लो। एक घंटे में खाली हो जाएगा, इससे पहले अपनी प्यास शांत कर लो, बाद में पानी नहीं मिलेगा। यही तो कहा जा रहा है कि अपने मनुष्य भव का सदुपयोग कर लो।

तुम्हारे पास आयु के ज्यादा से ज्यादा 40 या 50 वर्ष रह गए होंगे, देख लो क्या करना है। एक-एक बूँद की तरह से एक-एक श्वांस के साथ मिनट, सेकंड बीतते जा रहे हैं। अब देख लो क्या करना है। जितना ज्यादा कर सकते हो, उतना कर लो। जैसे परीक्षा हॉल में परीक्षार्थी बैठा है। कुल 3 घंटे की परीक्षा है और समय धीरे-धीरे निकल रहा है। संकेत होता है एक घंटा बीत चुका फिर दो घंटे बीत गए पुनः अब बस आधा घंटा शेष है।

तो क्या करें, कॉपी फाड़ कर रख दें? नहीं, ये तो मूर्खता की भाषा है। फिर क्या करें? जो साल भर में याद किया है उसे लिख दीजिए। इससे आपकी पढ़ाई का परिणाम आपके सामने आ जाएगा। ऐसे ही इन वैराग्य भरी

बातों को सुनकर, अनित्य भावना को सुनकर अपने जीवन को सफल और सार्थक कर लो। श्वांसों का भरोसा नहीं है। श्वांसों पर मृत्यु रूपी सैनिक पहरा दे रहा है। कब वह द्वार बंद कर दे और श्वांस को आने-जाने न दे, कुछ कहा नहीं जा सकता।

महानुभाव! ध्यान व योग के माध्यम से अव्यय पद की प्राप्ति होती है। इसलिए अब सभी प्रकार से प्रयत्न करके 'कुर्यात् ध्यानं बुधोत्तमः' हे बुद्धिमानों में उत्तम पुरुष! आपको ध्यान करना चाहिए। यदि आप रत्नों का व्यापार करने में समर्थ हैं तो वही करना चाहिए। भूसे के व्यापार में क्यों लगे हो। जब आप जानते हैं कि आत्मा को अव्यय पद की प्राप्ति ध्यान व योग के माध्यम से होती है और आप भी वह पद प्राप्त करना चाहते हो तो एक बार अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर, सम्पूर्ण प्रकार से मन, वचन, काय को लगाकर ध्यान में प्रयत्न करें।

जिस प्रकार आषाढ़ का चूका किसान पछताता है, उसी प्रकार जीवन में भी अवसर चूकने पर पछताना पड़ता है। आप अपने बच्चों से कहते हैं-बेटा! अच्छी पढ़ाई करो, ताकि आगे चलकर कुछ बन सको। वरना जीवन भर गाय चरानी पड़ेगी। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील या कुछ और बनना है, तो अभी से निर्णय कर लो। जिस प्रतियोगिता में तुम बैठे हो उसमें यदि शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया तो जो जिस कॉलेज चाहोगे, वहाँ प्रवेश मिल जाएगा। वह बच्चा अपने जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर लेता है, तब वह दिन-रात मेहनत करता है और पूरी शक्ति लगाता है। यह निर्णय ही उसे सफलता की ओर ले जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति ये समझलेता है कि मेरे पास जीवन के इतने ही वर्ष या इतने ही दिन या कुछ ही घंटे शेष हैं, तब वह आत्मध्यान में प्रवृत्त हो जाता है।

मात कहत सुत होत बड़ो रे, काल कहत दिन आवत मेरो।

माँ कहती है मेरा बेटा बड़ा हो रहा है, किन्तु काल कह रहा है चिन्ता न कर, दिन बढ़ नहीं रहे घट रहे हैं, मेरा दिन आने वाला है।

महानुभाव! आचार्य महोदय यह बात मूर्खों के लिए नहीं, अभव्यों के लिए नहीं, सामान्य भव्यों के लिए नहीं, मात्र सम्यग्दृष्टियों के लिए नहीं, शास्त्रपाठियों के लिए नहीं अपितु जो आत्मज्ञानी हैं, जो उत्तम पुरुष हैं उनके लिए कह रहे हैं। वे ही बात को समझ सकते हैं, संकेत को मान सकते हैं। जो समझे उससे ही कहना सार्थक है अन्यथा श्रम व समय व्यर्थ ही चला जाएगा। इसलिए आचार्य महोदय ने कृपा करके हमसे कहा है, आप और हम सभी शक्ति अनुसार इसे ग्रहण करने की कोशिश करें। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

योगियों का तत्त्व

पक्षपात विनिर्मुक्तं, लाभालाभविवर्जितं।
माया मनः परित्यक्त्वं, तत्त्वं भवति योगिनः।।28।।

अन्वयार्थ–(पक्षपात) पक्षपात से **(विनिर्मुक्तं)** रहित **(लाभालाभ)** लाभ और अलाभ से **(विवर्जितम्)** रहित है **(मनः)** मन को **(माया)** मायाचारी **(परित्यक्त्वां)** विरहित किया है ऐसा **(योगिनः)** योगियों का **(तत्त्वं)** तत्त्व **(भवति)** होता है।

अर्थ–योगी का तत्त्व पक्षपात से, लाभ अलाभ के विकल्प से तथा मायाचार से रहित होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत बताया गया है कि ध्यान करने के योग्य कौन है। जो कार्य जिस पद के अनुकूल है उस कार्य को करो। जिस कार्य को करने की जिसमें क्षमता है, उससे ही कहा जाता है। हाथी के ऊपर ही हाथी का भार रखा जाता है, किसी चूहे पर हाथी का वजन नहीं रखा जाता। जिस माल को एक ट्रक में भरा जा सकता है, उतने माल को किसी साइकिल के कैरियर पर नहीं बाँधा जा सकता। जो शक्ति घोड़े में है, वह जिस कार्य को कर सकता है वह कार्य एक छछूँदर नहीं कर सकता, जो कार्य एक भैंसा कर सकता है वह कार्य एक केंचुआ के द्वारा नहीं किया जा सकता। जो कार्य युवा के माध्यम से किया जाता है वह कार्य नवजात शिशु नहीं कर सकता। जिसकी जितनी क्षमता है उससे उतने ही काम की अपेक्षा व संकेत किया जाता है।

निर्देश सबके लिए अलग-अलग होते हैं। बालक को बालक के अनुसार, पालक को पालक के अनुसार, गुरु को उनके पद के अनुरूप और शिष्य को उसके पद के अनुसार निर्देश दिए जाते हैं। ड्राइवर के निर्देश अलग होते हैं और यात्रियों के लिए अलग। इसी प्रकार श्रावक के लिए निर्देश अलग हैं और श्रमण के लिए भिन्न। सबकी पात्रता भिन्न होती है।

यह आवश्यक नहीं है कि सभी विद्यार्थी गणित में अच्छे नंबर लाएँ या सभी अंग्रेजी में श्रेष्ठ हों। यह भी जरूरी नहीं कि सब काव्यपाठ में उत्कृष्ट हों या खेलकूद में निपुण हों। सबकी योग्यता अलग-अलग होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि जो जिस पद पर आसीन है, उस के अंदर उस पद के अनुरूप योग्यताएँ अवश्य होना चाहिए। जब व्यक्ति में वे गुण, लक्षण प्रकट होते हैं, तभी वह पद शोभायमान होता है।

श्रावक वह है जो श्रद्धावान, विवेकवान और क्रियावान हो। गृहस्थ वह है जो अपनी गृहिणी के साथ घर में रहता है। पशु वह है जो शिक्षा, आलाप, उपदेश समझाने से नहीं, बल्कि डंडे की मार से समझता है। किन्तु कुछ पशु ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य की भाँति जीते हैं, इशारे से काम करते हैं। सबकी भिन्न-भिन्न योग्यताएँ होती हैं। मिट्टी के कलश में पानी भर दो तो वह ठंडा हो जाता है, परंतु स्वर्ण कलश का पानी देह में आग उत्पन्न करता है। सबकी विशेषता अलग होती है। यहाँ आचार्य महोदय एक योगी के बारे में बता रहे हैं। योगी कौन? जो योगसाधना में संलग्न है, ध्यान में तल्लीन है, समाधि में स्थित है। साधुओं के चार प्रकार बताए गए हैं-ऋषि, मुनि, यति और अनगार। ऋद्धियों से सम्पन्न साधक **ऋषि** कहलाते हैं। उपशम वा क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ **यति** कहलाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानी साधक **मुनि** कहलाते हैं। जो गृह आदि सर्व बाह्य परिग्रहों से रहित, यथाशक्य अंतरंग परिग्रह से

रहित, यथाजात दिगम्बर अवस्था धारण कर पंचमहाव्रतों का पालन करते हैं वे **अनगार** कहलाते हैं।

श्रमण शब्द सामान्य है, जो मोक्षमार्ग का श्रम करे वही श्रमण है। 'योगी' शब्द का अर्थ है–जो योग साधना में संलग्न हो, ध्यान करने में स्थिर हो, समता भाव से युक्त हो, कषायों का उद्रेक न हो और जिसका मन सरल–सहज हो। आचार्य महोदय ने उस योगी की परिभाषा स्वयं अपने शब्दों में दी और कहा–**'तत्त्वं भवति योगिनः'** तत् अर्थात् 'वह', त्व यानि 'पना' वह का वह पना, अस्तित्त्व = है का है पना, जीवत्व = जीव का जीवपना। त्व का अर्थ है उसका मूल स्वभाव या उसकी मूलभूत अवस्था, जिसके बिना वह रह नहीं सकता। जीवत्व के बिना जीव नहीं, अजीवत्व के बिना अजीव नहीं, मूर्तत्व के बिना मूर्त नहीं, ज्ञेयत्व के बिना ज्ञेय नहीं। इसी प्रकार से अन्य में लगाना चाहिए।

योगी का एक तत्त्व होता है–अर्थात् योगी का योगीपना, योगी का स्वभाव, योगी की आत्मा, योगी का प्राण। जिसके माध्यम से योगी जी रहा है। जिस प्रकार शरीर के दस प्राण निकल जाएँ तो वह मुर्दा कहलाता है। एकेन्द्रिय में चार प्राण, दो इन्द्रिय में छह प्राण, तीन इंद्रिय में आठ प्राण, असंज्ञी पंचेंद्रिय में नौ प्राण होते हैं। इन प्राणों के संयोग से जीव जीता है और वियोग से मरता है। साधक के प्राण हैं साधना, क्षमाशील का प्राण है क्षमा, विनम्र व्यक्ति का प्राण है विनय भाव, ब्रह्मचारी का प्राण है ब्रह्मचर्य, विद्वान का प्राण है विद्वत्व। किसी के लक्षण से ही उसका नाम आरोपित किया जाता है, यदि वे लक्षण उसमें से निकल जाएँ तो वैसा वह नहीं रह पाता।

धावक वह है जो दौड़ रहा हो। यदि कोई शान्ति से बैठा है तो नाम निक्षेप से उसे धावक कह देंगे, पर भाव निक्षेप से नहीं कहेंगे। पुजारी वही

है जो पूजा कर रहा हो। घास चराने वाले को पुजारी तो नहीं कहेंगे। यदि किसी के पास धन है, तब तो धनी है किन्तु निर्धन को धनी नहीं कह सकते, सुन्दरता से सहित है, तभी सुन्दर है अन्यथा नहीं। ऐसे ही यहाँ पर कहा 'योगी कौन है?' जिसमें योगीपना हो।

योगी की परिभाषा करते हुए पद्मसिंह मुनिराज ने लिखा है–

कंदप्पदप्पदलणो, डंभ विहीणो विमुक्कवावारो।
उग्गतव दित्तगत्तो, जोई विण्णाय परमत्थो।। –(ज्ञानसार 4)

अर्थात् जिन्होंने कंदर्प के दर्प का दलन किया है, जो दम्भविहीन है, जो मन, वचन, कायकृत व्यापार से मुक्त हैं, जो उग्रतपस्वी हैं, जो दीप्तगात्री हैं, वह परमार्थ से योगी हैं। यूँ तो योगियों में अनेक गुण होते हैं किन्तु यहाँ आचार्य महोदय ने तीन गुणों का विशेष कथन किया है।

योगी का योगीपना कैसे होता है, तो उन्होंने बताया–**'पक्षपात विनिर्मुक्तं'** जो उच्चकोटि के साधक होते हैं उनके पक्षपात नहीं होता। 'पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषो कपलादिषु' जिन्हें भगवान महावीर स्वामी के प्रति पक्षपात नहीं, और कपलादि के प्रति विद्वेष का भाव नहीं। जो युक्तियुक्त वचन ग्रहण करने का इच्छुक है वह आत्महितार्थी होता है। मैं एकान्ततः यह नहीं कहता कि मैं इन्हीं को स्वीकार करूँगा, मैं कहता हूँ, जिससे कल्याण होगा, जिनके युक्तियुक्तसत्य वचन हैं, जो आप्त के वचन हैं, उन्हें स्वीकार करूँगा। मैं ये नहीं कहता कि मुझे इस कुँए का ही पानी चाहिए, मैं तो ये कहता हूँ कि मुझे प्यास लगी है, जो पानी मेरी प्यास को बुझा दे वह पानी मुझे चाहिए। जो अग्नि गंदगी, कूड़ा-कचरा आदि को जला दे ऐसी अग्नि चाहिए, जो जला न पाए ऐसी अग्नि नहीं चाहिए। वह दियासिलाई किसी भी दुकान की हो, पर जले तो सही। भोजन शुद्ध-स्वच्छ हो, उदर की पूर्ति करने में समर्थ

हो, अभक्ष्य भोजन से उदर की पूर्ति नहीं करना। महानुभाव! पहली बात यहाँ कही कि योगी पक्षपात से रहित होता है। वह सत्य का प्रतीक होता है। जो सत्य के जिज्ञासु, सत्य के प्रार्थी, सत्य के अन्वेषक, सत्य के संग्राहक होते हैं, वे लोग उसका पक्ष लेते हैं। जो सत्य के विरोधी, असत्य के पक्षधर, असत्य के प्रेमी, असत्य के विश्वस्त व असत्य के प्रार्थी होते हैं, वे उनसे विद्वेष रखते हैं। वे सत्यमार्गी से विद्वेष रखने वाले होते हैं।

महानुभाव! दिन उसे अच्छा लगता है जिसे दिन चाहिए। जिसे रात्रि अच्छी लगती है उसे तो दिनकर शत्रु ही लगेगा। वह रात्रि की ही प्रशंसा करेगा। इसी प्रकार जिसको अच्छा मानता है उसकी प्रशंसा करता है, और जो अच्छा नहीं लगता उसकी निंदा करता है। किन्तु यहाँ कह रहे हैं कि योगी का कोई पक्ष नहीं होता। जिसको योगी अच्छा लग रहा है, वह योगी को अपना पक्षधर मानता है। जिसे योगी बुरा लग रहा है, वह योगी को अपना विपक्षधर मानता है। किन्तु योगी न तो पक्षधर है, न ही विपक्षधर; योगी तो केवल मार्ग पर चलता है।

आगे कहा **'लाभालाभविवर्जितं'** योगी वह है जो बाह्य लाभ व बाह्य हानि से रहित है। बाहर क्या लाभ-हानि हुई, शरीर दुबला-पतला हो गया या मोटा हो गया, शरीर का वर्ण अच्छा हो गया या फीका पड़ गया, बाह्य शब्दों का भंडार ज्यादा भर गया या कम रह गया, प्रशंसक बढ़ गएया घट गए, भक्त कम है या ज्यादा, श्रोता कम हो गए या अधिक हो गए-इन सबसे योगी को कोई अंतर नहीं पड़ता। उसके लिए बाह्य लाभ से कोई वास्तविक लाभ नहीं, बाह्य हानि से कोई वास्तविक हानि नहीं। योगी तो अपने अंतरंग में झाँकता रहता है कि मेरे अंतरंग के परिणाम कैसे हैं। यदि परिणाम प्रशस्त हैं, तो वही पर्याप्त है। यदि अप्रशस्त हैं, तो उसे सुधारकर पुनः प्रशस्त कर लेता है।

बाहरी हानि-लाभ से वह व्यक्ति प्रभावित होता है, जो बाहर में जीता है। अंतरंग में जीने वाला व्यक्ति बाह्य लाभ-हानि से कोई सरोकार नहीं रखता है। उसे तो अपने अंतरंग की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि लगती है। अंतरंग की हानि ही हानि है। यही कारण है कि योगी को कहा गया है–वह लाभ-अलाभ से रहित होता है। योगी अपने गन्तव्य की ओर चलता रहता है। लोग उसे पक्षधर या विपक्षधर, मानें उससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता, लाभ-हानि, प्रशंसा-निंदा कुछ भी उसके मार्ग को प्रभावित नहीं कर सकता। कोई चाहे उसकी प्रशंसा के कितने ही पुल बाँधे–अरे वाह! आपके आने से तो यहाँ का वातावरण ही बदल गया, आप नहीं होते तो ये कार्य संभव ही नहीं था। अथवा कोई उसकी निंदा कर दे–आपके कारण ही ये कार्य बिगड़ गया, या उपसर्ग करने लगे, किन्तु योगी के लिए इन सबसे कोई अंतर नहीं पड़ता।

जीवे मरणे लाहा लाहे, संजोग विप्प जोगे य।
बंधुरिह सुहदुक्खादो समदा सामाइयं णाम॥

वे योगी जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख में सदैव समता भावी रहते हैं। वे जीवन की सभी सम-विषम परिस्थितियों में हर्ष-विषाद नहीं करते, अपितु कर्मों के उदय-अनुदय को समझकर समत्वधारी बन जाते हैं।

योगी ऐसे होते हैं, जो बाहर में न लाभ दे रहे न हानि दे रहे, अपने आप में संलग्न हैं। बाहर से यदि कोई उपसर्ग करे तो वे सोचते हैं कि मेरे ही पाप कर्म का उदय है और कोई पूजा, स्तुति, वंदना करे तो पुण्य प्रकृति का उदय है।

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन थुति करन।
अर्घावतरण असि प्रहारन में सदा समता धरन॥

महानुभाव! योगी चिंतन करता हैं कि ये प्रशंसक और निन्दक मेरी आत्मा से नहीं मेरे पुण्य-पाप से बँधे हैं। मेरा पुण्य इन्हें खींचकर लाया स्तुति के लिए, मेरा पाप इन्हें खींचकर लाया उपसर्ग के लिए। मेरे पुण्य-पाप ने दोनों को निमंत्रण दिया है। पुण्य-पाप समझता है कि मैं इस आत्मा में बहुत समय से रह रहा हूँ, तो मैं इनका हूँ, किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं आत्मा हूँ, जो शाश्वत है। पुण्य-पाप तो अतिथि समान हैं। आज यहाँ ठहरेंगे, कल कहीं और चले जाएँगे। इनका कोई भरोसा नहीं, पर मेरी आत्मा नित्य और अजर-अमर है।

आगे कहा-**'माया मनः परित्यक्त्वं'** योगी क्रोध, मान, माया, लोभ का परित्यक्ता होता है। योगी इन्हें परित्यक्त मानकर स्पर्श भी नहीं करता। जैसे पवनंजय ने 22 वर्ष के लिए अंजना को त्याग दिया था, श्री राम चन्द्रजी ने कुछ समय के लिए सीता जी का परित्याग कर दिया था। परित्यक्ता तब तक है, जब तक सदोष है। योगी ने कषायों को, अशुभ प्रवृत्तियों को सदैव के लिए परित्यक्त मान लिया। ये पुनः ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। जो कार्माण वर्गणाएँ स्व और पर की नहीं हैं वे कार्माण वर्गणाएँ ठहर सकती हैं किन्तु जिनसे स्व-पर की आत्मा का घात होता है उन वर्गणाओं को योगी ठहरने नहीं देता। फिर जो स्व-पर का घात नहीं कर रही, मोक्षमार्ग में बाधक नहीं हैं वे वर्गणाएँ कहती हैं कि हम तो तब तक थीं जब तक घातक वर्गणाएँ आपके पास थीं। अब जब कोई घातक वर्गणाएँ ही नहीं रही, अब हम भी आपके पास नहीं रह सकती।

माया के अवास्तविकता और कपट ये दो अर्थ हैं। जब अवास्तविकता अर्थ लगाते हैं तो अर्थ होगा कि आरंभपरिग्रह आदि हिंसा के कारणभूत सर्व कृत्यों से हीन। जब कपट अर्थ लगाते हैं, तो योगीगण इन्द्रजालादि क्रियाएँ नहीं करते इसीलिए वे मायापरित्यक्त हैं।

‘‘**स्वहृदयप्रच्छादनार्थमनुष्ठानं माया**’’ अर्थात् अपने मन के विचारों को छिपाने का नाम माया है, योगी उससे पूर्णतया मुक्त होता है। योगी जानते हैं कि माया दुर्गति का कारण है, अतः योगी अपने मन को पूर्ण निर्मल बनाते हैं।

‘‘**तत्त्वं भवति योगिनः**’’ इस प्रकार के स्वभाव वाला ही योगी होता है। योगी की यहाँ पर तीन विशेषताएँ दीं। लाभ-अलाभ के विषय में वह मध्यस्थ हो, पक्षपात से रहित हो और मन से क्रोध, मान, माया, लोभ का भाव भी तिरोहित हो जाए, ऐसा वह योगी होता है। इस प्रकार का जिसका स्वभाव है, वह योगी है। योगी ही इस प्रकार का स्वभाव बना पाता है, भोगी कदापि नहीं बना पाता।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने योगी के तत्त्व को प्राप्त करने का तरीका बताया। जिस प्रकार स्कूल का विद्यार्थी यदि समुचित अध्ययन करता है, तो वह समुचित सफलता भी प्राप्त करता है। जो समुचित अध्ययन नहीं करता, अपने कार्य में चोरी करता है, आलसी बन जाता है, अपने कर्त्तव्यों को छोड़कर अनधिकारी चेष्टा करने लग जाता है, तब वह विद्यार्थीपने से रहित हो जाता है। ऐसे ही यहाँ बताया जो योगीपने से सहित है वह योगी है, भगवत्ता से सहित है वह भगवान है, मानवता से सहित मानव है। योगी का तत्त्व उसे तभी प्राप्त होता है जब वह उपरोक्त बातों को स्मरण रखता है, उसे आचरित करता है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

योगियों की स्थिति

गर्भिणी च यथा नारी पश्यत्यन्तः स्थसत्त्वकम्।
एवं योगी स्व देहस्थं स्वं पश्येद् रेचकादिभिः॥29॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(गर्भिणी)** गर्भवती **(नारी)** स्त्री **(अन्तस्थः)** अपने भीतर के **(सत्वकम्)** शिशु को **(पश्यति)** देखती है **(एवं)** उसी प्रकार **(योगी)** योगी **(स्वदेहस्थम्)** शरीर में स्थित **(स्वम्)** स्व को **(रेचकादिभिः)** रेचकादि के द्वारा **(पश्येत्)** देखे।

अर्थ–जिस प्रकार गर्भवती स्त्री सतत अपने उदरस्थ शिशु का ध्यान रखती है, उसी प्रकार योगी स्व–देह में अपनी आत्मा को रेचकादिक के द्वारा देखता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अंतर्गत योगियों के संबंध में विश्लेषण देख रहे हैं। सम्यग्दृष्टि का स्वरूप मिथ्यादृष्टि से बिल्कुल पृथक् होता है। दृष्टि यानि देखने की क्रिया, दृग यानि देखने का यंत्र, दृष्टा माने जो देखने वाला है, दृश्य माने देखने के योग्य। इसी प्रकार ज्ञान में देखें। ज्ञान–जानने की क्रिया, ज्ञाता–जानने वाला, ज्ञेय–जानने योग्य पदार्थ। जो ज्ञाता है वह ज्ञान गुण से जानता है। 'ज्ञप्ति मात्रं ज्ञानं' 'जानाति इति ज्ञानं' अथवा 'ज्ञायतेऽनेन ज्ञानं'।

निगोदिया जीव से लेकर सिद्धपरमेष्ठी तक संसार के सभी जीवों के पास ज्ञान है। जैसे भव प्रत्यय अवधिज्ञान प्रत्येक देव–नारकी के पास होता है ऐसे ही कुमति–कुश्रुत या मति–श्रुतज्ञान सभी छद्मस्थों के पास होता है,

ज्ञान होना अलग बात है और यथार्थज्ञान होना अलग बात है। भेदज्ञान होना अलग बात है, भेदों का ज्ञान होना अलग बात है। भेदों का ज्ञान सामान्य व्यक्ति को भी हो सकता है किन्तु भेदविज्ञान विशेष व्यक्ति को ही संभव है। जितने भी प्राकृतिक पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सभी भेदविज्ञान की शिक्षा देने वाले होते हैं।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महाराज ने बताया कि योगी रेचक आदि विधि के द्वारा अपने शरीर के अंदर स्वत्व का अनुभव करे। योगी अलग है उसके योग अलग हैं। यहाँ गर्भिणी नारी का उदाहरण दिया। प्रकृति के और भी बहुत से उदाहरण हैं। जैसे एक नारियल जब तक भीतर से गीला रहता है, तब तक बाहर से चोट देने पर उसका आघात भीतर तक पहुँच जाता है। किन्तु जब समय आने पर उसका अंदरूनी भाग (गूदा और जल) कवच से अलग हो जाता है, तब वह बाहर की चोट से अप्रभावित हो जाता है। उस समय चाहे बाहर से जितना भी आघात किया जाए, भीतर उसकी सुरक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार जब तक जीवात्मा शरीर और कर्म बन्धनों से लिपटा रहता है, तब तक संसार के दुःख-सुख, आघात और विपत्तियाँ सीधे उसे स्पर्श कर जाती हैं। परन्तु जब तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मा बाह्य आवरण शरीरादि से भिन्न हो जाता है, तब बाहर के आघात उसे छू नहीं पाते। वह भीतर से सुरक्षित और निर्मल बनी रहती है। इस शरीर के अंदर विद्यमान चेतना स्वानुभवगम्य है।

आचार्य देवसेन स्वामीजी ने आलाप पद्धति ग्रन्थ में लिखा है 'चैतन्यं अनुभूतिस्यात्' अनुभूति ही चैतन्यता है। आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने इष्टोपदेश में कहा–**'स्वसंवेदन-सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः'** स्वसंवेदन ही चेतना है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, आचार्य जयसेन स्वामी एवं अमृतचंद स्वामीजी ने समयसारकलश में ब्रह्मदेवसूरी ने वृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में, पद्मप्रभमल्लधारी देव ने प्रभाकर भट्ट को समझाने के लिए परमात्म प्रकाश की टीका में अनेक उद्धरण दिए।

जिस समय स्वात्मानुभूति हो रही है उस समय ही वह योगी है। स्वात्मानुभूति से रहित योगी, योगी नहीं। किन्तु स्वात्मानुभूति केवल सम्यक्त्व के बल से नहीं होती। सम्यक्त्व के माध्यम से तो श्रद्धान होता है, ज्ञान के माध्यम से जानकारी होती है किन्तु आत्मा का आत्मा में आत्मस्थ होना ही आत्मानुभूति होती है। इसे समाधि कहें, निर्विकल्प ध्यान कहें, योग साधना कहें, निश्चय मोक्षमार्ग कहें, सब एकार्थवाची हैं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं, **'गर्भिणी च यथा नारी'** जिस प्रकार गर्भवती स्त्री **'पश्यत्यन्तः स्थ सत्वकम्'** अपने शरीर के अंदर जो गर्भ धारण किया उसका अनुभव करती है। गर्भ अलग दिखाई नहीं दे रहा, उदर आदि की वृद्धि से अनुमान लगाया जाता है, किन्तु ये अनुमान भी जरूरी नहीं। जो गर्भवती नहीं है उसका उदर आदि भी स्थूल हो सकता है। जिनके उदर अल्प होते हैं, उनका गर्भस्थ होने के बाद भी उदर ज्यादा विस्तार को प्राप्त नहीं होता। तीर्थंकर की माँ जब गर्भवती होती हैं तो उनके नाभि के नीचे पड़ी हुई त्रिवली भी भंग नहीं होती। यहाँ कहा कि गर्भवती महिला को ही अनुभूति होती है कि उसके अंदर सत्त्व है, जीव है, उसकी वृद्धि हो रही है। उसका अनुभव कोई बाहर से नहीं कर सकता। वह स्पष्ट जानती है कि—मैं अलग हूँ और यह जीव अलग है। उन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार योगी भी इस सत्य को पहले अपने श्रद्धान में लाता है कि मेरी आत्मा अलग है, शरीर अलग है। श्रद्धा कब बनती है? जब वह पहले शब्दों में जानता है। सद्गुरुओं के उपदेश से, समीचीन शास्त्रों के अभ्यास से वा वीतरागी जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि से वह उन शब्दों को ग्रहण करता है, फिर अनुभव में लाता है। जैसे किसी ने कहा—'काँटा लगने से कष्ट होता है'। पहले यह सब सुनी-सुनाई बात है। फिर जब उसने दूसरों को

काँटे से पीड़ित देखा, तो ज्ञान हुआ कि यह सत्य है। वास्तविक अनुभव तब हुआ जब काँटा स्वयं उसके पैर में चुभा। दूसरे के काँटे चुभते देखकर मन पिघल भी सकता है, आँखों में आँसू भी आसकते हैं, परन्तु काँटे की पीड़ा का अनुभव तो तभी होगा जब काँटा स्वयं चुभे।

महानुभाव! किसी इष्ट व्यक्ति या वस्तु के मिलने का सुख वही अनुभव कर सकता है, जिसे वह इष्ट संयोग प्राप्त हुआ हो। अन्यथा कौन जान सकता है कि वह अनुभव कैसा होता है? अनिष्ट के संयोग का आर्त्तपरिणाम भी वही जान सकता है जिसके साथ अनिष्ट का संयोग हुआ है। शरीर के सुख–दु:ख का अनुभव दूसरों को देख–सुनकर नहीं स्वयं की अनुभूति से ही होता है। शरीर में सुख नहीं है तो केवल कल्पनाजाल से अनुभूतियाँ उत्पन्न नहीं होती। कल्पनाओं के माध्यम से या शब्दों के माध्यम से हम अनुभूति तक नहीं पहुँच सकते। अनुभूति तो तभी संभव है, जब आत्मा उस घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करे।

जैसे गर्भिणी स्त्री अपने अन्त:स्थ शिशु को प्रत्यक्ष अनुभव करती है, उसी प्रकार योगी भी अपने देह में स्थित आत्मा का अवलोकन करता है। वह उसकी अनुभूति वा प्रतीती करता है। यह कैसे होता है? रेचक, कुम्भक, पूरक इन तीन प्रक्रियाओं के माध्यम से। पहले अशुद्ध वर्गणाओं का विरेचन होता है पुन: शुभ का आहरण किया जाता है और फिर श्वास–प्रश्वास की साधना से कुम्भक–क्रिया होती है। वैद्य लोग किसी रोगी की चिकित्सा करने के पूर्व उसकी नाड़ी देखते हैं व पता लगाते हैं कि कफ प्रकुपित है या पित्त, वात प्रकुपित है या मिश्र प्रकृति प्रकुपित है। यह जानकर जो भी रोगजनक तत्त्व शरीर में हैं, उसे शरीर के बाहर निकालता है, उसके बाद शुद्ध पदार्थों का सेवन कराता है। भवन में यदि गंदगी भर गई हो, तो कुशल व्यक्ति पहले गंदगी को बाहर निकालता है, उसके बाद घर को सुसज्जित करता है।

आचार्य महाराज यही बता रहे हैं कि प्राणायाम की क्रिया क्या है—श्वांस का लेना, रोकना और छोड़ना। अर्थात् पहले जो श्वांस भरी है उसे छोड़ो। इसे रेचक कहते हैं। अर्थात् उसके बाद नयी श्वांस को लो अर्थात् पूरक पुनः थोड़ा रोक कर के रखो अर्थात् कुंभक कुंभक यानि कलश की तरह पेट को फुलाना। योगी प्राणायामादि क्रिया से अपने को स्वस्थ करके अपनी आत्मा का अनुभव करने में समर्थ होता है।

पूरक, रेचक व कुंभक इनका स्वरूप ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी जी ने इस प्रकार बताया—

द्वादशान्तात् समाकृष्टा यः समीर प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो, वायुविज्ञान को विदैः।।26/44।।

अर्थात् ब्रह्मतालु-मस्तक से वायु को खींचकर जो पूर्ण किया जाता है उसे वायु के ज्ञान में निपुणजनों को पूरक जानना चाहिए।

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः।।26/45।।

उस श्वाँस वायु को स्थिर करके जो नाभिरूप कमल के भीतर घड़े के आकार में अतिदृढ़तापूर्वक रोका जाता है उसे कुंभक प्राणायाम कहते हैं।

निः सार्यतेऽतियत्नेन, यः कोष्ठाच्छ्वसनः शनैः।
स रेचक इति प्राज्ञैः, प्रणीतः पवनागमे।।26/46।।

श्वासवायु को जो उदर के भीतर से अतिशय प्रयत्नपूर्वक बाहर निकाला जाता है उसे वायुशास्त्र में विद्वानों के द्वारा रेचक प्राणायाम कहा जाता है।

इस प्रकार एक योगी भी मन को एकाग्र करने के लिए प्राणायाम आदि साधनों का आलम्बन ग्रहण करता है, इससे उसका मन इतना स्थिर हो जाता

है कि उनको जग का सब वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखने लगता है। ऐसा आचार्य भगवन् शुभचंद्र स्वामी जी ने कहा है।

महानुभाव! आचार्य महोदय इस कारिका के माध्यम से यही कहना चाहते हैं कि भेदविज्ञान के बिना आत्मा से साक्षात्कार नहीं होता और भेद विज्ञान सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना अनुभूति परक नहीं होता। शब्दों के पढ़ने-सुनने से तो ज्ञान होता है, किन्तु अनुभूति संयम के बिना असंभव है। गर्भिणी नारी के उदाहरण के माध्यम से समझाया कि जो अनुभव गर्भिणी स्त्री कर सकती है, वह एक बाँझ स्त्री नहीं कर सकती। योगी भी रेचकादि प्राणायाम द्वारा अपनी आत्मा का अपनी आत्मा में अनुभव करता है। जब चिंतन में देह से देहातीत होता है, तब उसे आत्मा का अनुभव होता है। वह आत्मा शब्दातीत है, गंधातीत है, वर्णातीत है, स्पर्शातीत है। उस आत्मा के बारे में तो कहा जा सकता है, पर आत्मा को नहीं कहा जा सकता। आत्मा के बारे में कहने वाले अनेक ग्रन्थ हैं, वक्ता हैं, किन्तु आत्मा क्या है—यह सिर्फ और सिर्फ अनुभूति का विषय है, वाच्य नहीं अवाच्य है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आत्मचिन्तन का फल

न जापेन न होमेन नाक्षसूत्रस्य धारणात्।
प्राप्यते तत्परं तत्त्वं, प्राप्यं त्वात्मविचिन्तनात्॥30॥

अन्वयार्थ–(तत्) वह **(परम तत्त्वं)** परम तत्त्व **(न जापेन)** न जाप से **(न होमेन)** ना होम से **(न अक्षसूत्रस्य)** न अक्षसूत्र (रुद्राक्ष आदि की माला) **(धारणात्)** धारण करने से **(प्राप्यते)** प्राप्त होता है **(तु)** निश्चय से वह **(आत्मविचिन्तनात्)** आत्मचिन्तन से **(प्राप्यं)** प्राप्त होता है।

अर्थ–वह परम तत्त्व जाप, होम या अक्षसूत्र के धारण करने से प्राप्त नहीं होता। निश्चय से वह आत्मचिन्तन से प्राप्त होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत बता रहे हैं कि किन-किन कार्यों के माध्यम से आत्मानुभूति नहीं होती अर्थात् उन कार्यों का आत्मानुभूति से कोई नियामक संबंध नहीं है।

आत्मतत्त्व के लिए कोई भी बाह्य क्रिया नियामक संबंध नहीं रखती। कोई व्यक्ति सोचे भगवान का दर्शन करने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाएगा, कोई जरूरी नहीं है। अभव्य भी दर्शन कर सकता है। पूजा करने से भी जरूरी नहीं कि आत्मा का साक्षात्कार हो जाए, किन्तु पूज्यता का भाव अंदर में आ जाएगा तो आत्मसाक्षात्कार संभव है। कोई कहे कि माला फेरने से, हवन में आहूति करने से, कायक्लेशादि बाह्य तप करने से, द्रव्यव्रतों को धारण करने से अथवा स्वाध्यायादि करने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाएगा–तो यह सही नहीं है।

आत्मा के साक्षात्कार का कोई भी नियामक कारण नहीं है। स्कूल में जो पहुँच गया, वह पढ़-लिख कर विद्वान बन ही जाएगा, ऐसा जरूरी नहीं है। यदि स्कूल में कच्चा भवन है, तो बिल खोदकर के चूहे भी वहाँ रहते हैं, तो वे सब विद्वान नहीं बन जाते। स्कूल के वृक्षों पर गिलहरी भी घूमती रहती हैं, वह भी विद्वान नहीं बन जाती। यदि वहाँ कोई मनुष्य लड़ने-झगड़ने के लिए पहुँच जाए तो विद्वान थोड़े ही हो गया। विद्वत्ता उसे ही प्राप्त होती है जो विद्वता को ग्रहण करने का पुरुषार्थ करता है।

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माँहिं।
मनवा तो दस दिशि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं।

हाथ में माला घुमाने से, जीभ को चलाने से आत्मानुभूति हो ही जाए, कोई नियामक हेतु नहीं है। कवि ने दूसरा दोहा कहा-

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर॥

मालाएँ फेरी, किन्तु कभी मन को नहीं फिराया तो माला फेरने से क्या? हाथ में जो माला का मोती पकड़ रखा है, इसको ज्यादा न घुमाएँ, घिस जाएगा, धागे की होगी तो टूट जाएगी। मन के मोती को फेरना शुरू कर दोगे तो परिवर्तन दिखाई देगा। आत्मानुभूति के लिए निश्चित ड्रेस नहीं होती है कि पीले, लाल, काले, हरे या सफेद वस्त्र पहनकर ही होगी। क्योंकि जब तक वस्त्रों के प्रति राग-द्वेष है तब तक अनुभूति नहीं होगी। किन्तु जब यथाजात दिगम्बर अवस्था को स्वीकार करके बाह्य विकल्पों से परे हो जाता है, तब संभव है आत्मा की अनुभूति हो सके। पापों, कषायों और इन्द्रियविषयों से विरक्त होकर के जब योगी रत्नत्रय के साथ आत्मस्थ होता है तभी आत्मानुभूति संभव है। इसीलिए कहा 'न जापेन न होमेन'। सुबह से शाम तक अग्नि जलाकर निरंतर हवन करते रहना भी आत्मानुभूति का कारण नहीं है।

इसी तरह 'नाक्षसूत्रस्य धारणात्' आत्मदीक्षा का सूत्र यज्ञोपवीत आदि धारण करने से या बाजू में रुद्राक्ष का बाजूबंध बाँधने से अथवा गले में रुद्राक्ष की माला पहनने से भी आत्मानुभूति का कोई नियामक संबंध नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर कैसे आता है, तो सूर्य का उदय होने पर ही उसका प्रकाश पृथ्वी तक पहुँचता है। अन्य किसी उपाय से यह संभव नहीं। सूर्योदय के बिना सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर नहीं आ सकता। जब सूर्य का उदय नहीं है तब कोई व्यक्ति चाहे कृत्रिम सूर्य बनाए, चाहे दीवार पर चित्रित करे, सूर्य का नाम करोड़ों बार लिख दे या उसके नाम की जाप लगाए और सभी उसे सर्व सम्मति से पास कर दें कि ये कृत्रिम सूर्य ही सूर्य है, तब भी सूर्योदय के बिना सूर्य का प्रकाश संभव नहीं है। सबसे अनिवार्य हेतु तो सूर्य का उदय है।

आचार्य भगवन् अमितगतिस्वामी जी ने सामायिक पाठ में लिखा है–

न संस्तरो भद्र! समाधिसाधनं, ने लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपिबाह्यवासनाम्।।23।।

हे भद्र! क्योंकि समाधि का साधन न संस्तर है, न लोक पूजा है, न संघ का समुदाय है। इसलिए समस्त ही बाह्य पदार्थों को छोड़कर हमेशा अध्यात्म में तल्लीन रहो।

हे भद्र आसन लोक पूजा संघ की संगति तथा।
ये सब समाधि के न साधन, वास्तविक में हैं प्रथा।।
यूँ समझ बाह्याडम्बरों को छोड़ निश्चित रूप से।
हे भद्र! हो जा स्वस्थ तू, बच जाएगा भवकूप से।।

इन बाह्य आडम्बरों को निश्चित रूप से छोड़ दो। यदि इन्हें ही हम यथार्थ मान करके जीते रहे तो सत्य से बहुत दूर पहुँच जाएँगे। आडम्बर के पीछे

छिपा सत्य यदि हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, तो आडम्बर हो या न हो क्या फर्क पड़ता है। दूध में जामन डाल दिया तो दूध जमकर दही बन जाएगा, परंतु जब दूध ही सही नहीं है, पानी में दूध की कल्पना कर लें, तो नहीं जमेगा। नियामक हेतु यथार्थ होना चाहिए। खेत अच्छा है, खाद भी अच्छी डाली है, सूर्य का प्रकाश भी है, बाकी सब संसाधन भी हैं किन्तु खेत में फसल नहीं आ रही, क्यों? क्योंकि बीज नहीं बोया। बीज पहला नियामक कारण है, उसके अतिरिक्त सभी निमित्त साधन होते हैं।

आप परिश्रम कर रहे हैं, यदि उस परिश्रम से समीचीन- समग्र फल चाहते हैं तो पुरुषार्थ भी सम्यक् होना चाहिए। मिथ्या पुरुषार्थ से सम्यक् फल की प्राप्ति नही होगी। सम्यक् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधन भी सम्यक् होने चाहिए। मिथ्या साधनों से सम्यक् कार्य सिद्ध नहीं होते। जैसे–यदि जल को जमा दिया तो बनी बर्फ दूध वाली नहीं होगी। मट्ठा को जमाने से वह कुल्फी में परिवर्तित नहीं होगा। न ही उसका वैसा स्वाद होगा। बेल को अंगूर मान लेने से बेल अंगूर नहीं बन जाएगा। यह सब व्यक्ति केवल अपने मन को भ्रमित करने और तसल्ली देने के लिए मान लेता है। जो व्यक्ति बाह्य वस्तुओं से मन को तसल्ली दे रहा है, वह किसी और को नहीं, बल्कि केवल अपनी आत्मा को ठग रहा है। बाह्य क्रियाएँ संभव है साधक हो जाएँ, किन्तु वे नियामक कारण नहीं होतीं।

कोई व्यक्ति नदी के इस किनारे से उस किनारे नाव के माध्यम से पहुँचा। यहाँ पर नाव का समीचीन होना आवश्यक है। किनारा कोई भी हो, किसी भी किनारे से यात्री बैठा हो, किन्तु नाव की समीचीन गति ही पथिक को पार करा सकती है। और यदि नाव ही नहीं है तो किसी भी घाट पर खड़े रहो, कहते रहो कि हमारे साथी तो पार हो गए। अरे! पार तो तभी हुए जब नाव में बैठे, किनारे से पार नहीं हुए। तीर्थ उसे कहते हैं जिससे संसार सागर तिरा जाता है। वैदिक परम्परा में तीर्थ नदी किनारे घाट बनाकर रचे जाते हैं।

घाट का आशय केवल नदी का किनारा नहीं है अपितु घाट का आशय वह स्थान है, जहाँ से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की नाव प्राप्त होती है। चाहे वह रत्नत्रय की नाव आपने तीर्थंकर के माध्यम से प्राप्त की, चाहे केवली चाहे श्रुतकेवली के माध्यम से की, चाहे मुनिराज के माध्यम से प्राप्त की हो, किसी भी गति में प्राप्त की हो, चाहे मनुष्यगति में, चाहे तिर्यंचगति में, चाहे नरकगति में, चाहे देवगति में, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आवश्यक यह है कि सम्यक्त्व होना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता तो केवल मनुष्य भव में ही संभव है। एक देश चारित्र तिर्यंच अवस्था में भी संभव है, देव-नारकी सिर्फ सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी हो सकते हैं, चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकते।

आप ये सोचें कि विदेहक्षेत्र से ही मोक्ष जाया जा सकता है, मोक्ष के लिए क्षेत्र नहीं चाहिए, मोक्ष के लिए अपने स्वात्म प्रदेशों की मुक्ति चाहिए। स्वात्म प्रदेशों की मुक्ति हो जाएगी तो सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाएगी। क्षेत्र चाहे भरत हो, ऐरावत हो या विदेह क्षेत्र हो, यहाँ तक यदि किन्हीं मुनिराज को उठाकर देव भोगभूमि में भी डाल दे तो वहाँ से भी केवली बन सकते हैं। लवण समुद्र में डाल दे, धातकी खण्डद्वीप में या कालोदधि समुद्र में डाल दे, यानि मानुषोत्तर पर्वत के पहले-पहले कहीं भी डाल दे, मुक्ति संभव है। यदि मेरुपर्वत की जड़ में जाकर भी छिपा दे, तो वहाँ से भी मोक्ष हो सकता है। 'सिद्धि स्वात्मप्रदेशे' सिद्धि तो स्व आत्मा के प्रदेशों में है। प्रदेशों का कर्म के बंधनों से मुक्त हो जाना ही मुक्ति है, वही शिव है, वही मोक्ष, वही निर्वाण है। यदि यह नहीं हुआ तो फिर मोक्ष नहीं।

महानुभाव! कोई कहे कि मैं तो बैकुंठ धाम से आया हूँ, तुम भी वहाँ पहुँच जाओगे, तुम भी हवन करो, यज्ञ करो, पशुओं-मनुष्यों को होम दो या अन्य सावद्य सामग्री होम दो। तो नहीं, ध्यान रखना ये सब मोक्ष के साधन

नहीं हैं। इसलिए आचार्य महोदय ने स्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया। स्पष्ट वक्ता कई बार व्यक्तियों को अखर जाता है। शायद उन्हें अखर रहा होगा जो जाप लगाते हैं, सोच रहे होंगे कि हम इतनी जाप लगाते हैं तो क्या हमारा कल्याण नहीं होगा या हवनादि करते हैं, अक्षसूत्र धारण करते हैं। महानुभाव! ये कल्याण के नियामक साधन नहीं हैं।

तो फिर क्या है कल्याण का नियामक साधन, 'आत्म चिन्तनात्' अपनी शुद्ध आत्मा का चिंतन करते-करते जब लीनता हो जाती है तब वह निर्विकल्प ध्यान बन जाता है, वही समाधि हो जाती है। व्यक्ति जो देखता है उसे ग्रहण करने का भाव आता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जब शुद्ध आत्मा का चिंतन करता है तो शुद्धआत्मा को प्राप्त करने का भाव आता है और फिर वह ध्यान के माध्यम से अपनी आत्मा का अनुभव करने में समर्थ होता है। आत्मा का चिंतन करने के लिए पहले शब्दों का आलम्बन चाहिए और जिन्होंने शुद्ध आत्मा का आलम्बन लेकर चिंतन किया है उनकी संगति चाहिए, तभी ये संभव हो सकता है।

इस प्रकार यहाँ योगियों को शुद्ध आत्मा का चिंतन एवं निश्चय में डूबने की प्रेरणा दी गई है। आप सभी शक्ति अनुसार भावना भाएँ, तभी उस परम तत्त्व की प्राप्ति होगी। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

प्रभात और अन्धकार

प्रभातं योगिनो नित्यं, ज्ञानादित्यो हृदि-स्थितः।
इतरेषां नराणां च, न प्रभातं कदाचन॥31॥

अन्वयार्थ–(हृदि) हृदय में **(ज्ञानादित्य)** ज्ञान रूपी सूर्य **(स्थितः)** स्थित है ऐसे **(योगिनः)** योगियों के लिए **(नित्यं)** नित्य **(प्रभातं)** प्रभात है। **(च)** और **(इतरेषां)** इतर **(नराणां)** मनुष्यों को **(प्रभातं)** प्रभात **(कदाचन)** कभी भी **(न)** नहीं है।

अर्थ–योगियों के हृदय में ज्ञानसूर्य दैदीप्यमान है, अतः उनके लिए नित्य ही प्रभात है, अन्य व्यक्तियों के लिए कभी भी प्रभात नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आचार्य महोदय ध्यान की महत्ता बता रहे हैं। जीवन में ध्यान बहुत आवश्यक है। ध्यान को छोड़कर के व्यवहार की कितनी भी क्रियाएँ करो, उन क्रियाओं से ध्यान की सिद्धि नहीं होती। सभी क्रियाएँ मिलाकर भी एक अन्तर्मुहूर्त के ध्यान के फल की बराबरी नहीं कर सकती। इसीलिए पूर्व कारिका में आचार्य भगवन् ने कहा कि जाप से, होम से, अक्षसूत्र से आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो, यह कोई नियामक संबंध नहीं। आत्मतत्त्व की प्राप्ति आत्मा के चिंतन से होती है, इसके अलावा अन्य किसी साधन से वह संभव नहीं है।

महानुभाव! प्रत्येक कार्य को करने का एक तरीका होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिन्हें सम्पन्न करने के दो तरीके होते हैं, कुछ कार्य तीन तरीकों

से भी सम्पन्न हो सकते हैं। किन्तु जिस कार्य को सम्पन्न करने का सिर्फ और सिर्फ एक ही तरीका हो, कोई अल्टरनेट न हो, तो फिर उस कार्य को सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को, उस कार्य की पूर्णता के लिए, उसी विधि का आलम्बन लेना पड़ेगा। जिस भवन में से निकलने के दो मार्ग अथवा अधिक मार्ग हैं तो व्यक्ति की पसंद है, चाहे जहाँ से निकले। जितने मार्ग हैं, व्यक्ति के पास उतने ही विकल्प हैं, किन्तु जहाँ एक ही मार्ग बचा हो, दूसरा कोई विकल्प ही नहीं बचता। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के ध्यान को प्राप्त करने के लिए, आत्मा के निस्सीम आनन्द रस से भरे हुए सागर में अवगाहन करने के लिए एक ही मार्ग है, इसीलिए उसी का आलम्बन लेना अनिवार्य है।

मोक्षमार्ग एक नियामक मार्ग है। यदि उससे कहीं थोड़ा भी चूके, तो समझो मोक्ष की संप्राप्ति से चूक गए। मोक्ष मार्ग के संबंध में आचार्यों ने लिखा है–जैसे गणित के सूत्र सटीक होते हैं। कोई व्यक्ति पूछे 4 + 4 कितने होते हैं, सामने वाला तुरंत कहेगा–8 होते हैं। बिना शर्त के यदि दो बार लिखा हो तो–44 कह सकते हैं। यदि 4 × 4 लिखा जाए तो 16 होगा। 4 ÷ 4 किया तो 1 कह देगा, 4 – 4 किया तो 0 कहेगा। चाहे इन सवालों को एक विद्यार्थी करे या अनेक विद्यार्थी, उत्तर एक ही आएगा।

जो भव्यजीव मोक्षमार्ग पर चल रहे हैं, उन सबका लक्ष्य एक है, उन सबका साधन एक है, उस सबकी गति एक है, उन सबकी मति एक है, उन सबकी प्रवृत्ति एक है, तो प्रकृति भी सबकी एक ही है। इसीलिए आचार्य महोदय ने कहा कि ध्यान को प्राप्त करने का यदि कोई साधन है तो वह है–रागद्वेष को मंद करते हुए, कषायों को शांत करते हुए, संयम के साथ जब योगी आगे बढ़ता है, अहिंसादि व्रतों का पालन करते हुए जब तत्त्वचिंतन में डूब जाता है, जब अपने स्वभाव के बारे में चिंतन करता है, तब उसे आत्मा

की जो अनुभूति हो रही है, वही सच्ची अनुभूति है। वह अनुभूति अन्य किसी प्रकार से संभव नहीं।

महानुभाव! व्यवहार क्रियाएँ अनेक बार करने पर भी वे निश्चय की पूर्ति नहीं कर सकती। यहाँ ऐसा नहीं है कि एक-एक के सौ सिक्के मिला दो तो एक रुपया बन जाएगा, ऐसा नहीं है कि एक-एक दाना एकत्र कर दो एक बोरा भर जाएगा। यहाँ तो दोनों का स्वरूप ही अलग-अलग है। क्या जल की एक बूँद और अग्नि की एक चिंगारी बराबरी कर सकती है? नहीं। क्योंकि दोनों का स्वभाव ही अलग-अलग है। इसी प्रकार यहाँ भी दोनों के अलग-अलग लक्षण, गुण, धर्म, विशेषताएँ हैं। अग्नि की चिंगारी की बराबरी हजार समुद्र मिलकर भी नहीं कर सकते, क्योंकि अग्नि का दाहक गुण, पाचक गुण, ऊष्मत्व गुण, तम भक्षक गुण समुद्र के जल में नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति पूर्व दिशा के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है और एक ही बार में पूर्व दिशा कीओर चल पड़े तो वह लक्ष्य पा लेगा। परंतु यदि वह 100 बार पश्चिम दिशा की ओर चले तो क्या पूर्व दिशा का लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा? नहीं होगा। आप जानते हैं—परिधि पर चक्कर लगाने वाली चींटी यदि अपनी दिशा नहीं बदलती, गति चाहे धीमी हो या तेज दिशा बदले बिना वह कभी केन्द्र तक नहीं पहुँच सकती। जो केन्द्र की ओर मुख करके चल रहा है वह शीघ्र ही पहुँच जाएगा, किन्तु जो केन्द्र की तरफ पीठ करके चलेगा या केन्द्र से थोड़ी दूरी बनाकर लगातार घूमता रहेगा, तो वह भी कभी लक्ष्य तक नहीं पहुँचेगा। इसी प्रकार व्यवहार की क्रियाएँ एक बार करो, दो बार करो, सौ बार या हजार बार करो—यदि केवल व्यवहार में ही लगे रहे तो निश्चय की संप्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवहार के ऊपर उठना ही होगा, तभी निश्चय तक पहुँचा जा सकेगा।

किसी समुद्र के तल में पड़े हुए रत्न समुद्र किनारे चक्कर लगाने से प्राप्त नहीं होते। आप असंख्यात चक्कर भी लगाओ तब भी वे रत्न ऊपर किनारे पर नहीं मिलेंगे। जब गोताखोर गोता लगाता है तभी वह तल में जाकर रत्नों को लेकर आ पाता है। इसी प्रकार व्यवहार की क्रियाएँ अनेक बार करो, परंतु एक बार निश्चय में डूबने का प्रयास अवश्य करना चाहिए तभी आत्मबल रूपी रत्नों की प्राप्ति संभव है।

आचार्य महोदय इस इकत्तीसवीं कारिका के माध्यम से बताना चाहते हैं कि कौन सा योगी योग साधना से युक्त है, कौन स्व-पर के लिए प्रकाश पुंज के समान है और कौन सा योगी अभी भी अंधकार में बैठा हुआ है। अँधेरा चाहे हजारों किलोमीटर तक फैला हो या केवल 2-4 सेंटीमीटर तक, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। अंधकार अंधकार है और प्रकाश प्रकाश है। बहुत सा अंधकार इकट्ठा कर देने से वह कभी प्रकाश में नहीं बदलेगा। जैसे बहुत सारे काँच के टुकड़े इकट्ठे करने से वे हीरे नहीं बनेंगे। वैसे ही व्यवहार की क्रिया में संलग्न योगी जब तक व्यवहार से ऊपर नहीं जाएगा तब तक वह निश्चय को प्राप्त नहीं कर पाएगा।

पानी की सतह पर पड़ी वस्तु पानी के तल में बैठने पर नहीं मिलेगी और पानी के तल में पड़ी वस्तु पानी की सतह पर नहीं मिलेगी। जो जहाँ है, उसे वहीं खोजना पड़ेगा। आपकी शर्ट की जेब में लगा पेन उस स्थान को छोड़कर तीनों लोकों में कितनी बार भी ढूंढ़ लो, प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि वह जहाँ है वहाँ देखा नहीं जा रहा। ऐसे ही योगी को यदि अपने योगत्व को प्राप्त करना है, मोक्ष को प्राप्त करना है, शुद्ध आत्मा को प्राप्त करना है, शुद्धतत्त्व को प्राप्त करना है तो उसे निश्चय ध्यान में लीन होना होगा। उस योगी के लिए आचार्य महोदय ने कहा-

'प्रभातं योगियो नित्यं' योगियों के लिए नित्य ही प्रभात होता है। प्रभात किसे कहते हैं? 'प्रभात' शब्द ध्वनित करता है 'प्र' अर्थात् प्रकृष्ट 'भा' कहिए तो 'आभा', यानि प्रकृष्ट आभा, शुद्ध आभा, नूतन आभा। अंधकार के उपरांत आने वाली ऐसी आभा है जो अंधकार को चीरकर अपने अस्तित्त्व का बोध कराती है। दोपहर का सूर्य प्रभात नहीं कहलाता, संध्याकाल का सूर्य भी प्रभात नहीं कहलाता। सूर्योदय के बाद घड़ी, मुहूर्त या प्रमाण समय बीत जाने पर भी सूर्य प्रभात नहीं कहलाता। प्रभात वही है जिसने अंधकार को चीरकर के नव्य, दिव्य, उत्तम, श्रेष्ठ प्रकाश दिया है। जो पहली आभा सूर्य के उदय के साथ आती है, वही प्रथमकाल 'प्रभात' कहलाता है।

जो व्यक्ति नेतृत्व करता है, वही नेता कहलाता है। उसके पीछे चलने वाले अनुकरण कर्ता कहलाते हैं। ऐसे ही सूर्य की जो पहली किरण आती है, वही प्रभात कहलाती है, द्वितीय या तृतीय किरण को प्रभात नहीं कहते। प्रभात यानि अंधकार का विनाश और प्रकाश का उदय। जहाँ से प्रकृष्ट आभा आ रही है वह स्थान सूर्योदय का है, और जहाँ पर आ रही है वह सब स्थान प्रभात का स्थान हो गया।

आचार्य महोदय कहते हैं—योगी के लिए तो नित्य ही प्रभात है। क्योंकि वहाँ पर हर क्षण नव-नूतन ज्ञानादित्य का उदय हो रहा है। उसकी चेतना में निरन्तर नई-नई किरणें आ रही हैं। 'ज्ञानादित्यो हृदि स्थितः' जिसके हृदय में ज्ञान रूपी सूर्य उदय को प्राप्त है, उस योगी के लिए तो नित्य ही प्रभात है। ऐसा कोई समय नहीं है जब प्रभात नहीं हो। और जिस योगी के चित्त में ज्ञान रूपी सूर्य नहीं है, उस योगी के लिए प्रभात कभी भी नहीं हो सकता। ऐसा योगी वास्तविक योगी कहलाने योग्य नहीं है।

ज्ञानरूपी सूर्य क्या करता है? वह नव-नव संवेग, नव-नव वैराग्य, नव-नव विशुद्धि देने वाला होता है। वह ज्ञानसूर्य आतम रूपी अंधकार के

पुंज को नष्ट कर करके सर्वत्र अपनी किरणें फैलाता है, इसलिए प्रभात का समय सर्वत्र एक नहीं है। जब जहाँ सूर्य की पहली किरण पहुँची, तब वहाँ प्रभात है। आपके भारत में प्रभात का समय अलग है, अमेरिका में अलग है, रूस, चीन जापानादि देशों में अलग-अलग है। ऐसे ही योगी के आत्म प्रदेश में अभी ज्ञानावरणी कर्म का क्षय तो हुआ नहीं, क्षयोपशम है, उस क्षयोपशम के माध्यम से कुछ आवरण पड़ा हुआ है। ज्यों-ज्यों आत्मप्रदेशों का आवरण तिरोहित होता चला जाता है, वैसे-वैसे वहाँ प्रकाश प्रकट होता जाता है।

'इतरेषां नराणां च न प्रभातं कदाचन' ऐसे योगी के अतिरिक्त जिनके हृदय में ज्ञान का आदित्य नहीं है, उनके जीवन में कभी भी प्रभात नहीं होता। ज्ञान रूपी सूर्य जिस योगी के चित्त में अपनी प्रखर रश्मियों के साथ सम्पूर्ण प्रदेशों में दिव्य प्रकाश का विस्तार कर रहा हो, उस योगी का प्रतिक्षण प्रभात ही प्रभात है। ज्ञान वह चैतन्य सूर्य है, जिसके समक्ष बाह्य जगत् के असंख्यात सूर्य और चन्द्रमा भी मिलकर चेतना में विद्यमान मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम की तपस को किंचित् भी दूर करने में समर्थ नहीं हैं। ज्ञानादित्य का ज्यों ही उदय होता है, त्यों ही वहाँ से मिथ्यात्व भाग जाता है और सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है और असंयम भी शनैः-शनैः चारित्र का रूप लेने लगता है। जिस तरह वृक्ष पर लगा हुआ फल ज्यों-ज्यों पकता चला जाता है त्यों-त्यों उसका रस भी मिष्ट होता चला जाता है और उसकी गंध भी खट्टी से मीठी होने लगती है। ऐसा ही प्रभाव उस योगी के चित्त में होता है। ज्ञान रूपी सूर्य की आभा से उस योगी की आत्मा पूर्ण प्रकाशित हो जाती है।

महानुभाव! जिस प्रकार सूर्य अपनी सहस्ररश्मियों के माध्यम से जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी अनंत कलाओं

के माध्यम से प्रत्यक्ष और परोक्षभूत पदार्थों को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार सूर्य दोषोच्छेदक है, उसी प्रकार ज्ञान भी मोह योग आदि का उच्चाटन करता है। जैसे सूर्य तम का समूलोच्छेद करता है उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का समूलोच्छेद करता है। जिस प्रकार सूर्योदय के साथ ही राजमार्ग स्पष्ट दिखने लगता है, उसी प्रकार ज्ञानादित्य का उदय होने पर मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखने लगता है। जैसे सूर्य कमलों को विकसित करता है, वैसे ही ज्ञानसूर्य श्रद्धा, तप, चारित्रादि सद्गुणों को विकसित करता है। जिस प्रकार नानाविध नक्षत्रों में सूर्य प्रधान है, उसी प्रकार समस्त आत्मगुणों में ज्ञानगुण प्रधान है।

यदि सूर्य और ज्ञान में तुलना की जाए, तो ज्ञान ही श्रेष्ठ होता है। सूर्य तो सांयकाल में अस्त हो जाता है किन्तु ज्ञान रूपी सूर्य कभी अस्त नहीं होता। ज्ञान आत्मा की अपूर्व शक्ति है। इसके द्वारा आत्मा अपने हित का अन्वेषण कर सकता है। योगीजन निरन्तर ज्ञान में स्थित रहते हैं, ज्ञान ही उनका भोजन है ज्ञान ही उनका भजन है। ज्ञान के अतिरिक्त वे कुछ नहीं चाहते। ज्ञान ही उनकी साधना का साधन है और ज्ञान ही उनका साध्य है। इसलिए उनके जीवन में सदैव प्रभात रहता है।

वह ज्ञान सूर्य आपके और हमारे हृदय में भी उदय को प्राप्त हो। ज्ञान रूपी सूर्य हमारी आत्मा से कभी अस्त न हो ऐसा उपक्रम, ऐसा पुरुषार्थ सभी को करना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान की सफलता

देहाज्जीवं पृथक् कृत्वा, विचिन्तयेद्विचक्षणः।
देहस्यैव च देहित्वे, ध्यानं तत्र विनिष्फलम्॥32॥

अन्वयार्थ–(विचक्षणः) बुद्धिमान **(देहात्)** देह से **(जीवम्)** जीव को **(पृथक् कृत्वा)** अलग करके **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करें **(च)** और **(तत्)** उस **(देहस्य)** देह को **(एव)** ही जो **(देहित्वे)** आत्मा मानता है **(तत्र)** वहाँ **(ध्यानम्)** ध्यान **(विनिष्फलम्)** निष्फल है।

अर्थ–बुद्धिमान मनुष्य देह से जीव को अलग करके चिन्तन करें। क्योंकि देह ही जीव है, ऐसा मानने वाले जीव का ध्यान निष्फल है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देख रहे हैं कि जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य दैदीप्यमान हो वहाँ अज्ञान, असंयम, मिथ्यात्व रूपी अंधकार एक क्षण भी टिक नहीं पाता। कोई भव्य आत्मा अनादिमिथ्यादृष्टि था किन्तु पंचलब्धियों को प्राप्त करके, परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का सानिध्य प्राप्त करके जिसने अपने कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी की है, वह मिथ्यात्व को दबाकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। और उसी क्षण उसका ज्ञान जो अभी तक मिथ्याज्ञान और अज्ञान के रूप में था वह सम्यक्पने को प्राप्त हो जाता है। और उसी क्षण से उसके चित्त में सम्यक्चारित्र को धारण करने की भावना जाग्रत होने लगती है। यदि चारित्रमोहनीय कर्म का मंद उदय है तब तो वह संयम को, चारित्र को अंगीकार कर लेता है किन्तु तीव्र उदय होता है तो भावना ही भा

पाता है। जैसे पिंजरे में बंद पक्षी सोचता रहता है कि कब पिंजरा खुले और कब मैं निकलकर बाहर जाऊँ। ऐसे ही गृहस्थ सोचता है कि कब मैं अपने गृहस्थ जीवन के दायित्वों को पूर्ण करके निराकुल आनन्द का अनुभव करूँ। संसार के पदार्थों का तो मैंने बहुत अनुभव किया है।

आचार्य महोदय का कहना है कि निश्चयज्ञान, आध्यात्मिक भेद विज्ञान के बिना साधुता का आनन्द नहीं आता। जिस प्रकार ढोलक चाहे बड़ी हो या छोटी सी हो, यदि मढ़ी नहीं है तो उस ढोलक का क्या औचित्य है? कुछ नहीं। खेत बहुत बड़ा हो या छोटा यदि उसमें बीज ही नहीं बोया तो उस खेत का महत्व नहीं है। दीपक बहुत बड़ा हो, या छोटा हो यदि उसमें घृत-बत्ती आदि सब होने पर भी वह प्रज्ज्वलित नहीं है, तो उस दीपक का महत्व नहीं है। शरीर चाहे छोटी अवगाहना वाला हो या बड़ी, यदि उसमें प्राण नहीं हैं तो उस शरीर का कोई महत्व नहीं है। इसी तरह से जब तक चित्त में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान नहीं है तब तक मात्र बाह्य क्रियाएँ नियमतः संसारवर्धक होती हैं, वह संसार विच्छेदक नहीं होतीं। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वे क्रियाएँ मोक्षमार्ग की कारक बन जाती हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि की क्रिया मोक्षमार्ग की कारक नहीं होती।

आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव ने इस बत्तीसवीं कारिका में इसी बात को कहा है कि विचक्षणबुद्धि वाला मनुष्य चिन्तन करे, अन्यथा देह बुद्धि वाला अर्थात् जो देह को ही देही मानकर बैठ गया है, शरीर को ही जिसने आत्मा मान लिया है, उसका ध्यान निष्फल होता है। ध्यान के लिए बताया कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है। जब तक आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान नहीं हुआ, तब तक शरीरगत सभी क्रियाएँ मोक्षमार्ग में व्यर्थ हैं। वह क्रियाएँ कदाचित् पुण्य का आस्रव तो करा सकती हैं, किन्तु मोक्षमार्ग में गति नहीं

करा सकती। सम्यक्त्व से हीन व्यक्ति के वचनालाप भले ही शब्दों में सुनने पर वे सम्यग्ज्ञान के पोषक ही क्यों न लगें किन्तु वे मोक्षमार्ग में स्वयं के लिए कारक नहीं हैं। यदि कषाय की मंदता के कारक हैं; तो किंचित् पुण्य का आस्रव करा सकते हैं। उस मिथ्यादृष्टि के मानसपटल पर विद्यमान विचारों की श्रृंखला कितनी भी उच्चकोटि की क्यों न हो, उससे किंचित् पुण्य का आस्रव भले ही हो जाए किंतु वह मोक्षमार्ग में कारक नहीं है। हाँ, जब वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब वह मोक्षमार्ग में कारक होता है।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में लिखा–

मूलं संसारदु:खस्य, देह एवात्मधस्तित:।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय:।।15।।

इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के समस्त दु:खों का कारण है। इसीलिए शरीर में आत्मतत्त्व की मिथ्या कल्पना से निवृत्त होकर बाह्य विषयों से इंद्रियों की प्रवृत्ति को रोकते हुए अंतरंग (आत्मा) में प्रवेश करें। क्योंकि जो देह को ही जीव मान लेता है उसका तो ध्यान ही निष्फल है।

देह और आत्मा में बहुत अंतर है। आत्मा चेतन है, देह पौद्गलिक है। आत्मा अविनश्वर है, यह शरीर प्रतिक्षण नश्वर है। आत्मा द्रव्य है, यह शरीर विभाव व्यंजनपर्याय है। आत्मा अनंतगुणों का पिण्ड है और शरीर नव मलद्वारों का पिंजरा है। आत्मा एक अखण्ड व शुद्ध द्रव्य है और शरीर जीव की सप्त धातुओं से विनिर्मित अशुद्ध पर्याय है। इस अंतर का बोध न होने के कारण मूढ़ात्मा जन देह-देही के एकत्व के भ्रम को मन में बसा लेते हैं और यह भ्रम ही दु:ख का कारण है, इसीलिए जिनोपदेश के अनुसार शरीर और आत्मा को एक नहीं मानना चाहिए।

आत्मा और शरीर दोनों अलग-अलग हैं, किन्तु दिखते नहीं हैं। एक किसान से किसी शहरी व्यक्ति ने कहा-भैया, मुझे गन्ने का जूस चाहिए। किसान ने कहा-ये गन्ना लो और चूस लो। शहरी व्यक्ति बोला-गन्ना नहीं, मुझे तो जूस चाहिए। आपने मुझे यह डंडा जैसा दे दिया, समझ नहीं आ रहा कि इसमें जूस कहाँ है? तब किसान ने हँसकर कहा- जूस इसके अंदर ही है, मगर तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा। किसान ने उस गन्ने को कोल्हू से पेलकर रस निकालकर दे दिया। अब उसे समझ में आ गया कि गन्ना की छोई अलग है और रस अलग है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति ने 100 ग्राम घी माँगा। उसने उसे 5 किलो दूध दे दिया। वह बोला-मुझे घी चाहिए, दूध नहीं। वह कहने लगा-इसमें घी है। बोला-भैया! इस दूध से वह कार्य नहीं किया जा सकता जो कार्य घी से किया जाना है। इसमें घी तो है पर अभी अव्यक्त है। जब ग्वालिन दूध को जमाकर मथनी से मथकर के नवनीत निकालती है पुनः तपाकर घी की पर्याय प्राप्त होती है। ऐसे ही इस शरीर में आत्मा है, और वह आत्मा शक्तिरूपेण परमात्मा है। किन्तु वह ऐसे दिखाई नहीं देता। जैसे-दूध में घी। एक दादू नामक कवि हुए, उन्होंने लिखा-

घी दूध में रमि रह्या, व्यापक सब हीं ठौर।
दादू बकता बहुत है मथि काढै ते और॥

घी, दूध के सर्वांश में व्याप्त है। इस बात को कहने वाले तो बहुत लोग हैं कि दूध में घी है। किन्तु उस दूध में से घी निकालने वाले विरले ही कोई संत पुरुष होते हैं। आचार्य भगवन् ने परमात्मस्त्रोत में बताया है-

नलिन्यां च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
स्वयं आत्मास्वभावेन देहे तिष्ठति निर्मला॥

जैसे नाली अलग है, उसमें बहने वाला पानी अलग है। नाली-पानी कभी एक-मेक नहीं होते, दोनों को मिलाकर नाली कहा जाता है। नाली उसी को कहते हैं जिसमें पानी बहकर जा रहा है। पानी अगर नहीं बह रहा तो वह नाली नहीं है। बिना पानी के वह स्थान सामान्य ही रहेगा। दोनों एक साथ हैं फिर भी अलग-अलग हैं। नीर वह तरल द्रव्य है जो बहता हुआ जा रहा है, नाली पाषाण की बनी हुई है, वहीं की वहीं है, कहीं जा नहीं रही। ऐसे ही आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, आत्मा शरीर में है किन्तु फिर भी ये शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा आत्मा है। स्वभाव से आत्मा भी निर्मल देह के मध्य विद्यमान रहती है। आचार्य भगवन् ने उसी परमात्म स्तोत्र में और भी कहा–

पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्ध मध्ये यथा घृतं।
तिल मध्ये यथा तैलं, देह मध्ये यथा शिवः।।
काष्ठ मध्ये यथा वह्नि, शक्ति रूपेण तिष्ठते।
अयात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डितः।।

जैसे कनकपाषाण में सोना है, किन्तु हर व्यक्ति नहीं निकाल सकता। दूध के मध्य घृत है किन्तु हर व्यक्ति नहीं निकाल सकता। तिल के मध्य में तेल है किन्तु हर व्यक्ति नहीं निकाल सकता। काष्ठ के मध्य में अग्नि है, उसको भी हर व्यक्ति नहीं निकाल सकता, ऐसे ही शक्तिरूपेण यह परमात्मा इस शरीर में विराजते हैं। इस देह के मध्य में शिवात्मा है।

महानुभाव! हर व्यक्ति हर कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। कम्पनी में पाँच हजार कर्मचारी हैं, सबका वेतन एक समान नहीं होता। किसी का कम किसी का ज्यादा होता है। क्योंकि सबकी Quality अलग-अलग होती है। ऐसे ही संसारी प्राणी सब हैं, किन्तु अपने अंदर शक्तिरूपेण विद्यमान परमात्मा

को जो देखने में समर्थ है ऐसा प्राणी विरला ही होता है। इसलिए आचार्यों ने कहा कि जो इस आत्मा में परमात्मा की शक्ति को पहचान लेता है, प्रकट करने का पुरुषार्थ करता है, वही ज्ञानी पण्डित कहा जाता है अन्यथा रत्नत्रय से रहित पण्डित तो **'पण्डिता खण्डिता सर्वे'** अपने अस्तित्व को खण्डित करने में लगे हैं। पण्डित वही हैं जिन्होंने अपनी आत्मा को रत्नत्रय से मण्डित किया है। जो गुणों से मण्डित हैं, वही पण्डित हैं। कवियों की पक्तियाँ भी आपने कई बार सुनी होगी–

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा साँई तुझमें है, जाग सके तो जाग॥

जैसे तिल में तेल है, चकमक पत्थर को घर्षण करो तो उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, बाँस के पेड़ ग्रीष्मकाल में घर्षण करें तो अग्नि पैदा हो जाती है, पर क्या उसमें अग्नि दिखाई दे रही है? क्या पत्थर में अग्नि दिखाई दे रही है? नहीं। किन्तु उनसे पैदा हो जाती है। ये आत्मा परमात्मा नहीं है, परमात्मा होती तो गंधकुटी में अरिहंत अवस्था में विराजमान होती सिद्धालय में विराजमान होती। किन्तु अभी आत्मा इस शरीर में है। हाँ, उसमें शक्ति है परमात्मा बनने की। तेरा परमात्मा, तेरा भगवान तुझमें ही है, बाहर में नहीं है। बाहर के परमात्मा को देखकर अपने अंदर के परमात्मा को जान लो और प्रकट कर लो।

परमातम निज में बसे, ज्यूँ पुष्पन में वास।
कस्तूरी के हरिण ज्यूँ, पुनि पुनि सूँघे घास॥

कस्तूरी मृगकी नाभि में होती है, पर उसकी गंध बाहर से आती है। वह घास को पुनः पुनः सूँघता है किन्तु अपने अंदर नहीं देखता। इसी प्रकार परमात्मा निज में ही है। मंदिर, मस्जिद, काबा, काशी कहाँ–कहाँ व्यक्ति

भगवान को खोजता फिरता है। परंतु जिसको अपने घर में ही परमात्मा नहीं दिखता, तो बाहर के परमात्मा उसे परमात्मा नहीं बना सकते। आचार्य महोदय इसी बात को समझाते हुए कह रहे हैं कि जो अपनी देह को ही देही मान लेता है, उसका ध्यान निष्फल होता है। जैसे बिना पेंदे की बाल्टी में पानी भरना व्यर्थ है, वैसे ही सम्यक्त्व रहित बहिरात्मा व्यक्ति का ध्यान निष्फल है। उसके द्वारा किया गया शरीर का कायक्लेश निष्फल है। अन्य प्रकार का सब तप भी निष्फल है।

ऐसा व्यक्ति जिसने अभी आत्मा और अनात्मा का भेद ही नहीं किया, वह ध्यान कैसे कर सकता है? उसे पहले यह जान लेना होगा कि मेरी आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। मेरी आत्मा क्या है, शरीर क्या है—यदि यह भेदविज्ञान नहीं समझा, तो उसका चिंतन भूसे को कूटने के समान ही व्यर्थ है। धान्यों में से चावल निकालने के बाद उनके छिलकों को कूटना व्यर्थ है। उनसे चावल की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस तिल में से पूरा तेल निकाल लिया गया, उसे पुनः पेलने से क्या मिलेगा? इसी प्रकार आचार्य महोदय कहते हैं—आत्मा परमावश्यक है, इसे जाने बिना सर्व श्रम व्यर्थ है। अतः इसे जानने का समीचीन पुरुषार्थ करें। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ब्रह्मनिष्ठकों की दशा

आत्मकर्म परित्यज्य, परदृष्टिं विशोधयेत्।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां, किं तया परचिन्तया॥33॥

अन्वयार्थ–(आत्मकर्म) आत्म कर्म को अर्थात् भावकर्म को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(परदृष्टिम्)** परदृष्टि को **(विशोधयेत्)** विशुद्ध करना चाहिए **(ब्रह्मनिष्ठानाम्)** ब्रह्मनिष्ठ **(यतीनां)** यतियों को **(तया)** उस **(परचिन्तया)** परचिन्ता से **(किम्)** क्या प्रयोजन है?

अर्थ–आत्मकर्म को छोड़कर परदृष्टि को विशुद्ध करना चाहिए। ब्रह्मनिष्ठक यतियों को पर की चिन्ता से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आचार्य महोदय आत्मा-अनात्मा के मध्य भेद-विज्ञान के परिज्ञान को बतला रहे हैं। सर्वप्रथम यह नहीं जाना तो सर्व परिश्रम व्यर्थ है। क्योंकि यदि आपको यह ही ज्ञात नहीं है कि हमें जाना कहाँ है तो गाड़ी कितनी भी चलाते जाओ कोई फायदा नहीं। पहले पता लगा लो कि हमें जहाँ जाना है, वहाँ का रास्ता क्या है। इसी प्रकार जब हमें यह नहीं मालूम कि हमारी आत्मा क्या है तो हम उसे परमात्मा कैसे बना पाएँगे? एक जौहरी सर्वप्रथम खदान में से निकले हुए हीरे को धुलवाकर साफ करता है। उसकी गंदगी को दूर कर पुनः उसकी घिसाई करवाता है, पुनः उसमें बावन cut लगते हैं, तब जाकर उसमें चमक आती है। जिसे यह नहीं मालूम कि यह काँच का टुकड़ा है या हीरा का, जिसे ये ही नहीं ज्ञात कि ये ग्राह्य है या त्याज्य तो वह किसे ग्रहण करेगा और किसे छोड़ेगा?

जिस महिला को यह ज्ञान है कि मुझे चावलों में से कंकड़ निकालकर बाहर फेंकना है और चावल रखना है, वही महिला चावल बीन सकती है। किन्तु जिस महिला को ये ही नहीं मालूम कि चावल किसे कहते हैं, कंकड़ किसे कहते हैं, दोनों सफेद-सफेद नजर आ रहे हैं, तो वह क्या बीनेगी और क्या फेंकेगी। इसी प्रकार पहले यह परमज्ञान होना आवश्यक है कि आत्मा चैतन्यमय है और शरीर पौद्‌गलिक है। शरीर स्पर्श रस, गंध, वर्ण से युक्त है और आत्मा ज्ञान-दर्शन चेतना से युक्त है।

इसी बात को आचार्य महोदय तेंतीसवीं कारिका में कह रहे हैं कि कर्मों से रहित आत्मा की सत्ता को स्वीकार करो। और उस आत्मा में परमात्मा बनने के जो बाधक कारण हैं, उन्हें समझकर दूर करो। तभी आत्मा को परमात्मा बना पाओगे। अभी आत्मा को ही नहीं समझा तो परमात्मा कहाँ से बनोगे। कनक पाषाण में से सोना निकालना है तो पहले यह समझना आवश्यक है कि सोना कैसा है और कनक पाषाण कैसा है। कहीं ऐसा न हो कि स्वर्ण को फेंककर के पाषाण को ही एकत्र कर लिया जाए। ज्ञानी व्यक्ति केला खाएगा और छिलका फेंक देगा, किन्तु जो अज्ञानी है, जिसे मालूम नहीं कि क्या करना है, तो पता चला छिलका खा लिया और केला फेंक दिया। गड़बड़ हो जाएगी। इसलिए जानना जरूरी है।

जो बहिरात्मा जीव हैं, अज्ञानी जीव हैं वे आत्मा की सेवा छोड़कर शरीर की सेवा में लग गए। शरीर को सुखी बनाने के सतत पुरुषार्थ में लगकर आत्मसुख की बात को भूल गए। जो शरीर को सुख देना चाहता है, उससे आत्मा का सुख नहीं मिलता। आत्मा का सुख प्राप्त होता है तो शरीर की उपेक्षा होती है, फिर शरीर को सुख देने का भाव भी नष्ट हो जाता है। आप वैराग्य भावना में पढ़ते हैं-

पोषत तो दु:ख दोष करे नित सोषत सुख उपजावे।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।।

यह शरीर कैसा है? जितना-जितना इसका पोषण करो उतना-उतना ही दु:खी करता है। और यदि शरीर की उपेक्षा कर लो कि बस उतना ही इसे देना है, जितना ये काम कर रहा है। जैसे किसी श्रमिक को उतना ही पारिश्रमिक दिया जाता है, जितना वह योग्य है, उससे अधिक देने पर वह बिगड़ जाएगा, आलसी बन जाएगा और उसकी जिंदगी बर्बाद हो जाएगी। इसी प्रकार इस शरीर को उतना ही दो जितना घुड़सवार घोड़े को दाना देता है। यदि घोड़े को उसके हिस्से के बजाय, अपने हिस्से के लड्डू, लुचई आदि खिला दोगे तो स्वयं पेट पकड़कर रोओगे। ऐसे ही आत्मा की खुराक हमें इस शरीर को नहीं खिलानी है। आत्मा की खुराक आत्मा को, शरीर की खुराक शरीर को देनी है, तब तो ठीक रहेगा। किन्तु ऐसा भी न हो कि शरीर को बिल्कुल भी न दो, तो शरीर वहीं छूट जाएगा। शरीर एक वाहन है, जिसमें डीजल-पेट्रोल की आवश्यकता तो पड़ेगी ही, किन्तु इसे उतना ही दो जितने के काबिल है, उससे ज्यादा नहीं। आचार्य महोदय ने इस कारिका में कहा कि आत्मकर्म का त्याग कर जो दृष्टि पर में जा रही है उस दृष्टि का शोधन करना चाहिए अर्थात् उत्कृष्ट दृष्टि बनाओ। क्योंकि 'यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां' जो ब्रह्म में निष्ठ हैं ऐसे यतियों को पर चिन्ता से कोई प्रयोजन नहीं। आप पढ़ते हैं-

उत्तमं स्वात्मचिन्ता स्यात् देह चिन्ता च मध्यमा।
अधमा काम चिन्ता स्यात् पर चिन्ता धमा धमा।।

'उत्तमं स्वात्मचिन्ता स्यात्' स्वात्म चिंतवन उत्तम है। आत्मा की चिंता कभी नहीं होती। आत्मा जब आत्मा के बारे में विचार करता है, वह चिंतवन ही ध्यान कहलाता है। चिंता आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर वस्तुओं की होती

है। चिंता उपयोग को दूषित करती है, चित्त को रोगी बनाती है। चिंता समय की बर्बादी कराती है। चिंता व्यक्ति को अपने सम्यक् लक्ष्य से भटकाती है। चिंता मार्ग की अवरोधक है, इसलिए यहाँ कह रहे हैं पर की चिंता मत करो, स्वात्मा का चिंतन ही सर्वोत्तम है।

'देह चिन्ता च मध्यमा' देह की चिन्ता करना मध्यम है, क्योंकि आत्मा अभी इस देह में है इसलिए इस देह का थोड़ा ध्यान रखो। जितना ध्यान एक मकान का रखा जाता है उतना ध्यान इस देह का रखो। यदि मकान ही तोड़ दोगे तो रहोगे कहा? और यदि मकान की सेवा में ही अहर्निश जुट जाओगे, स्वयं के खाने की व्यवस्था को बेचकर मकान में लगा दोगे, तो फिर मकान तो बना रहेगा पर बिना भोजन के यह आत्मा यहाँ से कूच कर जाएगी। अतः आत्मा और शरीर का यथायोग्य ध्यान रखो। शरीर का किंचित् ध्यान रखना ही उचित है, पूर्णध्यान शरीर मात्र पर रखना उचित नहीं है।

'अधमा कामचिन्ता स्यात्' जो विषयों की चिन्ता करता है कि मुझे स्पर्शन इन्द्रिय के सुख प्राप्त हों, वातानुकूलित कमरे हों, सर्दी में सर्दी न लगे और गर्मी में गर्मी न लगे। 'रसना इंद्रिय' के रस में फँसकर कभी मीठा तो कभी चटपटा तो कभी खट्टे भोज की इच्छा हो रही है, इसके पोषण में लगे हुए हैं। घ्राण इंद्रिय के विषय–सुगंध में आसक्त हैं। चक्षु इंद्रिय के विषय–छायाचित्र, चलचित्र आदि देखने में अपना समय खो रहे हैं अथवा कर्ण इंद्रिय के विषय–रागरंजित गीत, गजल, गाना आदि। पूरा दिन कान में लीड लगाई और उसे ही सुने जा रहे हैं, उसे सुनते ही ऐसा लगता है कि संसार में तो कितना सार भरा हुआ है। इस प्रकार जो पंचेन्द्रिय के विषयों में संलग्न हैं, उन्हें भोगने में आतुर हैं और उन्हीं की सामग्री जुटाने में लीन व रत हैं, ऐसे आसक्त प्राणी अधम हैं। आगे कहा–

'परचिंताधमाधमा' अपने आत्मा के अलावा जो अन्य परद्रव्य है वह उपचार से भी तुम्हारा नहीं है। आप उसे अपना क्यों कह रहे हो? जो तुम्हारा न कभी था, न है, न हो सकेगा उसे अपना बनाने की कोशिश मत करो। क्योंकि यदि आपने अपना बनाने की कोशिश की तो चोर कहलाओगे, पकड़े जाओगे, दंड भुगतना पड़ेगा। पहले अनात्मकर्मों का परित्याग करना जरूरी है। अनात्मकर्म कौन से हैं? अनात्म कर्म हैं द्रव्यकर्म और नोकर्म। शरीरादि नोकर्म कहलाते हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, आयु, नाम, गोत्र व वेदनीय ये द्रव्यकर्म कहलाते हैं। इन अनात्मकर्मों को छोड़ो फिर आत्मकर्म अर्थात् भावकर्म, राग- द्वेषादि इनको भी छोड़ो।

एक बात समझ नहीं आई कि आचार्य महाराज ने ये क्यों कहा कि 'आत्मकर्म परित्यज्य', 'अनात्मकर्मपरित्यज्य' ऐसा क्यों नहीं कहा? क्योंकि आचार्य महोदय यह नहीं चाहते कि आपकी चेतना के खेत में बबूल की तरह से जो पाप उत्पन्न हो गया है, आप उसकी एक-एक पत्ती, एक-एक काँटा तोड़कर फेंको अपितु वे तो ये चाहते हैं कि जिस प्रकार कोई किसान; जिसके खेत में लम्बे-लम्बे काँटेदार बबूल के पेड़ पैदा हो गए हों या गोखरू पैदा हो गए हों या करील के पेड़ पैदा हो गए हों तो वह किसान एक-एक काँटे को नहीं तोड़ता है, उसकी शाखा-उपशाखा को नहीं तोड़ता है। वह कृषक सभी काँटे वाले वृक्षों को समूल से नष्ट करता है। उसने प्रहार कहाँ पर किया? जड़ पर किया। फिर कहीं जड़ रह न गई हो, कहीं वृक्ष दोबारा पैदा हो जाए, इसके लिए मट्ठा लेकर उसमें नमक डालकर जड़ों में डाल देता है, जिससे वे गल जाएँगी। फिर भी यदि कोई बात रह जाती है तो वह पुनः उस स्थान पर अग्नि का प्रयोग करता है, जिससे जड़ें बिल्कुल सूख जाएँ। पुनः मिट्टी का शोधन करके अच्छे बीज बोता है।

यहाँ पर भावकर्मों को ही आत्मकर्म कहा है। आत्मा अनेक शक्तियों का पिण्ड है। उनमें एक वैभाविक शक्ति है। आप्त परीक्षा में कहा है–**'स्वभावादन्यथाभवनं विभावः'** अर्थात् स्वभाव से अन्यथा होना विभाव है। जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा में विभाव होते हैं उन्हें वैभाविक शक्ति कहते हैं। जैसे विद्युत के संसर्ग से हीटर गर्मी और कूलर शीत को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार विभाव परिणति के कारण इष्ट में राग व अनिष्ट में द्वेष उत्पन्न होता है। इन विभावों को ही परमागम में भावकर्म कहते हैं। यह राग–द्वेषमयी प्रवृत्ति आत्मा को निज स्वभाव से दूर हटाती है। ये आत्मकर्म आत्मा को चिद्रूप से विद्रुप करने वाले हैं, अतः अध्यात्मपथ के पथिक को इनका त्याग करना अत्यावश्यक है।

भावकर्मों का परित्याग करने से न तो द्रव्य कर्मों का बंध होता है और न द्रव्य कर्मों के फलस्वरूप नोकर्म की प्राप्ति होती है। यदि भावकर्म को नहीं बदला तो द्रव्यकर्म नष्ट नहीं होंगे।

इधर कर्म उदय में आकर निर्जीर्ण हो रहे हैं, उधर नए कर्म बंध रहे हैं। अंधा व्यक्ति इधर रस्सी बटता चला जाए, उधर वह खुलती चली जाएगी। कोई अंधी महिला आटा पीस रही है, क्या होगा? **'अंधी पीसे कुत्ता खाए'**, ऐसे ही केवल इस नोकर्म को सुखाने से भावकर्म नष्ट नहीं होंगे, केवल नोकर्म को सुखाने से द्रव्यकर्म नष्ट नहीं होंगे अपितु अपने भावों को बदलना पड़ेगा। हिंसा के, क्रूरता के, झूठ बोलने के परिणाम, चोरी के परिणाम, कुशील सेवन के परिणाम, परिग्रह संचय के परिणाम, पंचेन्द्रिय विषयों के परिणाम, मिथ्यात्व के परिणाम, अज्ञान व असंयम के परिणाम का त्याग करके ही द्रव्यकर्मों में कमी आएगी। योगों की चंचलता भले ही बनी रहे, परंतु अशुभ कर्म समीप नहीं आएँगे। अपवित्रता का स्थान निर्मलता ले लेगी; जैसे स्वच्छ जल प्रवाहित होता है वैसे ही शुभ विचार मन में उतरेंगे। गंदगी

नही आएगी, निर्मल जल आएगा। जब द्रव्यकर्म पुण्यरूप में प्रकट होता है तब वह संसार में परिभ्रमण नहीं कराता, बल्कि मोक्ष मार्ग में सहयोगी बन जाता है।

आचार्य महोदय यही कह रहे हैं–भावकर्म का परित्याग करके अपनी दृष्टि को निर्मल एवं विशुद्ध बनाओ। पर के प्रति दृष्टि को हटाकर आत्मशोधन करो।

मिथ्यात्व कर्म के तीव्र उदय से ज्ञानावरण कर्म के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए अज्ञान नाम–औदयिक भाव के सद्भाव से अनादिकाल यह जीव पर–पदार्थों के प्रति भ्रान्ति–रूप कल्पनाओं को संजोता रहा है। वह स्वयं को पर द्रव्यों का स्वामी, कर्ता या भोक्ता मानता है। मैं दृश्यमान व अदृश्यमान सम्पूर्ण पदार्थों का स्वामी हूँ, कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ। यह शरीर मैं हूँ, शरीर से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है–ऐसी विपरीत मान्ताएँ आत्मघाती हैं।

इसीलिए **'यतिनां ब्रह्मनिष्ठानां'** जो ब्रह्मनिष्ठ हैं और आत्मा के प्रति निष्ठावान हैं–ऐसे यतियों को **'चिन्तया परचिन्तया'** पर की चिन्ता से क्या प्रयोजन? उनके लिए तो आत्मा ही प्रयोजनभूत है। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

चिन्ता के दुष्परिणाम

चिन्तया नश्यते ज्ञानं, चिन्तया नश्यते बलम्।

चिन्तया नश्यते बुद्धिर्व्याधि, र्भवति चिन्तया।।34।।

अन्वयार्थ–(चिन्तया) चिन्ता से **(ज्ञानं)** ज्ञान **(नश्यते)** नष्ट होता है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(बलं)** बल **(नश्यते)** नष्ट होता है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(बुद्धिः)** बुद्धि **(नश्यते)** नष्ट होती है **(चिन्तया)** चिन्ता से **(व्याधिः)** व्याधि **(भवति)** होती है।

अर्थ–चिन्ता से ज्ञान, बल और बुद्धि नष्ट हो जाती है तथा व्याधि होती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आत्मा परमात्मा कैसे बने इस संबंध में विचार कर रहे हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी में बहुत बड़ा अन्तर होता है। एक श्वान-दृष्टि होती है, और दूसरी सिंह दृष्टि होती है। दोनों की दृष्टि अलग है इसलिए उनकी वृत्ति भी अलग है। श्वान (कुत्ता) दूसरे को देखकर भौंकता है। यदि कोई उस पर डंडा या लाठी से प्रहार करे, तो वह उसी लाठी को दाँतों से पकड़ लेता है। वह यह नहीं समझता कि लाठी तो मात्र साधन है; उसके पीछे कोई व्यक्ति है। इसलिए जब लाठी या पत्थर उस पर पड़ते हैं, तो वह उनसे टकराकर भाग जाता है। सिंह लाठी या वस्तु पर प्रहार नहीं करता; वह सीधे उस व्यक्ति पर प्रहार करता है जो लाठी चला रहा है। यदि उसके सामने वह व्यक्ति दृढ़ता से खड़ा हो जाए तो सिंह डरता नहीं है, पीछे नहीं हटता बल्कि

आगे बढ़कर वार करता है। श्वान प्राय: पीछे से पैरों को पकड़ता है, पर सिंह यदि पीछा कर रहा रहा हो, तो भी वह आगे दौड़कर छाती पर आघात करता है। यहाँ तक कि शत्रु के सिर को पकड़कर उठा लेता है और अपने साथ खींचकर ले जाता है।

महानुभाव! अज्ञानी व्यक्ति नोकर्म को सुखाने में ही लगा रहता है। धर्मध्यान और तपस्या की बात करो, तो वह कहेगा ये छोड़ो-वो छोड़ो, हमेशा शरीर को सुखाने में लगा रहेगा। जिस व्यक्ति ने पहले भावकर्मों को संभाल लिया, द्रव्यकर्मों की स्थिति कम कर ली, वह नोकर्म को सुखाने का प्रयास करे। धर्मध्यान में लग जाए तो यह अपने आप सूख जाएगा।

रामचन्द्रजी से किसी ने पूछा-आपका शरीर बहुत कृश होता चला जा रहा है, क्या बात है? उन्होंने बहुत सुंदर दृष्टांत दिया-किसी सेठ के पास दो बगीचे हैं। एक बाग महल के अंदर, और दूसरा महल के बाहर। यदि सेठ केवल बाहर वाले बाग में पानी देता रहे, तो वह बाग तो हरा-भरा हो जाएगा, लेकिन महल के अंदर का बाग सूख जाएगा। जब भीतर का बाग सूख जाएगा, तो महल की शोभा फीकी पड़ जाएगी। बाहर भले ही फूल खिले हों पर उनकी सुगंध महल के भीतर नहीं पहुँचेगी। इसी तरह शरीर बाहर का बाग है और आत्मा के भाव भीतर का बाग हैं। यदि हम केवल शरीर को सुख देते रहे और आत्मा के भावों को सींचना भूल जाएँ, तो अंदर का बगीचा सूख जाएगा। और जब भीतर का बगीचा सूख जाएगा तो बाहरी सुंदरता का कोई लाभ नहीं। ज्ञानी व्यक्ति समस्या के मूल कारण पर प्रहार करता है, न कि केवल उसके बाहरी लक्षणों पर। जब दृष्ट सही हो, तो प्रयत्न भी सही दिशा में होता है, और यही आत्मा को परमात्मा बनने की ओर अग्रसर करता है। मेरी आत्मा का बगीचा हरा-भरा है, शरीर का बाग सूख रहा है तो बताओ मैं क्या करूँ।

महानुभाव! पहले भावकर्मों को बदलें। यदि मन में हिंसा का भाव आया है, तो उसे बदल दो। किसी से कटु वचन न बोलो, न अपमान करो, न व्यंग्य। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने से भावों में सुधार आएगा। अपने भावों में सुधार के लिए खानपान में सुधार लाए। सर्वप्रथम जो अभक्ष्य है, उसे त्यागने की बात कही है। अभक्ष्य का सेवन करते हुए परिणाम निर्मल नहीं हो सकते। कोई मुनिराज नित्य दिन में एक बार आहार करते हैं, तो क्या वे केवली नहीं बन सकते हैं? बन सकते हैं। मनःपर्ययज्ञानी मुनि महाराज प्रतिदिन आहार करें, तो क्या उनका ज्ञान नष्ट हो जाएगा? नहीं, इससे सिद्ध होता है कि आहार से केवली का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि परिणाम सुधार लिए तो वह आहार इतना हानिकारक नहीं है। जो योगी अपनी आत्मा में स्थिर हो गया उसके लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है–

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।41।।

जो योगी अपने आत्मतत्त्व में लीन है, वह बोलता हुआ भी बोल नहीं रहा, चलता हुआ भी चल नहीं रहा, खाते हुए भी खा नहीं रहा। वह आत्मा में स्थिर है, आत्मा का आनन्द ले रहा है। ऐसे ही जिस योगी ने अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर दिया है, सावद्य वचनों का भी त्याग कर दिया है, सावद्य क्रियाओं का भी त्याग कर दिया है, सकल महाव्रतों को ग्रहण कर लिया है, अपने परिणामों को संभाल रहा है तो मात्र अपने शरीर को सुखाने में संतुष्ट न हो, शरीर को थोड़ा सा देना पड़ेगा, अन्यथा पर चिंता में लगा रहा, आर्त्त-रौद्रध्यान करता रहा, भोजन करना छोड़ दिया, जिससे शरीर कमजोर होता चला गया। इससे और आर्तध्यान बना। ऐसे आत्मा का कल्याण नहीं होगा।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–पहले मिथ्यात्वादि को छोड़ो, मिथ्यात्व के पोषक आयतनों को पूजना छोड़ो, अभक्ष्य का सेवन करना छोड़ो, जो प्रत्यक्ष

में नरकादि के कारण हैं ऐसे अशुभ कार्यों को व अशुभ भावों को छोड़ो। उसके बाद शुभ में प्रवृत्ति करो। जो व्यक्ति मुख में जहर भरकर होठों पर चाशनी चुपड़ ले, तो क्या वह बच जाएगा? यह तो मूर्खता है। अन्दर में जहर जैसा अशुभ भाव भरा पड़ा है, पापजन्य परिणाम भरा पड़ा है, कुटिलता एवं क्रूरता के परिणाम भरे पड़े हैं और बाहर से शरीर सुखा कर बैठ गए, इससे क्या होगा।

पर की चिन्ता करना उचित नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहने वाले कुछ व्रती लोगों को भी देखा, जो आकर कहते हैं, महाराज जी! मैं भगवान से प्रतिदिन प्रार्थना करता हूँ कि मेरी प्रतिमाओं का, व्रतों का फल बस यही हो जाए कि मेरे बेटे की शादी हो जाए, मैं तो भगवान से यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि मैं जो इतनी पूजा-जपादि कर रहा हूँ उसका फल यही दो कि मेरी बेटी की अच्छे घर में शादी हो जाए। भगवान से 100 बार कह चुका हूँ कि मेरी बेटी के बेटा हो जाए तो मैं नाना बन जाऊँ। महाराज जी! आप तो सवा लाख जाप का नियम दे दो या इससे भी ज्यादा जापों का नियम दे दो जिसके फलस्वरूप मेरे बेटे की दुकान चलती रहे।

महानुभाव! क्या उसकी वह जाप-पूजा-पाठ उसके कल्याण में सहायक होगी? क्या इन प्रवृत्तियों से उसकी आत्मा कभी परमात्मा बन पाएगी? चक्री-अर्द्धचक्री जब दिग्विजय के लिए जाते हैं तब डाब के आसन पर बैठकर तीन उपवास, पाँच उपवास, आठ उपवास आदि करते हैं, जिससे उनके सिद्ध हुए देवता आदि प्रसन्न हो जाएँ, तो क्या उससे आत्मा की सिद्धि होती है? नहीं। भरत चक्रवर्ती ने महलों में रहकर के नित्य भोजन किया, पर्व के दिनों में शक्ति अनुसार व्रत-उपवास आदि किए, पुनः दीक्षा लेने के अनन्तर इतनी विशुद्धि बढ़ा ली कि अन्तर्मुहूर्त में केवली बन गए। अन्तरंग से उन्होंने पूरी

तैयारी कर ली थी। अंतरंग की तैयारी किए बिना बाहर की तैयारी से कुछ नहीं होता।

मानो एक विद्यार्थी परीक्षा देने जा रहा है–वह साइकिल से जाए या किसी अन्य अच्छे वाहन से जाए, अच्छे कपड़े पहनकर जाए, हाथ में सबसे अच्छा पेन लेकर जाए–लेकिन यदि उसने पढ़ाई ही नहीं की, तो परीक्षा कक्ष में पहुँचकर खाली बैठेगा। जैसे विद्यार्थी को अच्छे वस्त्र पहन लेने या अच्छे पेन ले जाने से पास नहीं किया जा सकता, वैसे ही मात्र बाहरी दिखावे से आत्मिक प्रगति नहीं होती। इसी तरह एक किसान को देखो, वह खेत को जोतता है, साफ करता है, बाड़ लगाता है, दिन-रात चौकीदारी करता है, वहीं झोपड़ी डालकर रहता है ताकि पशु-पक्षी मेरे खेत को चुग नहीं जाएँ, कोई जंगली जानवर खेत को बर्बाद न कर जाए, वह दिन-रात उस खेत की रक्षा में लगा है, लेकिन यदि उसने बीज नहीं बोया तो किसान की मेहनत का क्या फल? सिर्फ खेत की रखवाली करके फसल नहीं उग सकती। इसलिए मात्र बाह्य सजगता ही काफी नहीं है; स्वच्छ भाव एवं आत्मचिंतन रूपी बीज का बोना भी जरूरी है।

आचार्य महोदय आप से कहना चाह रहे हैं–देखो भैया! बाह्यक्रियाओं में ज्यादा नहीं उलझो। अंतरंग में भी थोड़ा विचरण कर लिया करो, अपनी आत्मा की भी कभी-कभी सुध ले लिया करो, बाहर भटकते-भटकते युग बीत चुके हैं।

एक बार की बात–एक व्यक्ति बड़ा नेता बना फिरता था, पूरे दिन गाँव में घूमता रहता था, जब भी वह अपने मौहल्ले में आता, बच्चे उसे घेर लेते। उसने बच्चों से कहा–“बताओ, अमेरिका की राजधानी कौन सी है? जापान में सुनामी कब आई थी? चीन में सबसे बड़ी चीज क्या है?” ऐसे बड़े-बड़े

प्रश्न सुनकर बच्चे हँसते हुए बोले–अंकल, हमें नहीं मालूम।'' वह व्यक्ति बोला–हाँ, ठीक है, घर में घुसे रहते हो, पर तुम्हें यह नहीं मालूम कि दुनिया में कहाँ पर क्या हो रहा है! तुम चूहे की तरह बिल में छिपकर रहते हो।'' बच्चों ने चुपचाप सिर झुका लिया, कुछ नहीं कहा। थोड़ी देर बाद एक महिला अपने बच्चे को आवाज लगाती हुई आई। उस व्यक्ति ने पूछा–''ये किस बच्चे की माँ है? उनमें से एक बच्चा बोला–''अंकल, आपको इतना भी नहीं पता कि ये आपके पड़ोस में रहती हैं? हाँ, आप घर में रहो तब तो आपको पता चले कि कौन किसकी माँ है, किसका बेटा कौन सा है, आप तो बस बाहर ही घूमते रहते हो।

महानुभाव। यही बात यहाँ कह रहे है–हे योगी! यदि तुम सदा बाहर ही भटकते रहोगे, बाहर की प्रभावना में ही लगे रहोगे, तो फिर अंतरंग की साधना कब करोगे। बाहर के लोग, बाहर के समाचार–ये आपकी आत्मा के समाचार से संगति नहीं बिठा पाएँगे। मूलाचार में दस प्रकार के समाचार कहे हैं, तुम बाहरी समाचारों को सुनते हो–अखबार, टी.वी., रेडियो, रिकॉर्डिंग–लेकिन उनका आत्मा के समाचारों से कोई संबंध नहीं है। उनमें उलझोगे तो आत्मा को भूल जाओगे; भीतर डूबने के बजाय बाहर की हलचल में खो जाओगे। जो अंदर में नहीं डूबता, वह बाहर के सत्य को भी नहीं पहचान सकता।

इस श्लोक में आचार्य महाराज ने चिंता के संबंध में बताया कि चिंता करने से मानव को क्या हानि हो सकती है। चिंता का अर्थ है–दु:खी होना, अनावश्यक विचार करना, अपने भविष्य के हित के लिए वर्तमान में सोच विचार कर व्यर्थ ही घुलते रहना। यहाँ आचार्य महोदय चिंता के दुष्परिणाम बताते हुए कह रहे हैं **'चिन्तया नश्यते ज्ञानं'** चिंता से ज्ञान नष्ट होता है। ज्ञान आत्मा का निज गुण है, जब आत्मा स्वाभिमुख होता है तब

इस गुण की अभिव्यक्ति होती है। चिंता आत्मा की बहिर्मुखी प्रवृत्ति है। वह केन्द्र से परिधि की ओर आत्मा को ले जाती है। उसके कारण आत्मा अपने स्वभाव को विस्मृत कर देता है। जब तक चिन्ता रहती है तब तक आत्मा स्वभावाभिमुख नहीं बन पाता और स्वभाव से दूर रहने के कारण आत्मा का ज्ञान आवृत्त हो जाता है। यहाँ नश्यते शब्द से ज्ञान का पूर्ण उच्छेदन न लेकर ज्ञान को आवृत्त करता है, ऐसा अर्थ करना चाहिए।

महानुभाव! जो व्यक्ति चिन्तातुर बैठा रहता है, पर की चिन्ता में रहता है, वह चिन्ता करने से स्वयं ही महाविनाश को प्राप्त हो जाता है। ऐसे कई व्यक्ति देखे जिनके पास डिग्रियों का अंबार लगा है, किन्तु फिर भी वे चिंता में लगे हैं। कहीं पुत्र की बीमारी से परेशान, तो कहीं स्वयं के रोग से परेशान, कहीं पत्नी के दुष्ट स्वभाव से परेशान तो कहीं गरीबी से परेशान। पढ़ने-लिखने में अव्वल थे, ज्ञान का क्षयोपशम बहुत अच्छा था। वे एक प्रकार की नहीं बहुप्रतिभाओं के धनी थे, किसी भी विषय में कम नहीं थे, किंतु 'चिंतया नश्यते ज्ञानं' जब मन चिंता में डूब जाता है तो सारा ज्ञान भी डूब जाता है। जैसे बाँध के टूटने पर पानी बहने लगता है, ऐसे ही चिंता का छेद क्षयोपशम में हो जाता है तो ज्ञानावरणी कर्म का पुन-पुनः बंध हो जाता है। क्षयोपशम संक्लेशता से नष्ट होता है और विशुद्धि से बढ़ता है। चिंता के माध्यम से ज्ञान नष्ट होता है इसलिए जो अधिक चिन्तातुर होते हैं उनका क्षयोपशम ज्यादा बढ़ नहीं पाता। जो मुनिमहाराज आत्मस्थ रहते हैं, प्रसन्नचित्त रहते हैं उनके श्रुतज्ञान का क्षयोपशम भी बहुत होता है, और उन्हें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तक हो सकता है।

आज पंचमकाल में भी किन्हीं मुनिराजों के ज्ञान का क्षयोपशम इतना हो सकता है कि बीस से तीस वर्ष पूर्व याद की हुई गाथाएँ उनकी स्मृति पटल

पर आज भी ज्यों की त्यों अंकित हैं। किस ग्रन्थ में किस पृष्ठ पर क्या लिखा है वह यह भी बता सकते हैं। उन्हें ऐसे सैकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन स्थायी रूप से याद रह सकता है। लोग आश्चर्य करते हैं कि आज भी महाराजजी की स्मृति इतनी तीक्ष्ण है कि आज भी सब कुछ याद रहता है। कारण यही कि वे चिन्ता में नहीं डूबते। जो चिंता के कीचड़ में डूब जाते हैं उनके तन आदि की स्वच्छता नष्ट हो जाती है अर्थात् जो चिंता के दलदल में फँस जाते हैं उनके ज्ञान का क्षयोपशम नष्ट होता चला जाता है।

इसीलिए बालकों में ज्ञान प्रबल होता है, किन्तु गृहस्थ जीवन के तनाव और चिन्ता धीरे-धीरे उसकी शक्ति को क्षीण कर देती है। इतना ही नहीं निरन्तर चिंता करने वाला व्यक्ति बलहीन हो जाता है **''चिन्तया नश्यते बलं''** चिंता एक ऐसी अग्नि है जो अंदर-अंदर जलाती रहती है। जैसे किसी अनाज में घुन लग जाए तो बाहर से ज्यों की त्यों दिखाई देता है, परंतु अंदर से खोखला हो जाता है।

चिन्तित व्यक्ति जितना भी भोजन करता है, वह भोजन चिन्ता के भेंट चढ़ जाता है। उस भोजन से उसके शरीर में पोषक तत्त्व उत्पन्न नहीं हो पाते और इस कारण वह शक्तिहीन होता चला जाता है। बल नष्ट होने का एक कारण यह भी है कि चिन्ता से भूख की कमी हो जाती है, फलतः चिन्तित व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर पाता। जबकि चिन्ता उसके मस्तिष्क से अधिक कार्य करवाती है, उस कार्य के लिए जितनी ऊर्जा की आवश्यकता है उतनी उसे मिल नहीं पाती और शरीर अशक्त हो जाता है। महानुभाव! जिस प्रकार अग्नि हरे-भरे वृक्षों से युक्त महावन को भस्मीभूत कर देती है, वैसे ही चिन्ता मनुष्य के ओज, तेज, बल को नष्ट कर देती है, आत्मविश्वास को नष्ट कर देती है; जिससे कार्यकरने की शक्ति स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

चिन्ता बन्ध्यउ सयल जगत् चिन्ता किणहु ण बद्ध।
चिन्ता जिन नर वश करी ते माणव णहि सिद्ध॥

सम्पूर्ण संसार को चिन्ता ने बांध लिया है। संसारी प्राणियों द्वारा यह चिंतारूपी पिशाची बाँधी नहीं जाती। जिन्होंने इसे वश में कर लिया है वे मनुष्य नहीं भविष्य के सिद्ध पुरुष हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं–चिंता बल को नष्ट करती है, चिन्ता करने वाला व्यक्ति किसी भी रोग का शिकार हो सकता है। हँसने-मुस्कुराने वाले व्यक्ति के चेहरे पर तेज, कांति विद्यमान रहती है। उसके छोटे-मोटे रोग तो ऐसे ही भाग जाते हैं। जो लोग मुंह लटकाकर बैठते हैं, रोग उनके पास आकर अपना घर बसा लेते हैं।

उदासी जिन चेहरों का शृंगार करती है।
मक्खी भी वहाँ बैठने से इन्कार करती है॥

चिन्ता से ज्ञानतन्तु उत्तेजित होते हैं, जिससे स्नायुमण्डल, ज्ञानवाही तंत्रियाँ एवं कार्यवाहक नसें अपना कार्य व्यवस्थित ढंग से नहीं कर पाती। उससे बुद्धि का विनाश होता है। जिस प्रकार दीमक सुन्दर पुस्तक को चाट जाती है, उसी प्रकार चिंता विशाल बुद्धि को चाट जाती है अर्थात् नष्ट कर देती है। मनोचिकित्सक ऐसा मानते हैं कि जो व्यक्ति निरंतर चिंता में मग्न रहता है, उसके पागल होने की संभावना बढ़ जाती है। डॉक्टरी परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि चिंता सोचने-विचारने की शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर देती है।

आगे कहा–**'व्याधिर्भवति चिन्तया'** चिन्ता करने वालों को रोगों को निमंत्रण नहीं देना पड़ता, वे उनके पास बिना निमंत्रण के ही सपरिवार आ जाते हैं। जैसे ऊपर से बरसता पानी सहज निम्न स्तर पर (नीचे वाली भूमि पर) आ जाता है, वैसे ही चिंतातुर व्यक्ति के पास व्याधियाँ अपने आप आ जाती हैं। चिन्ता तीव्र हलाहल है। जैसे हलाहल की एक बूँद भी मुख में जाने

पर वह मांस को सिकोड़ती है, रक्त को विषाक्त बनाती है तथा प्राणघात करती है। उसी प्रकार चिन्ता का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और शरीर में प्राणों को क्षति पहुँचाता है। अतः शरीर के लिए चिंता तीव्र विष के समान होती है। चिकित्सा शास्त्रियों का मानना है कि चिंताग्रस्त व्यक्ति का गरम हुआ रक्त अनेक व्याधियों को जन्म देता है और हृदय रोग इसका प्रमुख कारण है। एग्जीमा पेक्टोरिस नामक महाभंयकर व्याधि का कारण चिंता है। इस रोग में इतनी वेदना होती है कि आदमी चीख- चीख कर बेहाल हो जाता है। इसी प्रकार मधुमेह, गठिया, उच्च रक्तचाप आदि रोग चिंता के कारण उत्पन्न होते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय ने चिंता के परित्याग की बात कही है। इसे पुनः-पुनः समझना चाहिए। चिंता को त्यागकर तत्त्व चिन्तन करें। क्योंकि चिंता करना व्यर्थ है और अनर्थकारी भी है। इसीलिए विवेकवान व्यक्ति चिंता नहीं करते, वे तत्त्वचिंतन करते हैं। तत्त्वचिंतन करने से ज्ञान की वृद्धि होती है। तत्त्वचिंतन करने से मनोबल-आत्मबल और तनबल व वचनबल भी वृद्धि को प्राप्त होता है। तत्त्वचिंतन करने से बुद्धि का विकास होता है और रोगों का निराकरण होता है। इसलिए तत्त्वचिंतन करें, चिंता नहीं। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

अन्यत्व भावना

अन्यच्छरीरमन्योऽहमन्ये सम्बन्धिबान्धवाः।
एवं स्वं च परं ज्ञात्वा, स्वात्मानं भावयेत्सुधी॥35॥

अन्वयार्थ–(शरीरं) शरीर **(अन्यत्)** अन्य है **(अहं)** मैं **(अन्यः)** अन्य हूँ **(सम्बन्धि)** सम्बन्धी जन और **(बान्धवः)** बन्धुजन **(अन्ये)** अन्य हैं **(एवं)** इस प्रकार **(स्वम्)** स्व को **(च)** और **(परम्)** पर को **(ज्ञात्वा)** जानकर **(सुधीः)** बुद्धिमान **(स्वात्मानम्)** स्वात्मा की **(भावयेत्)** भावना करें।

अर्थ–मैं अन्य हूँ, यह शरीर और ये बंधु-बांधव अन्य हैं। इस प्रकार स्व और पर को जानकर बुद्धिमान जीव आत्मा की भावना करें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देख रहे थे कि योगी अहर्निश किस प्रकार आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए सचेत रहे। कहीं चिंता रूपी पिशाचिनी उसके आत्मतत्त्व का हरण न कर ले। चिंतन में आगम नहीं वरन् सदैव आगम का चिंतवन करते रहने से उस परम तत्त्व की प्राप्ति संभव है।

'तत्त्व' शब्द का अर्थ है–स्वभाव। यह तत्त्व प्रत्येक का अपना-अपना भिन्न होता है। जीव का जीवत्व, अजीव का अजीवत्व, अग्नि की उष्णता आदि जो जिसका नाम है, जो जिसकी संज्ञा है, उसमें उसकी गुणवत्ता धर्म होना अनिवार्य है। 'अहमिदं इति संकल्पं', 'ममेदं इति विकल्पं' मैं यह हूँ, ऐसा कहना संकल्प कहलाता है और यह मेरा है, ऐसा कहना विकल्प

कहलाता है। जब कोई कहता है–“आप क्या समझते हैं, मैं जैन हूँ, मैं साधु हूँ, मैं आचार्य हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं विचारक हूँ, मैं उच्च कोटि का लेखक हूँ, मैं एक अच्छा भक्त हूँ, मैं एक वैरागी हूँ तो इन सारे नामों और उपाधियों के पीछे भी एक प्रकार का अहंकार और पहचान का आग्रह छिपा होता है। यदि वस्तु की सही पहचान नहीं हुई तो इन नामों को रखने से कोई वास्तविक लाभ नहीं।

प्यास लगी हो और पानी न मिले तो 'पानी' शब्द का परिचय होना भी कोई उपयोगी नहीं। आप कहो–पानी को जल भी कहते हैं, तोय भी कहते हैं, वारि भी कहते हैं, अम्बु भी कहते हैं, नीर भी कहते हैं, वाटर भी कहते हैं, विष भी कहते हैं, अमृत भी कहते हैं। यदि यह सब नाम लेते चले जाएँ, तो क्या प्यास बुझ जाएगी? नहीं बुझेगी, आप जानते हैं केवल नाम लेने से प्यास नहीं बुझती। इसी प्रकार मैं ये हूँ, मैं वो हूँ–ऐसे अहंकारपूर्ण नामों का उच्चारण करते रहने से भी वास्तविकता का अनुभव नहीं होता।

आचार्य महोदय हमें यह समझाना चाहते हैं कि संसार में केवल नाम या उपाधियाँ आपको स्थायी तृप्ति नहीं दे सकती। आपको प्रतिष्ठा दिला सकती है, परन्तु वह अहंकार की पुष्टि मात्र है। आत्मा के संबंध में समझदारी नहीं आए तब आपकी समस्त समझदारी नासमझी के बराबर है। जैसे अंकों से रहित कितने भी शून्य हों, वे शून्य के ही बराबर कहलाते हैं, उनका कोई मूल्य नहीं होता। प्राणों से रहित शरीर कैसा भी हो, चाहे वह मिट्टी का बनाया जाए, प्लास्टिक का बनाया जाए, चाहे धातु का बनाया जाए, यदि उस शरीर में जीवंतता नहीं तो वह मिट्टी ही है। आचार्य महोदय इस पैंतीसवीं कारिका में कह रहे हैं–

जो सुधी अर्थात् सम्यक् बुद्धि से सहित हैं, वह **'स्वात्मानं भावयेत्'** अपनी आत्मा की भावना करें। जो अपनी आत्मा की भावना भाने में समर्थ हैं, वही सुधी हैं। जो अपनी आत्मा को छोड़कर के अन्य वस्तु या व्यक्ति की भावना करता है, वह सुधी नहीं है बल्कि कुतर्की, कुत्सित बुद्धि वाला है। आचार्य महोदय की इस कारिका का मर्म समझें 'अन्यच्छरीरं' यह शरीर अन्य है। इस शरीर के जितने धर्म हैं वे भी अन्य हैं। शरीर का आकार छोटा-बड़ा, मोटा-पतला हो सकता है, पर वह आत्मा नहीं है। कोई कहे मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ किन्तु ये सब शरीर से जुड़ी पहचानें हैं, आत्मा से नहीं। इसी प्रकार बाहरी शिक्षा प्राप्त करके नाम जोड़ना जैसे-मैं डॉक्टर हूँ, मैं इंजीनियर हूँ, मैं कलेक्टर हूँ, मैं मजिस्ट्रेट हूँ-ये सभी पद और उपाधियाँ शरीर से संबंधित हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा का कोई आरोपित नाम नहीं है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि यह शरीर अन्य है और इसके धर्म अन्य हैं। जब दो शरीर ने जन्म लिया, तभी माता-पिता कहे गए; जब शरीर ने जन्म दिया तभी पुत्र-पुत्री कहे गए; जब एक ही माँ के गर्भ में रहे तभी भाई-बहिन कहे गए, और जब एक शरीर ने दूसरे शरीर से संयोग किया तभी पत्नी कहलाई। ये सभी संबंध शरीर-आधारित हैं, आत्म आधारित नहीं।

महानुभाव! यह शरीर मैं नहीं हूँ। 'अन्योऽहं' मैं इन सबसे अलग हूँ। जो मैं हूँ उसमें ये सब संबंध ही नहीं हैं। यहाँ तक कि मेरी इस शुद्ध आत्मा में न गुणस्थान रूप मेरा स्वभाव है, न कोई मार्गणा मेरा स्वभाव है। प्राण-पर्याप्ति आदि कुछ भी मेरा स्वभाव नहीं है। जीवसमास, गति, इंद्रिय, कषाय, काय, योग, वेद, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व आदि कुछ भी मैं नहीं हूँ। मैं जो हूँ वह तो स्वानुभवगम्य है। मैं चेतना हूँ, यह चेतना मेरी आत्मा

का लक्षण है। वह अनुभूति रूप है। तो जब मैं शरीर को पड़ौसी मानकर के, जीर्ण कुटी मानकर के आँख बंद करके बैठता हूँ तो आत्मा का चिंतन होता है। हाँ, ये आत्मा जो चिंतन कर रही है, जान रही है, देख रही है, अनुभव कर रही है, जो कल सिद्ध बन सकती है, वह मैं हूँ। मेरी आत्मा में सिद्धों के समान प्रदेश हैं, उतने ही गुण हैं, कोई कम नहीं।

आगे कहा–'सम्बन्धिबान्धवो अन्य:' जितने भी संबंधिजन हैं, वे भी अन्य हैं। **'बंधु बंधमूलं स्यात्'** जितने भी बंधु–बान्धव हैं वे सब कर्मबंध के मूल हैं–क्योंकि इनके माध्यम से ही चित्त में राग–द्वेष की प्रवृत्ति होती है। बंधु–बांधवों से रहित, श्री और स्त्री से विहीन व्यक्ति जंगल में जाकर के बैठ जाए तो शनै:–शनै: उसके मन से राग–द्वेष भी कम होता चला जाएगा।

सम्बन्धि अर्थात् सम + बन्धि। समीचीन बंध को प्राप्त करने वाले हों किन्तु ये सम्बन्धि तो ऐसे कठोर बंधन को बाँधने वाले हैं, जिनको तोड़ना बड़ा कठिन है। कोई ताकतवर व्यक्ति हो तो जूट की रस्सी को, मूंज की रस्सी को, प्लास्टिक की रस्सी को झटके से तोड़ सकता है। पतले तार से बने हथकड़े आदि को भी वह तोड़ सकता है। यहाँ तक कि लोहे की जंजीर को भी तोड़ सकता है– लेकिन बंधु–बांधवों के संबंधों को तोड़ना सरल नहीं है। व्यक्ति जिसे प्रिय मानता है, उसके चेहरे पर यदि शिकन भी आती है तो उसकी आत्मा तड़प जाती है। जिसको वह प्राणों से भी ज्यादा चाहता है, उसकी आँख में आँसू आ जाएँ तो ये तड़प जाता है। हो सकता है अपने शरीर पर उससे सहस्रगुना कष्ट सहने पर भी उसकी आँखें नम न हों किन्तु जिसके राग में बँधा है उसके तनिक कष्ट को भी सहन नहीं कर सकता।

आपने सुना होगा शालिभद्र के विषय में–जो धन्यकुमार का साला था। वह अपनी पत्नी के राग में अत्यंन्त रागान्वित था। भगवान महावीर स्वामी के

समवसरण में दोनों गए, वहाँ वैराग्य की भावना जागी, किन्तु दीक्षा के लिए शालिभद्र ने कहा ''मैं घर में रहकर इसका अभ्यास करूँगा।'' धन्यकुमार ने कहा अभ्यास करने वाले कभी दीक्षा नहीं लेते। तुम यहीं रहो, मुझे वैराग्य हुआ है मैं तो चला। शालिभद्र के भीतर वैराग्य की चिंगारी तो जाग चुकी थी, किन्तु पत्नी के मोहपाश ने उसे अभी तक जकड़ रखा था।

एक दिन जब वह अपनी पत्नी को स्वयं स्नान करा रहा था, तभी पानी थोड़ा सा तेज गर्म हो गया और पत्नी पर गिर गया और उसकी आँखों में आँसू आ गए। पत्नी के आँसू देखकर वह भावविभोर हो गया। पत्नी ने कहा–जितना राग आपका मेरे प्रति है, काश उतना राग अपनी आत्मा के प्रति हो जाता, तो कल्याण हो जाता। उसने कहा–''मैं तुझे दुःख नहीं दे सकता चाहे कुछ भी हो।'' पत्नी बोली–अगर मेरे राग में बँधे रहोगे तो दुर्गति के ही पात्र बनोगे। वहाँ की यातनाएँ ही सहन करनी पड़ेंगी। वह बोला–नहीं-नहीं मैं तो तुमसे राग कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में गया था। मैं दीक्षा का अभ्यास कर रहा हूँ। पत्नी बोली–ऐसे अभ्यास से मोह कम नहीं होता। मोह को तो एक ही क्षण में तोड़ना पड़ता है। आप अभ्यास करते रहो, मैं दीक्षा ग्रहण करने जा रही हूँ। शालिभद्र बोला–अरे! मैं तो तुम्हारी वजह से रुका हुआ था और तुम मुझे छोड़कर जा रही हो। तब उसे संसार की असारता का भान हुआ।

महानुभाव! वास्तव में जब मोह का बंधन टूटता है, तो सभी संबंधों को छोड़ने में क्षण भर भी नहीं लगता। एक महिला आयीं थी तिजारा जी में, दीक्षा का कार्यक्रम था। बोली–महाराज जी! मुझे आज ही दीक्षा चाहिए। हमने पूछा–कारण? वह बोली–कारण क्या? बस आज-अभी ही दीक्षा चाहिए। हमने पुनः पूछा–कारण तो बताओ? वह बोली–बहू-बेटा न जाने

खुद को क्या समझते हैं। मैंने तो ऐसा कुछ कहा भी नहीं, सब कुछ तो मैंने उनके लिए ही किया है आज तक! हमने कहा—अरे! नाराज क्यों होती हो? नहीं-नहीं महाराज जी, मुझे अभी ही दीक्षा चाहिए। मैंने सबसे मोह तोड़ दिया, सबको छोड़ दिया, मैं अब लौटकर जाऊँगी ही नहीं। चाहे वे सौ बार आएँ और मनाने का प्रयत्न करें—अब यह मार्ग नहीं छोड़ूँगी। हमने कहा कोई बात नहीं, अभी भोजन-पानी करो। दोपहर का समय हुआ, वह स्त्री बोली—महाराज जी, आपने सोच लिया, आप मुझे दीक्षा देंगे न। और थोड़ी देर बाद उसके बेटे का फोन आया—चुपचाप घर आ रही हो या नहीं, क्या मेरी नाक कटवाओगी। वह महिला पुनः हमारे पास आयीं और बोलीं—क्षमा करना महाराज जी, बेटे का फोन आया था, घर जाना पड़ेगा।

महानुभाव! मोह को तोड़ना कोई बच्चों का खेल है क्या? अद्रिकुमार जो महातपस्वी थे, वे भी अपने पुत्र के राग से कच्चे धागे के बारह अंटे नहीं तोड़ पाए। जो दृष्टि मात्र से लोहे की सांकलों को तोड़ सकते थे, वे मोह के बंधन को तोड़ नहीं पाए।

महानुभाव! ये बंधु-बांधव आत्मा के कुछ नहीं हैं। एक क्षण वास्तव में आत्मा का चिंतन करके तो देखो, उस आत्मा की गहराई में जाकर तो देखो। जिस पात्र में जल भरा हुआ है वह पात्र अलग है और जल अलग है। पात्र चाहे मिट्टी का हो, काँसे का हो, ताँबे का हो, सोने-चाँदी का हो या रत्नों का ही क्यों न हो, वह अलग है और उसमें भरा जल अलग है। उन पात्रों में मोहित मत होओ।

जीवों का परस्पर संबंध कैसा है? इस बात को दृष्टांतपूर्वक समझाते हुए आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने कहा—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे-नगे।
स्व-स्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे-प्रगे।।9।। -(इष्टोपदेश)

दिशा-विदिशाओं से पक्षीगण आकर रात्रिकाल में एक वृक्ष पर ठहर जाते हैं और सुबह वे अपनी-अपनी इच्छानुसार अलग-अलग दिशाओं में उड़ जाते हैं। उसी प्रकार यह जीव कर्म जनित संबंधों को प्राप्त करता है। ये संबंध स्थायी नहीं हैं, क्योंकि जिनका संयोग होता है उनका वियोग भी होता है। समयानुसार संबंधों में विच्छेद हो जाता है। जिनसे इसका तादात्म्य संबंध है वे ही जीव के हैं। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी ने द्वात्रिंशतिका में लिखा है-

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमः स्वभावः।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः।।26।।

मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है और निर्मल ज्ञानस्वभावी है। समस्त परद्रव्य कर्म से उत्पन्न होने के कारण मुझसे परे हैं।

अन्यत्वभावना का चिन्तन करते रहने से साधक को संसार की यथार्थता का बोध होता है। यह बोध प्राणी को अनुकूल- प्रतिकूल परिस्थितियों में साधना के पथ से भटकने नहीं देता। यहाँ आचार्य महोदय ने अन्यत्व भावना के चिंतन का उपदेश दिया है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने भी बारसाणुवेक्खा में कहा-

अण्णं इमं शरीरादिगं पि होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं।।23।।

ये शरीरादिक बाह्य द्रव्य मेरे नहीं, मुझसे पृथक् हैं, अन्य हैं। ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा ही मेरा है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिंतन करना

चाहिए। इससे स्व-पर का यथार्थ बोध होता है, परद्रव्यासक्ति कम होती है, मोह का विलय होता है, स्वात्म भावना का जागरण होता है, कर्म क्षय द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'एवं स्वं च परं ज्ञात्वा' इस प्रकार अपनी आत्मा का व पर का स्वरूप जानकर 'स्वात्मानं भावयेत्सुधी' सुधी प्राणियों को अपनी आत्मा की भावना नित्य भानी चाहिए। आत्मभावना ही मोह के बंधनों को तोड़ने वाली है। मोह के बंधन लोहे की सांकल जैसे भी हों किन्तु आत्मचिंतन की विशुद्ध भावना आरी की तरह से उन सांकलों को काट देगी।

आप चिंता न करें किन्तु आत्मचिंतन की भावना जरूर भाएँ। घबराएँ नहीं। यह चिंतन ही आपको बल देगा। यह चिंतन ही आपको मोक्षमार्ग पर ला सकता है। इस प्रकार आचार्य महोदय ने अन्यत्व भावना के संबंध में कहा। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

अशुचित्व भावना

अत्यन्तमलिनो देहो, देही चात्यन्त निर्मलः।
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते॥36॥

अन्वयार्थ–(देहः) देह **(अत्यन्त)** अत्यन्त **(मलिनः)** मलिन है **(च)** और **(देही)** आत्मा **(अत्यन्त)** अत्यन्त **(निर्मलः)** निर्मल है। **(उभय)** दोनों में **(अन्तरं)** अन्तर को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(कस्य)** किसकी **(शौचं)** शुद्धि **(विधीयते)** की जाए?

अर्थ–देह अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है। दोनों में अंतर देखकर किसकी शुद्धि की जाए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देखा कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है। दोनों के गुण–धर्म अलग–अलग हैं। अब यहाँ छत्तीसवें श्लोक के माध्यम से आचार्य महोदय आत्मा के संबंध में बताना चाह रहे हैं। जब तक दोनों के स्वभाव का परिज्ञान नहीं होगा तब तक व्यक्ति क्या उपादेय है, और क्या हेय है इसको नहीं समझ पाएगा। उपादेय–हेय को समझे बिना वह जो कुछ भी प्रवृत्ति करेगा, वह प्रवृत्ति संसारवर्धक ही होगी।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय देह तथा देही की शुद्धि– अशुद्धि के विषय में बता रहे हैं। देह मलिन है, मलिन था और मलिन ही रहेगा। आत्मा पवित्र थी, पवित्र है और पवित्र ही रहेगी। शरीर अपनी मलिनता नहीं छोड़ता है अतः उसे पवित्र करने का श्रम करना व्यर्थ ही है। आत्मा पवित्र है, वह अत्यन्त निर्मल है, उस पर किसी प्रकार का मैल नहीं है।

अज्ञान अवस्था में यह जीव अनादिकाल से ही इस शरीर को शृंगारित करने में अपना महंगा समय व्यर्थ किए जा रहा है। जिसका बीज ही मलिन है वह वृक्ष पवित्र कैसे हो सकता है। देह के प्रति आचार्य भगवन् शिवकोटि जी महाराज ने कहा–

देहस्य सुक्कसोणिय, असुई परिणामिकारणं जम्हा।
देहो वि होई असुई, अमेज्झघदपूरवो व तदो।।

–(भगवती आराधना–1004)

देह की उत्पत्ति का कारण महाअशुचि स्वरूप माता का रुधिर तथा पिता का वीर्य है। जिस प्रकार मलिन वस्तु से निर्मित घेवर मलिन होता है, वैसे ही अशुभ बीज से उत्पन्न शरीर भी अशुभ है। जिसके संसर्ग से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं, जो शरीर हमेशा ताप को उत्पन्न करने वाला है, उसकी चाहना करना वृथा है। सर्व मैलों से रहित आत्मा को प्राप्त करने के लिए यह शरीर तो मात्र साधन है। आचार्य भगवन् शुभचंद्र स्वामी जी ने कहा–

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम्।। –(ज्ञानार्णव–165)

जिन पुण्यशाली प्राणियों ने संसार से विरक्त होकर अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए, निराकुल मोक्ष सुख को पाने के लिए इस शरीर को संयम–तप के द्वारा कृश किया है, उन्होंने ही वास्तव में इस मनुष्य शरीर के फल को प्राप्त किया है।

'अत्यन्तमलिनो देहो' यह शरीर बहुत घृणित है, मलिन है। **'नित गंग जमुन समुद्र न्हावे अशुचि दोष सुभावते।'** इस शरीर का प्रक्षालन नदी, तालाब, समुद्रादि के जल से प्रतिदिन किया जाए तब भी यह शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि ये शरीर स्वभाव से अशुचि है। आचार्य भगवन् समन्तभद्र

स्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जहाँ निर्विचिकित्सा अंग का स्वरूप बताया वहाँ लिखा–'स्वभावतोशुचौ काये', यह शरीर स्वभाव से अशुचि है। जिसका स्वभाव ही अपवित्र है तो उसे पवित्र कैसे किया जा सकता है, क्योंकि स्वभाव का अभाव कभी नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि स्वभाव से ही गर्म है तो उसे ठंडी करने का पुरुषार्थ क्या करना, नीम स्वभाव से ही कड़वा है तो उसे मीठा कैसे किया जाए, गन्ना स्वभाव से मीठा है, तो वो खारा कैसे हो सकता है। घृत स्वभाव से स्निग्ध है, तो रुक्ष कैसे हो सकता है। कपास आदि स्वभाव से ही हल्की है तो वह भारी कैसे हो सकती है, और पाषाणादि स्वभाव से भारी हैं तो उन्हें हल्का कैसे किया जा सकता है। परपदार्थ के संयोग से स्वभाव में कुछ अन्तर तो आता है किन्तु मूलतः विच्छेद नहीं होता। व्यवहार में कहा जाए तो भिन्नता दिख सकती है, किंतु निश्चय से स्थिति वही है जो जिसका स्वभाव है।

एक व्यक्ति घी से जल गया। लोगों को सुनकर आश्चर्य हुआ कि घी कैसे जला देगा? घी तो नहीं जला सकता। दूसरे व्यक्ति ने कहा–हाँ, जब घी में आग लगी हो, तो वह जला सकता है। तीसरे व्यक्ति ने कहा–दूध भी नहीं जला सकता है क्योंकि दूध में घी होता है।"। चौथे ने कहा–"यदि दूध में जलन हो सकती है तो जल में भी हो सकती है।" अगला व्यक्ति बोला–मुझे तो ठंडा पेय भी जला गया। लोग हँस पड़े, किन्तु उसने कहा–"भाई, तुमने मेरी बात पूरी सुनी ही नहीं।" यह इस प्रकार संभव है कि कोई वस्तु अपने मूल स्वरूप में शीतल हो, किन्तु उसमें अग्नि का अंश प्रवेश कर गया हो, तो वह जला भी सकती है। इन पदार्थों ने पूर्णतः अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा किन्तु अग्नि के स्वभाव को ग्रहण कर लिया। अग्नि के स्वभाव को ग्रहण कर लेने से घी भी गरम हो गया, जल भी गरम हो गया, दूध भी गरम हो गया, ठंडा पेय भी गर्म हो गया, जिसने तुम्हें जला दिया। तो मात्र

घी ने नहीं जलाया, गर्म घी ने जला दिया। जल ने नहीं, गर्म जल ने जला दिया। दूध ने नहीं, गर्म दूध ने जला दिया। ठंडाई ने नहीं, वह गर्म हो गई इसलिए जला दिया।

आचार्य महोदय कह रहे हैं जैसे दूध में, घी में, जल में उष्णता दिख नहीं रही, फिर भी जला दिया। भले ही उस जल का स्वभाव शीतलता है, फिर भी शीतलता नहीं दे पा रहा। उसी प्रकार आत्मा जब पुद्गल के संसर्ग में आती है, तो उसका शुद्ध स्वरूप प्रभावित हो जाता है। यदि कुछ समय के लिए उस जल को अग्नि से दूर रख दो तो वह स्वतः ठंडा हो जाएगा, ऐसे ही यह जीव जो पुद्गल के संयोग से पुद्गल स्वभावी हो गया है, जब वह संयोग समाप्त हो जाता है, तो आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाती है।

संसार में जो जीव को दुःख दे रहा है वह जीव नहीं अजीव है, पुद्गल है, कर्म है। आत्मा कभी आत्मा को दुःख दे ही नहीं सकती। आत्मा ने अपने अंदर पुद्गल को समाहित कर लिया इसलिए उस पुद्गल के उदय से कभी कष्ट का अनुभव होता है तो कभी सुखाभास होता है, किंतु पुद्गल चेतना का गुण, धर्म, स्वभाव नहीं है। आत्मा पुद्गल के साथ होकर के पुदगल जैसी प्रवृत्ति करने लगी। जैसे जल अग्नि के संयोग से अग्नि का सा असर दिखाने लगा, ऐसे ही यह आत्मा भी पुद्गल का सा असर दिखाने लगी। शब्द, बंध, संस्थान, सूक्ष्म, स्थूल आदि पुद्गल की पर्याय हैं। गुणस्थान, मार्गणादि भी पुद्गल के निमित्त से हैं, शुद्ध जीव में ये नहीं हैं। आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि यह देह स्वभाव से अत्यन्त मलिन है।

कोयला होय न ऊजरो, सौ मन साबुन खाय।

जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसका वह स्वभाव नष्ट नहीं किया जा सकता है। कोयले को नदियों या समुद्रों के जल से अथवा साबुन से धोने पर क्या वह श्वेत हो जाएगा? नहीं हो सकता, काले का काला ही रहेगा।

ऐसे ही आत्मा को यदि समुद्र के जल से स्नान कराओ, तो क्या वह शुद्ध हो जाएगी? नहीं होगी। कोयले को सफेद करने का एक ही साधन है, कि उसे अग्नि में डाल दो। अग्नि में जलकर वह राख बन जाएगा और वह राख सफेद होती है। ऐसे ही आत्मा को तप की, ध्यान की, ज्ञान की अग्नि में डाल दो तो वह भी श्वेत हो जाएगी और कर्म भी धवल हो जाएँगे, मुक्त हो जाएँगे, कार्माण वर्गणाएँ बन जाएँगे।

जो शरीर का स्वभाव है उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। जैसे कोई भी व्यक्ति दो अंकों में 100 नहीं लिख सकता, दो अंकों की बड़ी संख्या 99 है। इसी प्रकार एक अंक में दहाई के अंक को नहीं लिखा जा सकता है, क्योंकि यह स्वभाव है, जिसे बदला नहीं जा सकता। इस शरीर का स्वभाव है मलिनता। गंदगी क्या कभी शुद्ध हो जाएगी? गंदगी गंदगी ही रहेगी, और जिसका स्वभाव शुद्ध है, वह कभी मलिन नहीं होगा। रत्न चाहे कीचड़ में गिर जाए फिर भी वह अपनी शुद्धता नहीं खोता। जब उसे निकालकर जल से धोया जाता है, तो वह और अधिक चमक उठता है। आत्मा का स्वभाव भी ऐसा ही है। कर्मों के संयोग से भले ही अशुद्ध हो गई हो किन्तु कर्मों के नष्ट होते ही आत्मा शुद्ध हो जाएगी। स्फटिक मणि स्वभाव से श्वेत है, किन्तु यदि उसके पास जवा पुष्प रखा जाए, तो वह लालिमा युक्त प्रतीत होती है। जैसे ही जवा पुष्प को हटाया जाता है, स्फटिक मणि पुनः श्वेत रूप में आ जाती है। इसी प्रकार किसी वस्तु पर यदि संसर्ग का प्रभाव पड़े तो वह उसी के अनुसार दिखती है, और जब प्रभाव को दूर कर दिया जाता है तो उसका मूल स्वरूप फिर प्रकट हो जाता है।

आचार्य महोदय ने कहते हैं–**'अत्यन्तमलिनो देहो'** यह शरीर अत्यंत मलिन है। **'देही चात्यन्तनिर्मलः'** और यह आत्मा अत्यंत निर्मल है। भव्यजीव

की इस आत्मा को कर्म चाहे कितना भी बांधना चाहे। आसन्न भव्यजीव एक दिन उन कर्मों को नष्ट करके मोक्ष प्राप्त कर ही लेगा।

महानुभाव! आत्मा को यदि शाश्वत अशुद्ध मान लेंगे तो कर्मों के दूर होने पर भी वह अशुद्ध ही बनी रहेगी। आत्मा को शाश्वत शुद्ध मान लेंगे तो कर्मों का प्रभाव दिखाई नहीं देगा। वर्तमानकाल में आत्मा कर्मों के प्रभाव से अशुद्ध है। जैसे जल अग्नि के संयोग से गर्म हो गया वैसे ही आत्मा कर्मों के प्रभाव से अशुभ हो गई। अग्नि दूर करते ही थोड़ी देर में वह जल शनै–शनैः शीतल हो जाएगा, ऐसे ही कर्मों को दूर करते–करते यह आत्मा भी शुद्ध स्वभाव को प्राप्त हो जाएगी।

महानुभाव! यह शरीर मलिन है, इसकी सेवा करना व्यर्थ है। इस शरीर को नित्य–नित्य स्नान कराना व्यर्थ है, नित्य इसको श्रृंगारित करना व्यर्थ है। आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामीजी ने इष्टोपदेश ग्रन्थ की उन्नीसवीं कारिका में लिखा है–

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं।।19।।

जो देह का उपकार करता है वह आत्मा का अपकार करता है और जो आत्मा का उपकार करता है उससे देह का अपकार होता है। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। एक राही एक समय में दो रास्ते नहीं चल सकता। पूर्वाभिमुख होकर के जिस मंजिल को प्राप्त किया जा सकता है, उस मंजिल को पश्चिमाभिमुख होकर के प्राप्त नहीं कर सकते। यदि पश्चिम की ओर गमन हो रहा है तो पूर्व से दूरी और पूर्व की ओर गमन हो रहा है तो पश्चिम से दूरी बढ़ रही है।

यही भाव है कि एक साथ आत्मा और शरीर की सेवा संभव नहीं है। आगे कहा **'उभयोरन्तरं दृष्ट्वा'** दोनों के अंतर को देखकर के अर्थात् देह

और देही के अंतर को देखकर, 'कस्य शौचं विधीयते' यह नहीं बताना पड़ेगा कि आपको किसकी शुद्धि करनी है। जो काम हो ही नहीं सकता, उस काम को करने से क्या लाभ? अग्नि कभी ठंडी हो ही नहीं सकती तो उसमें समय और श्रम गँवाना उचित नहीं है। बुद्धिमान ऐसे कार्य नहीं करते। हाँ, पानी ठंडा हो सकता है तो उसे ठंडा कर लो, अग्नि से अलग करके। किन्तु यह संसारी प्राणी जो कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता ऐसे उस शरीर की शुद्धि में अनादिकाल से लगा है, उसमें सारा समय और श्रम गंवा रहा है और जो आत्मा शुद्ध हो सकती है, उस पर आज तक ध्यान ही नहीं दिया।

इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि ज्ञानी व्यक्तियों के द्वारा आत्मा की शुद्धि करना चाहिए। शरीर की शुद्धि करना विवेकशीलता नहीं, मूर्खता है। शरीर के संस्कार में, पोषण में, शुद्धि में न लगकर आत्मा की शुद्धि का परम पुरुषार्थ करना चाहिए। यह देह अशुचिता की खान है, अशुचिता का मूल है, उसी का संवर्धक है और अशुचिता ही इसका फल है। इसलिए जिसका बीज भी अशुचि रूप हो, जिसकी स्थिति भी अशुचि रूप व जिसका फल भी अशुचि रूप हो उसमें शुचिता आ ही नहीं सकती। उपचार से मानते हैं कि रत्नत्रयधारी आत्मा जिस शरीर को धारण करती है वह भी लोकव्यवहार में पूज्यता को प्राप्त होता है, ऐसी शुचिता मानी जाती है। किन्तु वह शरीर भी अशुचि है, अपवित्र है, उसके संपोषण में अपना यह महंगा जीवन व्यर्थ मत करो। आप और हम अपनी आत्मा को रत्नत्रय के सुसंस्कारों से सुसज्जित करने का पुरुषार्थ करें। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

एकत्व भावना

एकः करोति कर्माणि, भुंक्ते चैकोऽपि तत्फलम्।
एकोऽपि जायते नूनमेको याति भवान्तरम्।।37।।

अन्वयार्थ–(एकः) अकेला **(कर्माणि)** कर्मों को **(करोति)** करता है **(च)** और **(एकः)** एक **(अपि)** ही **(तत्)** उस **(फलं)** फल को **(भुंक्ते)** भोगता है। **(नूनं)** निश्चय से **(एकः)** अकेला **(अपि)** ही **(जायते)** जन्म लेता है **(एकः)** अकेला ही **(भवान्तरम्)** भवान्तर को **(याति)** जाता है।

अर्थ–यह जीव अकेला ही कर्मों को करता है तथा उसके फल को अकेला ही भोगता है। यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही भवान्तर को जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आज एकत्व भावना के संबंध में देखते हैं। बारह भावना निःसंदेह चैतन्य चिन्तन की कारक हैं। इनके माध्यम से यह आत्मा अपने तत्त्व को जानने में समर्थ होता है, और तत्त्व चिंतनद्वारा ही आत्मा ध्यान में एकाग्र हो सकती है। जो तत्त्वचिंतन नहीं करता, वैराग्य आदि भावनाओं का आलम्बन नहीं लेता वह निर्विकल्प ध्यान तक नहीं पहुँच पाता।

आचार्य महोदय ने एकत्व भावना का स्वरूप यहाँ कहा–'एकः करोति कर्माणि' एक ही जीव कर्म को करता है, 'भुक्ते चैकोऽपि तत्फलं' एक ही उसके फल को भोगता है। 'एको जायते नूनं' एक ही जीव जन्म लेता है और 'एको–याति

भवान्तरम्' मृत्यु के उपरांत एक ही दूसरे भव में जाता है। अब प्रश्न है–'एक' का आशय क्या है? एक परिवार में 5–10–20 सदस्य रहते हों, तो यह संभव नहीं कि सबका परिणाम एक जैसा हो। एक परिवार में रहने पर भी प्रत्येक का परिणाम अलग-अलग होता है।

दो-भाई हैं। एक भाई नित्य प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व स्नानादि से निवृत्त होकर के जिनेन्द्रप्रभु के जिनालय में जाता है, वहाँ पूजा, अभिषेक, शान्तिधारा करता है, श्रीजी का मुखावलोकन करता है, उनकी परिक्रमा लगाता है।

श्री मुखालोकना देव, श्री मुखालोकनं भवेत्।
आलोकन-विहीनस्य, तत् सुखावाप्तयः कुतः।।4।। –(अर्हत्भक्ति)

श्रीजी का मुखावलोकन करने से मुक्ति श्री का मुखालोकन होता है। आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा है–

जिसने जीवन में कभी श्री जी का मुखावलोकन नहीं किया वह अपने जीवन में श्री अर्थात् सांसारिक धन- सम्पत्ति और मोक्ष रूपी लक्ष्मी, दोनों में से किसी को प्राप्त नहीं करता। जो श्रीजी का मुखावलोकन करता है उसे ही भवलक्ष्मी व मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होती है। दूसरा भाई जिसका प्रातःकाल ही 10-12 बजे होता है। फिर जाकर हिंसा के, मिथ्याभाषण के, चोरी के, ठगी के, प्रवंचना के, छलकपट के काम करता है। पंचेन्द्रिय विषयों में रमण करता है, कुशील सेवन करता है, परिग्रह संचय में लगा रहता है, रात्रि में देर तक गंदे-गंदे कार्यों में रत रहता है ऐसी पाप सम्मिलित उसकी दिनचर्या है। दोनों भाई अलग-अलग कार्य कर रहे हैं। दोनों को उनके अनुसार, अलग-अलग आयु का बंध हुआ। एक ही माता-पिता होने के बावजूद संभव है एक भाई स्वर्ग, दूसरा भाई नरक जा सकता है, क्योंकि दोनों के कर्म अलग-अलग हैं, दोनों के भाव अलग-अलग हैं, दोनों के विचार अलग-अलग हैं।

जो भाई नित्य देवदर्शन, पूजन, भक्तिपाठ में संलग्न रहता था, साधुओं की वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, उपवास आदि करता था, महामंत्रादि की जाप लगाता था, उसके एक दिन मंदिर से आते समय पैर में काँटा लग गया और दूसरा भाई जो गंदे कार्य करता था, उसे मार्ग में स्वर्ण सिक्कों की थैली मिली। जब दोनों घर पर मिले, तो जिस भाई को सोने के सिक्कों की थैली मिली थी वह बोला—देख लिया पूजा-पाठ का फल! पैर में काँटा लग गया और देखो, लौटते वक्त मुझे यह स्वर्ण थैली मिली है। अब तुम भी मेरे साथ चला करो। तुम कहते थे—मेरे साथ मंदिर चल-मंदिर चल, क्या होता है वहाँ जाने से। अच्छे वाले भाई ने कहा—देखो मुझे अकाट्य विश्वास है कि नमक खाने पर शक्कर का स्वाद नहीं आएगा। प्रकृति को कोई बदल नहीं सकता, उसके अनुसार फल की प्राप्ति होती है, किन्तु यहाँ प्रत्यक्ष में तुम्हें पूर्व पुण्य का फल मिला और मुझे पूर्व में बांधे हुए पाप का फल मिला। इसका कारण पूर्वबद्ध कर्मों का हिसाब-किताब मानना चाहिए। यदि आपको विश्वास नहीं है तो चलते हैं अवधिज्ञानी मुनि महाराज के पास। दोनों मुनिराज के पास पहुँचे, चरण वन्दना की और अपनी बात को सामने रखा।

मुनिराज ने कहा—पूर्व भव में तुमने तपस्या की थी, दान दिया था, भगवान की भक्ति की थी, जिसके फलस्वरूप इस भव में, इस घड़ी में तुम्हारा आज राज्याभिषेक होना था। आज आप राजा होते, किन्तु आपने इन पाप कार्यों में लगकर अपने उस पुण्य को धीरे-धीरे बर्बाद कर दिया। इन पापों में आपने पूरा पुण्य बर्बाद कर दिया और जो शेष पुण्य बचा था, उस पुण्य के फल से आपको स्वर्ण सिक्कों की थैली मिली है। तुम्हारे भाई ने पूर्व में पाप किए थे। उस पूर्व भव के पापों की सजा आज इसे सूली रूप में दी जाती, किन्तु इस भव में आकर के इसने इतना पुण्य करना प्रारंभ कर दिया कि उस पुण्य के माध्यम से इसकी सूली धीरे-धीरे शूल में बदल

गई। एक भाई ने अपने पुण्य को बर्बाद किया, एक ने पाप को। पाप को नष्ट करने वाला व्यक्ति पाप के अल्पफल को प्राप्त कर रहा है और पुण्य को नष्ट करने वाला व्यक्ति शेष बचे पुण्य का अल्पफल प्राप्त कर रहा है किन्तु फल दोनों अपना-अपना प्राप्त कर रहे हैं। इस बात को सुनकर दोनों भाई पुण्य-पाप की महिमा को समझकर कल्याण मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ गए।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं-जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। 'एकः करोति कर्माणि' जो एक व्यक्ति कर्म बांधता है, उसे वह ही भोगता है, अन्य नहीं। कोई कहे कि महाराज जी! मैं पाप करना नहीं चाहता हूँ, मैं तो भीख माँगकर भी अपना पेट भर लूँ, किन्तु क्या करूँ अपनी पत्नी-बच्चों के लिए मुझे पाप करना पड़ रहा है। भले ही आप किसी के भी निमित्त से पाप करो, लेकिन पाप करने वाले तुम हो, तो पाप का फल भी तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। जो खाता है उसका पेट भरता है। जो जैसा खाता है वैसा असर आता है। कोई व्यक्ति जहर चाहे अपने हाथ से खाए या दूसरों के हाथ से खाए, चाहे आवेश में खाए, चाहे शान्ति से खाए, चाहे दूसरों के राग-द्वेष-मोह से खाए किन्तु जहर खाने वाला ही मृत्यु को प्राप्त करेगा। और जिसने अमृत का पान किया है, चाहे स्वहस्त से किया या परहस्त से, राग से, मोह से या कषायवश किया, उसे अमृत का स्वाद ही आएगा। चाहे किसी के निमित्त से, चाहे किसी और के लिए या किसी कारण अथवा मजबूरी में हम जो कुछ भी कर रहे हैं, उसका फल किसी और को नहीं अपितु हमें ही प्राप्त होगा।

एक सुप्रसिद्ध डाकू था, जिसका गिरोह दूर-दूर तक भय का कारण बना हुआ था। वह जंगल में रहता था। एक दिन उसने देखा कि जंगल में बड़ी भीड़ एक दिशा में जा रही है-राजा, महामंत्री और नगर के बड़े-बड़े लोग भी उस भीड़ में शामिल हैं। डाकू छिपकर देखने लगा। दूर से उसने देखा

कि वहाँ कोई और नहीं बल्कि धरती के देवतुल्य मुनिराज विराजमान हैं। जब भीड़ चली गई तो डाकुओं का सरदार मुनिराज के पास पहुँचा। मुनिराज उस समय मुद्रा लेकर आहारार्थ जा रहे थे। डाकू ने उन्हें रोककर कहा–"आपके पास जो भी है, सब मुझे दे दीजिए!" मुनिराज मौन रहे, उन्होंने उंगली उठाकर संकेत किया और कहा–"धैर्य रखो। देखो, मेरे पास तो यह मोर पंख की पिच्छी और कमण्डलु मात्र है। डाकू ने हँसते हुए कहा–"आप झूठ बोलते हैं, आपके पास कुछ और भी होगा, कुछ रत्न तो जरूर होंगे, वरना आपके पास राजा-सेठ क्यों आते?

मुनिराज ने कहा–"मेरे पास ऐसा रत्न नहीं है जो आसानी से दिखाया जा सके। इस रत्न को प्राप्त करने की विधि कठिन है–यदि पूरी विधि अपना ली, तो अवश्य मिलेगा।' डाकू ने उत्सुकता से कहा–जल्दी से हमें वह विधि बताइए! मुनिराज ने कहा–विधि यह है कि पहले तुम यह सोचो कि तुम जो कुछ कर रहे हो, वह अच्छा है या बुरा। इस फल को भोगने वाले तुम स्वयं हो, कोई और नहीं। फिर मुनिराज ने कहा–"जाओ अपने सभी सगे-संबंधियों से पूछो कि जो तुम कर रहे हो, वह उचित है या नहीं। उनका उत्तर सुनकर फिर मैं दूसरी विधि बताऊँगा।" डाकू बोला–आप मुझे बातों में लगाकर भागना चाहते हो। डाकू अपने गिरोह की निगरानी में मुनिराज को पास के एक पेड़ से बाँधकर घर चला गया।

घर पहुँचकर उसने पिता, माता, पत्नी और पुत्र से पूछा–जो कुछ भी मैं कर रहा हूँ, वह सब अच्छा है या बुरा? पिता बोले–कौन नहीं जानता कि तुम गलत ही कर रहे हो। तुमने हमारे वंश-कुल का नाम डुबा दिया है। काश, तू जन्म लेते ही मर जाता तो आज ये अपमान न सहना पड़ता। कहते-कहते माता-पिता की आँखों में आँसू भर आए। पत्नी ने कहा–"यदि

विवाह से पहले ही मुझे पता होता, तो मैं तुम्हारे साथ कभी न आती।'' पुत्र ने भी कटु शब्द कहे–''तुम मेरे पिता न होते, तो अच्छा होता। स्कूल में कोई मेरे साथ बैठना नहीं चाहता, सब कहते हैं कि मैं डाकू का बेटा हूँ।'' डाकू बोला–पर यह सब तो मैं आपके लिए ही करता हूँ। क्या आप सब मेरे इन कर्मों के फल में साझेदार नहीं होंगे? वे बोले–हम क्यों होंगे? आप करोगे, आप भरोगे। हमें ऐसी धन सम्पति नहीं चाहिए। डाकू को गहरी ग्लानि हुई। वह सोचने लगा–''मेरे कर्मों के फल में ये सभी क्यों भागीदार हों? जो पाप मैंने किए, उनका दुष्फल भी मुझे ही भोगना चाहिए।

महानुभाव! आचार्यों ने कहा है–

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम्।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्था निर्दयां व्यसनावलीम्।। –(ज्ञानार्णव 2/89)

स्त्री–पुत्रादि जो भी इस प्राणी के सहायक होते हैं वे केवल उसके द्वारा उपार्जित धन के भोगने में ही सहायक होते हैं, परंतु उस धन के संचय में उसने जिस कर्म को उपार्जित किया है, उससे उत्पन्न हुए क्रूर दुःखों के समूह के भोगने में उसका कोई भी सहायक नहीं होता है।

यह जीव मोह के वश होकर चेतन, अचेतन पदार्थों के साथ अपनी एकता मानता है। ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ इस प्रकार की ममत्वबुद्धि रखकर उनको आत्मा से भिन्न नहीं समझता और स्वयं को उनसे बांधता है। उनके अधीन रहकर व्याकुल होता है। उस डाकू को अपने परिवार का यह रवैया देख समझ आ गया–

संयोगे विप्रयोगे च सम्भवे मरणेऽथवा।
सुखदुःखविधौ चास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः।।87।।

इस संसार में संयोग और वियोग में, जन्म और मरण में, सुख तथा दु:ख के विधानों में इस जीव का दूसरा कोई मित्र नहीं है, सहभागी नहीं है। अत: वह डाकू आँसू बहाता हुआ लौटकर पुन: वहीं मुनिराज के चरणों में जाकर गिर जाता है। उसने निश्चय किया कि अब से वह ऐसे कर्म नहीं करेगा जिनसे दूसरों को अपमान और दु:ख मिले। क्षमा करें मुनिवर, मुझे ज्ञात हो गया, अब मुझे पत्थर के रत्न नहीं चाहिए, "अब मुझे वह रत्न दीजिए जिसकी विधि आपने बताई थी।" मुझे तो आप अपनी जैसी दीक्षा दे दो। वह डाकू दीक्षा लेकर के आत्म कल्याण कर लेता है।

सत्य बात तो यही है कि कोई किसी के कर्म में साझा नहीं करता है। सभी अपने-अपने कर्मों का ही फल भोगते हैं। आचार्य महाराज यही समझाना चाह रहे हैं कि एक व्यक्ति ही कर्म करता है, उस कर्म का फल वह एक ही भोगता है। पुण्य किया है तो वह अकेला ही स्वर्ग में जाएगा, ऐसा नहीं कि ये इसके माता-पिता, भाई-बहिन हैं, इन्हें भी स्वर्ग मिल जाएगा। सभी को अपने-अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। कोई किसी दूसरे के कर्म का फल नहीं भोगता। यह जीवन कोई बस नहीं है, जिसमें आप स्वयं के साथ सभी को बिठाकर यात्रा कर लो। पर भव के लिए सबके वाहन अलग हैं। सबको अपनी-अपनी आत्मा के वाहन पर सवार होकर जाना पड़ता है। अपने कर्मों के अनुरूप टिकट मिलती है। जैसी जहाँ की टिकट, वैसी वहाँ की यात्रा अर्थात् जैसे कर्म वैसी गति।

महानुभाव! प्राणी पूर्वोपार्जित पुण्प के उदय से स्वर्ग की लक्ष्मी को वा पाप के उदय से प्राप्त दुर्गति रूप क्लेशों को स्वयं अकेला ही भोगता है। ज्ञान रूपी नेत्र के अभाव में उसे अपना यह निजरूप समझ नहीं आता इसीलिए कर्मों से ठग कर अकेला ही संसार में अनादि से परिभ्रमण कर रहा है। अत: आचार्य महोदय कह रहे हैं कि प्रतिसमय आत्मा को ऐसा विचार करना चाहिए-

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाण-दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा॥

मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है, वह ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली है। शेष जितने भी संयोग लक्षण वाले भाव हैं, वे मेरे से भिन्न हैं। इस आत्मा का स्वभाव मृण्मय नहीं चैतन्यमय है, वह चिन्मूर्ति अकेला है, उसके अतिरिक्त सभी जीवद्रव्य तथा पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सभी उससे पर हैं।

महानुभाव! इस एकत्व भावना का चिंतवन करने से तत्त्व बोध समुपलब्ध होता है, प्रतिकूलता में समता भाव जाग्रत होता है, अनुकूलता में अहंकार नहीं जगता, मौन के प्रति रुचि बढती है, एकाग्रता बढती है, पर पदार्थों से ममत्व भाव उत्पन्न नहीं होता, स्वभाव में रहने की प्रेरणा मिलती है और सबसे बड़ी बात कर्म निर्जरा में सहयोगी परमविशुद्ध ध्यान की सिद्धि होती है। अतः आत्मकल्याणार्थी जनों को सतत उस एकत्व भावना का चिंतवन करते हुए अपने परिणामों को वैराग्यमयी बनाना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

निश्चय ध्यान

ऊर्ध्वश्वास विनिर्मुक्त - मधः श्वास विवर्जितम्।
मध्यशून्यंपदंकृत्वा,नकिञ्चिदपिचिन्तयेत्।।38।।

अन्वयार्थ–(ऊर्ध्वश्वास) ऊर्ध्व श्वास से **(विनिर्मुक्तम्)** मुक्त **(अधः श्वास)** अधोश्वास से **(विवर्जितम्)** रहित **(मध्य)** मध्य **(पदं)** स्थान को **(शून्यं)** शून्य **(कृत्वा)** करके **(किञ्चित्)** कुछ **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(चिन्तयेत्)** सोचें।

अर्थ–ऊर्ध्वश्वास को ऊपर छोड़कर, अधोश्वास को नीचे रोककर तथा मध्य के पद को शून्य करके कुछ भी चिन्तन न करें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव स्वामी ने 'ज्ञानांकुश' नामक इस ग्रन्थ में चित्त पर ज्ञान के द्वारा अंकुश लगाने की बात को बड़े सहज शब्दों में प्रस्तुत किया है। आचार्य महोदय ने आध्यात्मिक पुट देते हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से मुक्त होने के लिए विभिन्न कारिकाएँ कहीं। पुनः संसार की अनित्यता, अन्यत्व एवं एकत्व भावना का स्वरूप प्रस्तुत किया। यह जीवात्मा चाहे किसी के भी निमित्त से पुण्य कार्य करे अथवा पाप कार्य, दोनों ही शुभ व अशुभभाव बंध के कारण हैं। शुद्ध भाव के माध्यम बंध किञ्चित् होता है, किन्तु उसमें कषाय की तीव्रता न होने पर अनुभाग-स्थिति कम होती है।

प्रकृतिबंध इतना हानिकारक नहीं होता। प्रदेशों का समूह कितना भी हो, उतना हानिकारक नहीं है। जैसे–सूखा ईंधन कितना भी इकट्ठा हो जाए, सूखी

लकड़ी के गट्ठर चाहे कितने भी बड़े-बड़े क्यों न हों, उन गट्ठरों को पेट्रोल या डीजल के कुंड में डाल दिया जाए, फिर भी जो व्यक्ति यह जानता है कि इन सूखे लकड़ी के गट्ठरों में एक अग्नि की चिंगारी डाल दूँ तो सब स्वाहा हो जाएगा। जिसे यह ज्ञान है, वह उससे कभी भयभीत नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि जिसके पास है और जिसे श्रद्धा है कि इसके माध्यम से सब ध्वस्त हो जाएगा, फिर उसे घबराने की आवश्यकता नहीं। कर्म रूपी सूखे ईंधन को तो वह कभी भी जला देगा, किन्तु इसके विपरीत जो अज्वलनशील पदार्थ हैं, जिनमें ज्वलनशीलता नहीं है, जो अग्नि से भी नहीं जलते, ऐसे कठिन बंधन को प्राप्त जीव, उसमें जकड़ा जीव कैसे मुक्त होगा? बड़ा कठिन है। ऐसे मजबूत बंधन, थोडे से ही क्यों न हों, उन्हें काटना बड़ा मुश्किल है।

यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि ज्ञान के माध्यम से चेतना के सभी बंधनों को ध्वस्त किया जा सकता है, आत्मा निर्बंध अवस्था को प्राप्त हो सकती है। जब यह ख्याल आ जाए कि मेरी आत्मा अनादिकाल से एक थी, एक है और एक अखण्ड रहेगी। मेरी आत्मा में अन्य किसी आत्मा का प्रवेश नहीं है। मेरी आत्मा में जो पर-भाव आया वह मेरा नहीं है, वह शाश्वत नहीं है, बदलता रहता है। पुद्गल कितनी भी स्थिति लेकर आए, कितना भी अनुभाग लेकर आए, समय आने पर निर्जीण हो जाता है पुनः दूसरा पुद्गल आ जाता है। परन्तु यह न मेरा था, न है, न होगा। जो अपनी आत्मा को भली-भाँति जान लेता है, उसे कोई भी कर्म अधिक समय तक बाँध नहीं सकता। जो आसन्नभव्यजीव हैं, जिन्हें आत्मा की अनुभूति होती है, जो तत्त्ववेत्ता हैं, जिन्हें कोई दुःखी नहीं कर सकता, जो अपने स्वभाव से पूर्णतः परिचित हैं, जिन्होंने स्वभाव को जाना है, पढ़ा है, सुना है, अनुभव किया है, वे कभी पुद्गल से घबराते नहीं। घबराता वही है जिसे उस पुद्गल से मुक्ति का उपाय मालूम नहीं है।

महानुभाव! रागद्वेष में सना हुआ जीव यदि रागद्वेष के बंधनों को तोड़ने में असमर्थ है तो किञ्चित् राग भी उसके लिए संसार संवर्द्धक है। और बहुत से राग में सना हुआ भी जीव, किन्तु क्षणार्द्ध में वीतराग दशा को प्राप्त करने में समर्थ है तो वे बंधन उसको दीर्घकाल तक संसार में ठहरा नहीं सकते। वह लीनता अत्यल्प समय के लिए होती है। सहजता से यह अवस्था नहीं आती, इसके लिए बार-बार, चिंतन, मनन और प्रयास करना पड़ता है।

जैसे कोई अंधा व्यक्ति बार-बार एक ही रास्ते से गुजरता है, तो वह उस मार्ग का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि पहली बार में जितनी ठोकरें लगी थीं, जितनी असुविधाएँ हुईं थी, वे अब अनुभव के कारण कम हो जाती हैं और वह सहजता से चल पड़ता है। शायद आँख खोलकर चलने वाला व्यक्ति ठोकर खा जाए, उसके कंकड़-पत्थर चुभ जाए किंतु वह इतना अभ्यस्त हो गया कि सहजता में चला जा रहा है। क्योंकि अब उसे चलने की आदत हो गई है। इसी प्रकार पहाड़ पर रहने वाले भील पानी लेने के लिए नीचे उतरते हैं। उनके बच्चे वहाँ खेलते-कूदते हैं, पत्थरों पर दौड़ते-भागते हैं, फिर भी थकान महसूस नहीं करते। यदि कभी चोट लग जाए तो तुरंत पास के पत्तों का रस लगाकर ठीक कर लेते हैं और फिर से तैयार हो जाते हैं। इसके विपरीत, जो व्यक्ति पहली बार उस मार्ग पर चलता है, वह चौथाई दूरी तय करते-करते ही इतना थक जाता है कि बेहोशी की नींद सो जाए। ऐसे ही जो साधक तत्त्ववेत्ता हैं, योगी हैं, मुनिराज हैं, ऋषिराज हैं वे निरंतर अपनी आत्मा की भावना में संलग्न हैं। जैसे ही आँख बंद करते हैं, तुरंत ही उन्हें अपनी आत्मा का अनुभव होने लगता है।

जैसे आपने किसी भगवान की मूर्ति को कई बार देखा हो और वह छवि आपकी आँखों में बस गई हो, तो चाहे आप आँख बंद करें या न करें, वह छवि आपके सामने सजीव रहती है। आप जिस व्यक्ति से अत्यधिक राग

करते हैं, उसका चेहरा आपकी आँखों में घूमता रहता है। संसारी प्राणी कई बार कहते सुने जाते हैं 'मैं उसके बिना नहीं रह सकता, मेरा मन बस उसी की छवि में रमा रहता है।' ऐसे विचार करते समय यदि वह व्यक्ति आपके सामने खड़ा हो और कुछ बोल रहा हो, तब भी मन उसी की छवि में उलझा रहता है। ऐसे ही योगी निरन्तर तत्त्वों के चिंतवन में डूबे रहते हैं। चाहे वे विहार कर रहे हों, आहार ग्रहण कर रहे हों, उपदेश दे रहे हों, लेखन कर रहे हों, स्वाध्याय कर रहे हों या प्रतिक्रमण कर रहे हों—हर स्थिति में उनका चित्त निज तत्त्व में अंकित रहता है। क्षणभर के लिए जब भी उपयोग गया, वह स्मृति तुरंत जाग्रत हो उठती है।

यह ठीक वैसा ही है जैसे कोई बालक बाहर देखकर आया कि छोटे-छोटे बालक खेल रहे हैं, झूल रहे हैं, दौड़ रहे हैं। यह सब देखकर बालक प्रसन्न होता है। किन्तु यदि शाम हो रही हो और माता-पिता उसे जबरन घर ले आएँ तो उसका मन घर में नहीं लगता। वह बार-बार यह सोचता है कि बाहर बच्चे क्या कर रहे होंगे। कभी वह छत पर जाकर देखने की कोशिश करता है कि सामने वाले मैदान में क्या चल रहा है। यदि माता-पिता छत से भी उतारकर ले आए तो वह नीचे कमरे की खिड़की खोल देता है। माँ ने वहाँ से भी हटा दिया, तो वह धीमे से माँ की नजरों से बचकर भागकर जाता है और खिड़की में से झाँककर भाग आता है।

इसी प्रकार योगी को भी जैसे ही क्षणभर का समय मिलता है, वह अपनी आत्मा में झाँक लेता है। जैसे पनिहारिन चर्चा करती आ रही हो और सिर पर 5-6 कलश भी रखे हों, साथ ही हाथ-पैर चलते जा रहे हों, किंतु उसके बावजूद भी सिर पर रखे कलश गिरते नहीं हैं। सर्कस दिखाने वाला व्यक्ति रस्सी पर चल रहा है, लोगों को देख रहा है, तालियाँ बज रही हैं, उसके बावजूद भी उसका उपयोग वहीं लगा हुआ है। ऐसे ही योगी अपने आत्म-स्वरूप में संलग्न रहता है।

वह योगी अपनी आत्मा की शुद्ध परिणति में संलग्न रहता है। बाहर तो उसे जाना पड़ता है, वह बाहर आना नहीं चाहता और यदि आ भी गया तो तुरंत मौका पाकर भीतर चला जाता है। जैसे कोई व्यक्ति कीमती वस्तु पास में रखकर रात में कहीं सो रहा हो, और वह वस्तु खुले में रखी हो, ताला नहीं लगा हो तो उसे बार-बार यही लगता है कि कोई राहगीर मेरे धन का हरण न कर ले जाए। उस व्यक्ति को यदि कुछ दूरी पर पानी पीने भी जाना है तो उसका मन बार-बार उसी वस्तु की ओर लौटता है। उसके पैर आगे बढ़ रहे हैं किन्तु दृष्टि बार-बार पीछे जाती रहती है। ऐसे ही योगी बार-बार आत्मा में लीन होता है। वह योगी चलते हुए भी चल नहीं रहा, खाते हुए भी खा नहीं रहा, सोता हुआ भी सो नहीं रहा, संसार की व्यवहारिक क्रियाएँ करते हुए भी बाहर में लीन नहीं है। कदाचित् मन-वचन-काय वहाँ जाता है तो शीघ्र ही उसे लौटा लाता है। वह अंदर से उसमें डूबता नहीं है।

आचार्य महोदय ध्यान को प्राप्त करने का उपाय बताते हुए अड़तीसवीं कारिका में कह रहे हैं-

'ऊर्ध्वश्वासं विनिर्मुक्तं' ऊपर की श्वास जिसे छोड़ना है, उसे छोड़ दिया, ऊर्ध्वश्वास से विनिर्मुक्त हो गए। 'अधोश्वांस विवर्जितम्' नीचे की श्वास के प्रति भी निकालने का अब कोई विकल्प नहीं, जहाँ है वहीं उसे रोक दिया। फिर 'मध्य शून्यं पदं कृत्वा' मध्य में शून्य अर्थात् विकल्पों को छोड़ दिया। आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानन्द जी मुनिराज बताते थे ''णमो अरिहंताणं'' पद का उच्चारण कर शान्ति से बैठ गए। आगे णमो सिद्धाणं पद बोलने का विकल्प नहीं आया। उतनी देर के लिए अरिहंतों की स्मृति आई और उस स्मृति में डूब गए। ''णमो सिद्धाणं'' पद बोलते ही णमो आइरियाणं पद बोलने का विकल्प नहीं आया और कुछ क्षणों के लिए सिद्धों की स्मृति में डूब गए। उतने में वह शून्य अवस्था आ गई, वहाँ किसी प्रकार का कोई विकल्प नहीं आ रहा। वह अवस्था निश्चय ध्यान की अवस्था बनती है।

‘मध्यशून्यं पदं कृत्वा’ मध्य अवस्था को प्राप्त करके योगी सहज में श्वांस लेता है। भोगी व्यक्ति की श्वसन क्रिया बहुत तीव्र होती है, यहाँ तक कि जब वह सोता है, तब भी उसकी श्वास तेज चलती रहती है। किन्तु योगी स्थिर होकर सहज बैठता है, श्वास सहज आ रही है, सहज जा रही है, उसे आभास तक नहीं हो रहा। वह योगी उन आती-जाती श्वासों को देख रहा है। सामान्य व्यक्तियों की श्वास कभी तेज होती है, कभी हृदय की धड़कन बढ़ जाती है या अन्य विकल्प आते हैं किन्तु योगी सहजता में ही स्थिर रहता है।

आगे कहा-‘न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’ मध्य में शून्य पद करके योगी को फिर कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिए। बस आत्मा में डूबकर के उसी का रसास्वादन करना चाहिए। शरीर की चेष्टा भी नहीं, अन्तर्जल्प भी नहीं और विचारों का विकल्प भी नहीं। यह प्रवृत्ति तभी बन पाती है जब योगी तत्त्व में स्थिर हो जाता है। आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी जी ने कहा-

स्थिरीभवन्ति चेतांसि, प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद् वृत्तं च निःशेषं, प्रत्यक्षामिवजायते॥ -(ज्ञानार्णव-26/54)

जो प्राणायाम का अवलम्बन करने वाले पुरुष हैं, उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं। चित्त स्थिर हो जाने से ज्ञान प्राप्त होता है, उससे जगत् के समस्त वृतान्त प्रत्यक्ष के समान हो जाते हैं।

महानुभाव! इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने निश्चय ध्यान की बात कही, क्योंकि अनादिकाल से अद्यावधिपर्यन्त अनन्तानन्त जीव मोक्ष गए हैं और आगे भी जाते रहेंगे। वे सब कर्मक्षपणार्थ ध्यान-तप का ही अवलम्बन लेते हैं। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने ‘नियमसार’ ग्रन्थ में लिखा-

अप्पसरूवालंबण, भावेण दु सव्वभाव-परिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं॥119॥

अर्थात् आत्मस्वरूप के अवलम्बन रूप भाव से यह जीव सम्पूर्ण परभावों का परिहार करने में समर्थ हो जाता है, इसीलिए ध्यान ही सर्वस्व है।

श्री गौतमस्वामी गणधर ने भी वृहद्प्रतिक्रमण में स्वयं को संबोधित करते हुए कहा–

जो सारो सव्वसारेसु, सो सारो एस गोयम।
सारं झाणं ति णामेण, सव्वं बुद्धेहिं देसिदं॥

जो सम्पूर्ण सारों में सार स्वरूप है, हे गौतम! वह सार ध्यान नाम से है, ऐसे सभी विज्ञजनों ने कहा है।

महानुभाव! अध्यात्म के बीज अंकुरित करने के लिए ध्यान ही उत्तम उर्वरा भूमि है, यह मन को सतत जागरूक रखता है। अतः ध्यान से ही ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। ध्यान आत्मबल की वृद्धि करने वाली महाऔषधि है। ध्यान से काय का ममत्व स्वयमेव उत्सर्जित हो जाता है। यह ध्यान मोक्ष रूपी महल की कुञ्जी है। क्योंकि इष्टानिष्ट पदार्थों में मोहादि को नष्ट करने से चित्त स्थिर होता है, उससे ध्यान होता है, ध्यान से मोक्ष तक की यात्रा सम्पन्न होती है। उस श्रेष्ठ ध्यान को प्राप्त करने का उपाय ही यहाँ आचार्य महोदय ने बताया है। उस परमध्यान की प्राप्ति हम सभी को हो, इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

परम तत्त्व का लक्षण

यावन्निवर्तते चिन्ता, तावत्पारं न गच्छति।
विद्यते हि परम् तत्त्वं, मनोऽपोहित कायवत्॥39॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक **(चिन्ता)** चिन्ता **(निवर्तते)** रहती है **(तावत्)** तब तक **(पारम्)** पार को **(न)** नहीं **(गच्छति)** जाता है। **(हि)** निश्चय से **(परम्)** परम **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(मनः)** मन से **(अपोहित)** रहित **(कायवत्)** काय के समान **(विद्यते)** रहता है।

अर्थ–जब तक चिन्ता रहती है तब तक यह जीव भव से पार नहीं हो सकता। निश्चय से परमतत्त्व मन से रहित काया के समान निश्चेष्ट रहता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आचार्य महादेय बता रहे हैं कि ध्यान की परम व चरम स्थिति तब बनती है जब वह योगी परमतत्त्व में स्थिर हो जाता है। तत्त्व अर्थात् स्वभाव। स्वभाव में स्थिरता निःसंदेह योगी के लिए मोक्षमार्ग की साधिका है। वह मोक्षमार्ग में चलने वाले योगी की गति को तीव्र करने वाली है। स्वभाव में लीनता स्वभाव को सुचिरकाल तक देने वाली है। विभाव में आसक्ति विभाव को सुचिरकाल तक देने वाली है। इसीलिए योगी जब स्वभाव में लीन होता है तब पर भावों का कर्त्ता–भोक्ता नहीं होता।

स्वभाव में लीनता तभी संभव है, जब पर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाए, अंतरंग के परिणाम पर में लीन न हों, परासक्ति भाव तिरोहित हो जाए और उसके अंदर स्वानुभव, स्वानुभूति, स्वोन्मुखदशा प्रकट हो जाए। स्वात्मा का रसास्वादन चिंता के त्यागने पर होता है। जब तक चित्त में पर के प्रति

किञ्चित भी चिन्ता विद्यमान है तब तक स्वभाव में लीनता नहीं बनती। चाहे वह चिंता शुभ रूप में हो या अशुभ रूप में। यद्यपि अशुभ रूप परिणाम को ही चिन्ता शब्द से कहा जाता है, शुभ रूप परिणाम को चिन्तन कहा जाता है।

जब-जब भी वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, मनन किया जाता है, विमर्श किया जाता है, तब-तब वह चिंतन बन जाता है। और जब-जब परपदार्थों का विपरीत श्रद्धान करके, स्वभाव से विपरीत धारणा बना करके और असंभव को संभव करने की चेष्टा करते हुए मन में जो एक गाँठ पड़ जाती है, वह चिन्ता कहलाती है।

महानुभाव! यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि मैं कभी मृत्यु को प्राप्त न होऊँ—ऐसा कोई उपाय करूँ—तो यह संभव नहीं है। कोई ऐसा साधन या उपाय नहीं है जो मृत्यु से बचा सके। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु नियामक है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि आकाश अमूर्त्त है और यह मूर्त बन जाए—तो यह संभव नहीं। कोई व्यक्ति सोचे कि यह पुद्‌गल मेरा स्वभाव कब बनेगा, इससे मुझे सुख-शान्ति कब मिलेगी और कौन सा पुद्‌गल में इकट्ठा करूँ जिससे मुझे सुख-शान्ति मिल जाएगी? तो यह भी संभव नहीं है। पुद्‌गल चेतना से विजातीय है। चिंताएँ तब उत्पन्न होती हैं जब व्यक्ति असंभव को संभव करने की कोशिश करता है। चिंताएँ तब होती हैं जब व्यक्ति एक ओर किसी बात को निश्चित मानता है और दूसरी ओर उसमें अनिश्चितता भी बनी रहती है। कैसे? प्रत्येक व्यक्ति को मालूम है कि मृत्यु सुनिश्चित है, और जो निश्चित है उसके बारे में चिंता करने की भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु अर्द्धपक्ष तो निश्चित हो गया, अभी अर्द्धपक्ष अनिश्चित है। अर्थात् ये नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु कब होगी, कहाँ होगी और किस प्रकार से होगी। हम और आप जानते हैं कि मृत्यु निश्चित होगी, उसे कोई टाल नहीं सकता किन्तु इस बात को नहीं जानते कि वह कब, कहाँ, और

किस प्रकार होगी। यही अनिश्चितता व्यक्ति के मन में चिंता उत्पन्न करती है। व्यक्ति जानता है—यह वस्तु नष्ट होगी, किन्तु कब, कैसे होगी, यह नहीं जानता। जब तक यह स्पष्ट न हो जाए कि मैं पहले नष्ट हो जाऊँगा या वस्तु पहले नष्ट हो जाएगी, तब तक मन अशान्त रहता है, चिंता बनी रहती है।

महानुभाव! चिंता तब और बढ़ती है जब व्यक्ति सोचता है कि मैं अल्प साधनों से, या बिना साधनों के भी साध्य की सिद्धि कर लूँगा। जब तक पर्याप्त साधन नहीं होते तब तक साध्य की सिद्धि नहीं होती। उपादान-निमित्त दोनों ही कारण अनिवार्य हैं। दोनों में से एक की कमी होने पर साध्य की सिद्धि नहीं दिखती। यथा—कोई सोचे तीन के अंक में हजार कर दूँ, तो यह हो नहीं सकता। व्यक्ति जानता है कि राग, द्वेष और मोह संसार के कारण हैं। व्यक्ति जानता है तृष्णा की खाई कभी कोई भर नहीं सकता। व्यक्ति जानता है लोभ तो पाप का बाप है और पाप दुःखों की खानि है। व्यक्ति जानता है ये कषाएँ ही कर्मों को बांधने की प्रधान हेतु हैं, जिनके माध्यम से अनुभाग-स्थितिबंध होता है। वह सब जानता है फिर भी यदि वह यह सोचे कि मुझे कषाय तो छोड़नी नहीं पड़े और धर्म का लाभ हो जाए, शरीर का सुख छोड़ना नहीं पड़े और मेरी आत्मा शुद्ध हो जाए, विषय-भोगों का परित्याग तो करूँ नहीं किन्तु योग साधना का फल मिल जाए, दान तो मैं एक पाई का भी न दूँ और दान के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो जाए, तो यह कैसे संभव है? संभव नहीं है। जैसे बीज के बिना वृक्ष नहीं होता, उसके पत्र, फल, पुष्प की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे ही कारण के बिना कार्य नहीं होता।

महानुभाव! 'चिन्ता' शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में चिन्ता का अर्थ विकल्प है, सूत्रकृतांग ग्रन्थानुसार चिन्ता अर्थात् पर्यालोचन है। मनोरोगों में कुविचारों को चिन्ता कहा है। स्मृति, धारणा, अध्यान या ध्यान के लिए भी चिंता कहते हैं। यहाँ चिंता का अर्थ विकल्प

से है। जब तक चिन्ता से निवृत्ति नहीं होती तब तक मन में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष कर्म को भेजा गया आमन्त्रण पत्र है, इससे महान् कर्मास्रव होता है। आस्रव बंध का तथा बंध संसार का कारण है। इसीलिए आचार्य महोदय यहाँ चिंता के दुष्परिणाम को बता रहे हैं।

आचार्य भगवन् ने यहाँ कहा-'यावन्निवर्तते चिन्ता' जब तक चित्त में चिंता विद्यमान है, तब तक चित्त स्वभाव को प्राप्त नहीं होता। जब तक जल में उष्णता विद्यमान है, तब तक जल पूर्ण स्वभाव को प्राप्त नहीं करता। जब तक जल में कीचड़ विद्यमान है, तब तक जल निर्मलता को प्राप्त नहीं करता। ऐसे ही जब तक चित्त में चिन्ता विद्यमान है, तब तक चित्त स्वस्थ नहीं रहता, अस्वस्थ रहता है। स्वस्थ का अर्थ होता है अपने में स्थिर-लीन हो जाना और अस्वस्थ का अर्थ है स्वयं में लीन न होकर पर में भ्रमण करना।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-जिस मन में, चाहे किसी भी प्रकार की, किसी भी विषय से जुड़ी चिंता है, वह मन चंचल ही रहेगा। चाहे वह चिन्ता पुत्र की हो या मित्र की, घर-परिवार की हो या पड़ोस की; चाहे वैभव-संपत्ति की हो या प्रिय मार्गों और दिशाओं में विचरण की-चिंता, चिंता ही है। कभी व्यक्ति को चिन्ता अपत्य (पुत्र) की होती है वह सोचता है कि मेरा पुत्र आज्ञाकारी हो, ज्ञानवान हो, सुंदर हो, प्रतिष्ठा को प्राप्त करने वाला हो, बहुत सारे वैभव से संयुक्त हो, मेरे नाम को दशों दिशाओं तक फैलाने वाला हो। कभी चिन्ता अर्द्धांगिनी की होती है। वह विचार करता है कि ऐसी पत्नी मिले जो मनोहारी हो, मृदुभाषी हो, मङ्गलगान करने वाली हो, अमृतोपमा भोजन बनाने वाली हो, इतना ही नहीं मेरे वंश की वृद्धि करने वाली हो और मेरी सर्व इंद्रियों को इष्ट हो-मधुर गान से मेरी कर्ण इंद्रिय को संतुष्ट करे, अपने शरीर की सुंदरता से मेरे नेत्रों को तृप्त करे, शरीर सुगंधित हो, उसके स्पर्श में आनन्द की अनुभूति हो। इस प्रकार वह अर्धांगिनी के लिए चिंतित रहता

है। तीसरी चिंता अर्थ के लिए होती है—यदि व्यक्ति निर्धन है तो चिंता—"धन कहाँ से आए, कैसे प्राप्त हो।" पहले अर्थ का आशय है धन और दूसरे अर्थ का आशय प्रयोजन से है अर्थात् उसका यथोचित उपयोग। और यदि धनवान है तो चिंता—"इस धन का प्रयोग किस प्रकार हो?" पुनः चिन्ता आरोग्य लाभ की भी हो सकती है। चिन्ता व्यक्तिगत दोषों की भी हो सकती है—जैसे, उसे चिंता हो सकती है कि मेरे कुल में ऐसा कोई कार्य न हो जाए जिससे मेरी अपकीर्ति हो, अपयश हो। कुछ लोगों को चिन्ता आत्मकल्याण की भी हो सकती है कि किस प्रकार मैं धर्म के प्रभाव को प्राप्त करूँ, मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो। अरे, कल्याण कैसे हो? कल्याण के मार्ग पर चलो तो कल्याण होगा। मार्ग पर चले बिना मंजिल की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस प्रकार वह विविध चिन्ताओं से ग्रस्त रह सकता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं—जब तक चिन्ताएँ चित्त में विद्यमान रहती हैं, **'तावत् पारं न गच्छति'** तब तक यह जीव संसार सागर के पार नहीं जा सकता। चिंता उस खूँटे के समान है जिसमें नाव बंधी हो। यदि गाँठ खोले बिना व्यक्ति नाव को खेता चला जाए, चाहे दिनभर खेवे चाहे रातभर खेवे—नाव कभी पार नहीं पहुँचती। वह केवल उसी किनारे पर हवा के झोंके से डगमगाती रहती है, हिलती रहती है, परंतु जाती कहीं नहीं है। ऐसे ही चिंता के स्तम्भ से बँधा हुआ संसारी प्राणी यावज्जीवन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करता है, किन्तु उसके पुरुषार्थ का फल उसी नाव की तरह स्थिर है, कहीं वृद्धि नहीं होती।

एक बार कुछ युवा नशे में धुत्त होकर संध्याकाल के समय नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ उन्होंने नदी में पड़ी नाव देखी और उसमें बैठकर आनन्द लेना प्रारंभ कर दिया। वे रातभर बिना रुके नाव खेते रहे। उन्हें लगा, 'हम बहुत दूर आ गए होंगे।' प्रातःकाल जब चारों ओर प्रकाश फैला उन्होंने पीछे

मुड़कर देखा तो उनकी स्त्रियाँ जल भरने के लिए प्रतिदिन की भाँति नदी किनारे आईं। युवकों ने हैरानी से पूछा–"तुम इतनी दूर यहाँ कैसे आ गईं?" स्त्रियाँ बोलीं–हम तो प्रतिदिन यहीं पानी भरने आती हैं। युवकों ने फिर पूछा–"अरे! आप तो वहाँ गाँव की नदी के किनारे जाती हो, फिर यहाँ कैसे आयीं। वे हँसकर बोलीं–"यह वही किनारा है, हम कहीं और नहीं आईं।" लगता है आपने नशे में धुत्त होकर रात भर नाव खेयी है। उन्होंने इधर-उधर दृष्टि डाली। आश्चर्य! वे तो अभी भी उसी स्थान पर थे, जहाँ से यात्रा आरंभ की थी। चकित होकर उन्होंने गहराई से देखा तो पाया कि नाव का एक सिरा किनारे पर गड़े हुए खूँटे से रस्सी द्वारा बँधा हुआ था। उनमें से एक ने कहा–"हम पूरी रात नाव खेते रहे, पर नाव आगे कैसे बढ़ती? जब तक यह रस्सी खूँटे से बँधी है, तब तक चाहे जितना प्रयास कर लो, यह एक इंच भी आगे नहीं जा सकती। महानुभाव! संसारी जीव की दशा भी ऐसी ही है। जीव चाहे रात-दिन कितना भी पुरुषार्थ कर ले, किन्तु जब तक मोह के खूँटे से बँधा हुआ है, जब तक मोह के खूँटे से बँधी हुई रस्सी नहीं खोलेगा, तब तक ये जीव संसार सागर को पार नहीं कर सकता।

आचार्य भगवन् पद्मनंदि स्वामीजी ने जीव और मन का परस्पर संवाद बताते हुए कहा–

भो चेतः, किमु जीव तिष्ठसि कथं चितास्थितं सा कुतो,
रागद्वेषवशाक्त्योः परिचयः कस्माच्च जातस्तव।
इष्टानिष्ट समागमादिति यदि स्वभ्रं तदावा गतौ,
नो चेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम्।।145।।

यह जीव मन से पूछता है कि रे मन, तू कैसे रहता है? मन उत्तर देता है कि मैं सदा चिंता में व्यग्र रहता हूँ। फिर जीव पूछता है, तुझे चिंता क्यों है? वह फिर उत्तर देता है कि मुझे राग-द्वेष के वश चिंता उत्पन्न हुई है। तो

फिर तुम्हारा परिचय राग-द्वेष से किस प्रकार हो गया? इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं के संसर्ग से मुझे राग-द्वेष हुआ। हे जीव! रे चित्त! यदि ऐसा है तो शीघ्र ही भली-बुरी वस्तुओं के संबंध को छोड़ो, नहीं तो हम दोनों को नरक में जाना पड़ेगा।

महानुभाव! ये जीव जब तक परभावों में रमण करता है, जब तब राग, द्वेष, मोह के द्वारा स्व को पर से बद्ध रखता है तब तक वह भव से पार नहीं हो सकता है। इसीलिए आचार्य महोदय ने कहा कि जिस समय विकल्प नष्ट होते हैं उसी समय परम पद की प्राप्ति होती है और जिसे उस परम तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है उस जीव की काया सम्पूर्ण हलन-चलनादि क्रियाओं से रहित हो जाती है। यह जीव सम्पूर्ण सांसारिक प्रपंचों से रहित हो जाता है अथवा यूँ कहें वह ध्यान-ध्याता के विकल्पों या सम्पूर्ण संकल्प- विकल्पों से रहित हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने कहा कि आत्मा का अनुभव तब होता है जब मन-वचन- काय की प्रवृत्तियाँ विराम को प्राप्त होती हैं। आचार्य महोदय का आशय ध्यान की आरे ले जाने का है। आप भी उस परमध्यान को प्राप्त करें, चिंताओं से मुक्ति पाएँ। जब तक चित्त में चिंताएँ रहती हैं तब तक संसार सागर पार नहीं होता वरन् संसार अपार ही दिखाई देता है। इस अपार संसार रूपी सागर को सुखाकर अनंतसुख को प्राप्त करने का परम पुरुषार्थ करना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

सच्चा योगी

अरिषड्वर्गमाश्रित्य, भूपोऽपि न च भूपतिः।
अरिषड्धर्ममाश्रित्य, योगो योगो न योगिनाम्।।40।।

अन्वयार्थ–(षड्वर्गम्) षड्वर्ग **(अरि)** शत्रु के **(आश्रित्य)** आश्रित **(भूपः)** राजा **(अपि)** भी **(भूपतिः)** राजा **(न)** नहीं है **(च)** और **(षड्धर्मम्)** षड्धर्म **(अरि)** शत्रु के **(आश्रित्य)** आश्रित **(योगः)** योग **(योगिनाम्)** योगियों का **(योगः)** योग **(न)** नहीं है।

अर्थ–जो राजा षड्वर्ग रिपुओं के आश्रित हो गया है, वह राजा राजा नहीं है। जो योग षड्धर्म रूपी शत्रुओं के आश्रित हुआ है, वह योगियों का योग नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देख रहे थे कि आचार्य महोदय ने किस प्रकार ध्यान की प्रेरणा दी है। जो भव्यजीव निश्चेष्ट, पाषाण की मूर्ति बनकर, मन का निरोध करके तत्त्व चिंतन में अपने मन को एकाग्र करता है, वही संसार-सागर से पार होने में समर्थ होता है।

आप सभी जानते हैं कि शत्रुओं से रहित जीवन निराकुल और निर्बाध होता है। निराकुलता ही हमारा लक्षण है। शुद्ध आत्मा निराकुल होती है। आप पढ़ते हैं–

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातें, शिवमग लाग्यो चहिये।

निराकुलता मोक्ष में है। आत्मा जब समस्त कर्मों से रहित हो जाता है, मुक्त हो जाता है तब यह आत्मा निराबाध, अक्षय, अनंत-सुख आदि गुणों को भोगने में समर्थ होता है। जब तक एक भी शत्रु शेष रहता है, तब तक जीवन निराकुल या निराबाध नहीं होता है। शत्रु हमारे गुण-स्वभाव-शील का विरोधी है। जो हमारी स्वतंत्र प्रवृत्ति में बाधा डालने वाला है, वह शत्रु है। चाहे शत्रु छोटा हो या बड़ा हो, जो शत्रु की उपेक्षा करता है वह आज नहीं तो कल शत्रु के द्वारा उपेक्षित या धराशाही कर दिया जाता है। इसलिए हमें शत्रुविहीन जीवन बनाना है।

बाहर के शत्रुओं को जीतने के लिए चाबुक, दण्ड, लाठी, तलवार, बाण, परशु या दिव्यबाण आदि का प्रयोग किया जाता है; किन्तु अंतरंग के शत्रुओं को जीतने की बात विरले पुरुष ही करते हैं। बाहर के शत्रु हमारा इतना अहित नहीं करते जितना अहित अंतरंग के शत्रु करते हैं। किसी राजा के राज्य को बाहर के शत्रुओं से बचाया जा सकता है। बाहर का शत्रु आक्रमण के लिए आए, तो राजा तुरंत युद्ध क्षेत्र में युद्ध करने पहुँच जाता है। किन्तु जो शत्रु मित्र का रूप लेकर अपने देश में ही पल रहे हों, अपने ही राजा को छल रहे हों, काले नाग की तरह से अंतरंग में पल रहे हों, ऐसे आस्तीन के सर्पवत् शत्रुओं से कैसे बचा जा सकता है। इसलिए आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि वह राजा राजा नहीं है जो शत्रुओं का सहारा लेता है। शत्रु के साथ में मिला हुआ मित्र भी शत्रु ही कहलाता है। चाहे हमारा कोई भी गुण हो वह यदि दोष के साथ मिला हुआ है तो वह भी त्याज्य है। निर्दोष गुण ही ग्राह्य होते हैं। जैसे विषमिश्रित दुग्ध पीने के योग्य नहीं होता, वह

त्याज्य होता है, वैसे ही अपने सुखी जीवन के लिए शत्रु से मिले मित्र का त्याग कर देना चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी के मुख्य श्रोता, महाराज श्रेणिक थे। उनका पुत्र बिम्बसार (कुणिक) जिसने पूरे भारत वर्ष को जीत लिया, जिससे उसका नाम विख्यात हुआ 'अजातशत्रु।' शत्रु विहीन पृथ्वी का उसने उपभोग किया था। इन बाहरी शत्रुओं को जीतना तो बड़ा आसान होता है, किन्तु अंतरंग के शत्रुओं को जीतना बड़ा कठिन होता है। राजा के अंतरग शत्रुओं से आशय मात्र वे नहीं जो देश में पल रहे हैं, देशद्रोही हैं अपितु राजा के स्वयं के अंतरंग शत्रु भी होते हैं। वे शत्रु कौन हैं? तो नीतिकारों ने लिखा है कि राजा के छह अंतरंग शत्रु होते हैं। वे छह शत्रु हैं—काम, क्रोध, मद, लोभ, मान, हर्ष। इसके जाल में फँसा राजा राजा नहीं गुलाम है, परतंत्र है, पराधीन है। जो राजा इन छह के वश में नहीं होता है, वह राजा निर्भीक होता है। वह निष्कंटक एवं निर्बाध अपने राज्य का संचालन करता है।

राजा का पहला शत्रु **'काम'** है। काम से आशय है राजा अपनी कामनाओं को अपने नियंत्रण में रखे। जो कामनाएँ दमित नहीं की जा सकतीं, जिन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता ऐसी कामनाएँ मृत्यु का कारण बन जाती हैं। इन कामनाओं के कारण मनुष्य दर-दर का भिखारी बन जाता है, दास बन जाता है। कामासक्त राजा सत्यंधर के विषय में आपने सुना होगा, जो रानी विजया में आसक्त थे। इसी कारण वे अपने राज-पाठ पर भी ध्यान नहीं दे पाते थे। उनकी इसी कमजोरी का लाभ उठाकर काष्ठांगार मंत्री ने समस्त मंत्री, सेनापति आदि को अपने साथ मिलाकर राजा पर ही आक्रमण कर दिया, जिसमें राजा सत्यंधर मारे गए। विजया रानी ने शमशान में जीवंधर नामक पुत्र को जन्म दिया।

जो राजा सिंहासन पर आसीन होने के बावजूद भी अपने चित्त को काम-वासना से नहीं रोक सकता, तो वह राजा आज नहीं तो कल पराधीन हो जाएगा। उस राजा का राज्य छिन जाएगा। ऐसा राजा बंधन, कारागार या मृत्यु तक का भागी बन सकता है।

राजा का दूसरा अंतरंग शत्रु है **'क्रोध'**। क्रोध क्षणिक पागलपन है। राजा यदि क्रोध के वश में हो गया तो वह अपने विवेक को खोकर ऐसे निर्णय कर सकता है जिन पर जीवनभर पछताना पड़े। क्रोधवश दिया गया दंड, न्याय नहीं बल्कि अन्याय बन जाता है, और क्षमा का दिव्य गुण नष्ट हो जाता है। राजा की वास्तविक शोभा क्षमा से है।

राजा का तीसरा अंतरंग शत्रु है, **'मद'** अर्थात् अहंकार। राजा के पास चाहे सोने-चाँदी के महल हों, विशाल सेना हो, यश-प्रतिष्ठा हो-यदि विवेक का दीपक बुझ गया, तो ये सब अहंकार की धूल में ढक जाते हैं। मद में चूर व्यक्ति सत्य को देख नहीं पाता। यदि राजा मद में चूर रहेगा तो वह आवेश में आकर किसी का भी तिरस्कार कर सकता है और तिरस्कृत हुआ छोटा सा व्यक्ति, छोटा सा सैनिक भी राजा के विनाश में निमित्त बन सकता है।

यदि कुपित हुई चींटी अपने समूह को एक साथ लेकर आए तो हाथी तक के प्राण ले सकती हैं। यदि किसी सर्प के शरीर में कंटकादि मार्ग से निकलने के कारण छेद हो गया हो, उसमें यदि चींटी लग जाए तो काले भुजंग के भी प्राण ले सकती है। इसलिए राजा को अहंकार युक्त नहीं होना चाहिए। अहंकारी राजा सम्मान करना नहीं जानता; वह अपमान करता है। जो उसकी चापलूसी करता है, उसे अच्छा कहता है; वह राजा का प्रिय बन जाता है। जो सत्य बोलता है वो राजी का कोपभाजक बन जाता है। अतः मद ही राजा का अंतरंग शत्रु है; जो विवेक को निगल जाता है।

राजा का चतुर्थ अंतरंग शत्रु है **'लोभ'**। लोभी राजा सत्य से विमुख हो जाता है। लोभ में अंधा राजा न्याय, नीति को नहीं समझता। लोभ के वश होकर वह किसी भी अनैतिक बात को स्वीकार कर सकता है। लोभ के अधीन होकर वह उचित-अनुचित का भेद खो बैठता है। इसलिए राजा को लोभी नहीं होना चाहिए। लोभ पाप का बाप है। लोभ का गर्त कभी भरता नहीं है। लोभ वह अगाध खाई है, जिसे कभी भरा नहीं जा सकता। लोभ वह पिपासा है, जो जितनी अधिक तृप्त की जाए उतनी ही तीव्र होती जाती है।

राजा का अगला अंतरंग शत्रु कहा **'मान'**, मान-सम्मान के मोह में जीने वाला राजा शीघ्र ही अपमान का पात्र हो जाता है। मान की लालसा रखने वाला व्यक्ति, भले ही अच्छा कार्य करे, परन्तु उसका उद्देश्य केवल सम्मान पाना होता है। ऐसा राजा यदि मान न मिले, तो खिन्न होकर अपने मार्ग से विचलित हो सकता है। उसके लिए मान-सम्मान ही जीवन का सर्वस्व होता है। यह मान उसे सत्य से, न्याय से और नीति से भटका देता है, यहाँ तक कि वह गलत को भी सही ठहरा देता है। अतः इस मान रूपी शत्रु की पहचान कर राजा को उसे छोड़ देना चाहिए।

राजा का अंतिम शत्रु है **'हर्ष'**। राजा का जीवन संयमित होना चाहिए। जब नदी दो तटों के बीच संयमित होकर बहती है, तब गन्तव्य तक जा पाती है, तभी वह सृजक होती है, वृद्धि-संवृद्धि करने वाली होती है। ऐसे ही राजा भी दीनता के और हर्ष के भावों से रहित हो। हर्ष में आकर कुछ भी लुटाता जाए, तो ऐसा राजा तो दुःख का पात्र होता है। क्योंकि हर्षातिरेक में बुद्धि काम नहीं करती, बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसलिए राजा को अपने हर्ष भाव पर भी नियंत्रण करना चाहिए।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने यहाँ स्पष्ट किया है जब तक साधक अपने भीतर के षट्शत्रुओं को परास्त नहीं कर लेता, तब तक योग की वास्तविक साधना सम्भव नहीं है। योगी कामेन्द्रिय पर नियंत्रण करे। यदि योगी कामना का शिकार बन गया, कामनाओं के दलदल में फँस गया तो वह योगी कभी अपने चित्त को निर्मल नहीं कर सकता इसलिए योगी को कामरूपी शत्रु को पराजित करना ही चाहिए। कामशत्रु को पराजित किए बिना योगी का योग के क्षेत्र में प्रवेश असंभव है। आचार्य आगे कहते हैं–क्रोध भी योगी का महाशत्रु है। क्रोध वह अग्नि है जो क्षणभर में ही साधक के सभी संचित पुण्य और गुणों को भस्म कर देती है। क्रोधावेश में आकर योगी का मन अशांत हो जाता है, और अशांत मन कभी भी आत्मकल्याण की दिशा में स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए योगी के लिए कहा गया है–'क्षमामूर्ति बनो'। जिसके पास क्षमा है उसे साधना करने की आवश्यकता ही क्या? और जिसके हृदय में क्रोध है उसके लिए कितनी ही साधना क्यों न की जाए, वह क्षणभर में नष्ट हो जाएगी। क्रोधावेश में सर्व गुण नष्ट हो जाते हैं। जिसके पास ऐसी अदम्य क्षमता हो कि इन्द्र का प्रकोप भी विचलित न कर सके, किसी देव का उपसर्ग भी डिगा न सके, ऐसा क्षमामूर्ति स्वयं में ही साधक होता है।

महानुभाव! आगे आचार्यों ने कहा है कि वह योगी मद से भी रहित हो। तप का मद, ज्ञान का मद, पूजा-प्रतिष्ठा आदि का मद योगी में नहीं होना चाहिए। योगी तो बड़ा सहज-सरल विनम्र होता है। आप पढ़ते हैं पूजन में–

'मुनि मन सम उज्ज्वल नीर'

नीर कैसा हो? मुनियों के मन की तरह उज्ज्वल और निर्मल हो। ऐसा तरल और सरल मन योगी का होना चाहिए। आगे कहा–वह योगी लोभ से भी रहित हो। जब सब कुछ परित्याग कर योगी बन गए तो किसी भी वस्तु

का लोभ क्यों करना? **'निरवांछ तपे शिव पद निहार'।** योगी मात्सर्यभाव से भी रहित होता है। वह किसी से ईर्ष्या नहीं करता अपितु सबकी साधना की वृद्धि की कामना करता है। और योगी के मन में किसी भी पर वस्तु के प्रति मोह नहीं होता। वह तत्त्ववेत्ता होता है। इसलिए योगी कभी पर को अपनी आत्मा का स्वरूप नहीं कहता, योगी आत्मा को ही आत्मा मानता है। अनात्मा को आत्मा मान लेना ही मोह है, किन्तु योगी निर्मोही बनकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने बताया कि एक राजा को भी इन छह शत्रुओं से रहित होना चाहिए, और योगी को भी इन छह शत्रुओं से रहित होना चाहिए, तभी वे अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, योग साधना में प्रवेश पा सकते हैं। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान के भेद

आर्त्तरौद्रं परित्यज्य, धर्म शुक्लं समाचरेत्।
ताभ्यां परतरं नास्ति, परमात्म प्रभाषितम्।।41।।

अन्वयार्थ–(आर्त्तरौद्रं) आर्त्त और रौद्रध्यान को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(धर्मशुक्लम्)** धर्म और शुक्लध्यान का **(समाचरेत्)** आचरण करें **(ताभ्याम्)** उन दोनों से **(परतरम्)** श्रेष्ठ (ध्यान) **(नास्ति)** नहीं है ऐसा **(परमात्म)** परमात्मा ने **(प्रभाषितम्)** कहा है।

अर्थ–आर्त्त और रौद्र इन दो दुर्ध्यानों को छोड़कर धर्म और शुक्लध्यान का आचरण करें। उन दोनों ध्यान से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, ऐसा परमात्मा ने कहा है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्र देव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आचार्य महोदय ध्यान के भेद बताते हुए कह रहे हैं–

ध्यान दो प्रकार का होता है–अशुभ ध्यान और शुभ ध्यान। अशुभ ध्यान अशुभफल को देने वाला होता है, शुभ ध्यान शुभ फल को देने वाला होता है। अशुभ ध्यान अनादिकाल से संसारी प्राणी के जीवन में लगा हुआ है, क्योंकि पूर्व संस्कारवशात् उस अशुभध्यान के लिए कोई प्रयास, पुरुषार्थ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु संसार का विच्छेद करने के लिए शुभध्यान को यत्नपूर्वक, पुरुषार्थपूर्वक सम्पन्न करना होता है। चित्त को शुभ में लगाना पुरुषार्थगम्य है, सहज गम्य नहीं है। जैसे जल को ऊपर ले जाना हो तो व्यक्ति बाल्टी में भरकर ऊपर ले जाता है या मोटर चालू कर दी तो पाइप

लाइन से पानी ऊपर चला जाता है, किन्तु नीचे पानी लाना हो, तो छत से यूँ ही पानी डाल दो, नाली से नीचे आ जाएगा। इसके लिए अधिक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही आर्त्त-रौद्रध्यान संसारी प्राणी का पतन करने वाले हैं, इसे संसार में गिराने वाले हैं इसलिए सहज में ही आ जाते हैं, किन्तु धर्मध्यान-शुक्लध्यान इस आत्मा को कर्मों से मुक्त करके सिद्धालय तक ले जाने वाले हैं। ये ध्यान जिसने भी प्राप्त किए थे, आज जो भी प्राप्त कर रहे हैं, आगे जो भी प्राप्त करेंगे, वह सब उनके पुरुषार्थ का फल होगा। बिना पुरुषार्थ के कार्य की सिद्धि नहीं होती।

राजवार्तिक में आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी ने कहा-

ऋतमर्दनमर्तिवा तत्र भवमार्त्तम्।

ऋतं दु:खमथवा अर्दन मर्तिर्वा तत्र भवमार्त्तम्।।9/28

अर्थात् ऋत, दु:ख, अर्दन को अर्ति कहते हैं, अर्ति से होने वाले ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं। यह आर्त्तध्यान पाप प्रयोगाधिष्ठान, नाना संकल्पों से युक्त, विषय-तृष्णा से व्याप्त, कषाय-स्थानों से युक्त, अशान्तिवर्धक तथा अज्ञानमूलक होने के कारण प्रमुख रूप से तिर्यंचगति का कारण है।

आर्त्त शब्द से आशय संक्लेशात्मक रूप में उत्पन्न परिणाम हैं। संक्लेशता तब बनती है जब व्यक्ति चाह कुछ और रहा हो और मिल कुछ और रहा हो। जो चाह रहा है वहीं मिल जाए तो संक्लेशता न बने और जो मिल रहा है उसे चाहने लगे तो भी संक्लेशता न बने। किन्तु व्यक्ति जो चाह रहा है वह मिल नहीं रहा और जो मिल रहा है उसे चाह नहीं रहा तो नियम के संक्लेशता बनती है। जो मिला है उसे नहीं चाहना इसके दो भेद और जो नहीं मिला है उसकी इच्छा करना इसके दो भेद। ऐसे आर्त्तध्यान के चार भेद हो गए।

1. **इष्ट वियोग**–प्रिय वस्तु या स्थिति से वियोग।

2. **अनिष्ट संयोग**–अप्रिय या अनचाहे के साथ संयोग।

3. **पीड़ा चिन्ता**–मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट की चिन्ता।

4. **निदान बन्ध**–भविष्य में सुख देने वाली वस्तु के लिए आसक्ति और उसके बंधन की कल्पना।

''**इष्ट वियोग**''–इस जीव को जो व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ अच्छा लगता है, वह उसके संयोग में सुख की कल्पना-धारणा बनाकर बैठ जाता है। उससे आनन्द मानता है। उसका कार्यकाल पूरा हुआ तो व्यक्ति भी छोड़कर चला गया और वस्तु भी नष्ट हो गई। जब वे नष्ट हो गए, तो इष्ट का वियोग हो गया। वह नहीं चाहता था कि उसका वियोग हो, फिर भी वह घटित हो गया तो बन गया संक्लेश परिणाम। यही संक्लेश परिणाम कहलाता है 'इष्ट वियोग' नामक आर्त्तध्यान।

फिर कहा ''**अनिष्ट संयोग**''–जिसे नहीं चाहता था वह आ गया। व्यक्ति हो या वस्तु जिसको देखने मात्र से उसकी संक्लेशता बनती है, परिणाम खराब होते हैं, फिर भी वही उसे मिल गया। बुन्देलखण्ड में एक कहावत है–

'**जिस जेठ से न्यारी हुई, वही जेठ हिस्सा में आया।**' एक संयुक्त परिवार था। उसमें एक महिला अपने जेठ से बड़ी परेशान थी। वह बार-बार कहती ''मुझे अलग कर दो, मैं अलग रहूँगी।'' जब वह महिला अलग हुई उस समय तक वह जेठ कुंवारा था। अब समस्या ये कि उसे रोटी बनाकर कौन खिलाए, तो उसके हिस्से में वो ही जेठ कर दिया, कि तुम इसे रोटी बनाकर खिलाओ। तो ऐसे ही, जो नहीं चाहते हैं यदि वो ही मिल जाए, तब बनता है 'अनिष्ट संयोग' नामक आर्त्तध्यान।

जिस व्यक्ति वस्तु को देखकर विकल्प होता था, हिस्सा बांट करने पर जब वही वस्तु हिस्से में आ जाए, चाहे वह वस्तु मकान हो या दुकान जिसका वास्तु खराब था, जो मुझे नहीं चाहिए था वही मिल गया। मैं रहना नहीं चाहता था, जिसकी कांकड़ी मुझे सूट नहीं करती थी वहीं रहना पड़ जाए, तो बँटवारे में उसी-उसी वस्तु का मिल जाना जिसको अशुभ मान रखा था अथवा जो हमें इष्ट नहीं था, अनिष्ट संयोग नामक आर्त्तध्यान का कारण है।

तीसरा आर्त्तध्यान का भेद है **''पीड़ा चिंतन''**-शरीर में कष्ट हो और सामने अच्छे-अच्छे व्यंजन रखे हों, तब भी उस कष्ट के कारण व्यंजनों का आनन्द नहीं लिया जा सकता। शरीर यदि किसी रोग से पीड़ित हो और डॉक्टर ने कुछ व्यंजनों का सेवन वर्जित कर दिया हो, मना कर दिया ये नहीं खा सकते, अगर खाओगे तो समझो मृत्यु तुम्हारी मुट्ठी में ही बंद है। जीना है तो यह सब छोड़ो, तब व्यक्ति चाहकर भी उन पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता।

डॉक्टर साहब ने मीठा छुड़वा दिया, शुगर न बढ़ जाए, बी.पी. बढ़ा था तो नमक छुड़वा दिया। कोलेस्ट्रॉल बढ़ा रहता है तो चिकनाई छुड़वा दी और हड्डियों में अगर कैल्शियम जमता जा रहा है, तो पनीर, दूध, दही भी छुड़वा दिया। अब, घर में सब कुछ है किन्तु कुछ खा नहीं सकते। क्या करें? क्या बचा खाने के लिए? पतली सी रोटी, मूंग की दाल; वह भी पूरी नहीं, उसके पानी में डुबो कर खाओ, खिचड़ी भी खओ तो थोड़ी सी। जो मेहनत कर-करके धन कमाया था, जिसके लिए बेईमानी की, चोरी की, झूठ बोला, उसे मैं तो भोग नहीं पा रहा, नौकर-चाकर उड़ा रहे हैं, रिश्ते-नातेदार मौज-मस्ती कर रहे हैं। वे दिखा-दिखाकर, चिढ़ा-चिढ़ाकर खा रहे हैं। यह सब देखकर संक्लेशता बनती है। एक बार को शरीर की पीड़ा तो सहन भी कर लें, किन्तु जब शरीर रोगों से भरा हो और घर में रिश्तेदार ठहाका मारकर हँस रहे हों तो इससे अधिक क्लेश भाव बनता है।

चौथा आर्त्तध्यान है **'निदान'** भविष्य में यथेष्ट भोगों की प्राप्ति हो, इसके लिए चिंतन करना। मैं ऐसी तपस्या कर रहा हूँ, इतना पुण्य संचय कर रहा हूँ, इसके बदले मुझे अमुक भोग, अमुक पदों की प्राप्ति हो जाए–यह भी आर्त्तध्यान है। जब मन वर्तमान से हटकर भविष्य के भोग और पद की कल्पनाओं में रम जाए, तो यह निदान नामक आर्त्तध्यान कहलाता है।

इस प्रकार ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान हैं। इन आर्त्तध्यानों में यदि आयु का बंध होता है तो वह तिर्यंचायु का बंध होता है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों में इसके बहुत उदाहरण हैं। यदि आपने श्री जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित आदिपुराण का स्वाध्याय किया हो तो उसमें आदिनाथ भगवान के पूर्वभव में, जब वे महाबल की पर्याय में थे, तब उनके पिताजी थे शतबल और उनके भी पिताजी थे सहस्रबल। उसी कुल में एक राजा दण्ड हुआ, जो आर्त्तध्यानी था। एक राजा अरविन्द हुआ जो रौद्रध्यानी हुआ। राजा शतबल धर्मध्यानी और राजा सहस्रबल शुक्लध्यानी हुए। ऐसा बड़ा अच्छा उदाहरण आदिपुराण में दिया है।

आर्त्तध्यानी राजा दण्डक बड़ा दुःखी रहता था। एक दिन वह मुनिमहाराज के समीप गया और विनम्रता से उनसे पूछा–''महाराज, मेरी आयु कितनी शेष रह गई है।'' मुनि महाराज ने उत्तर दिया–''बहुत अल्प आयु शेष है।'' पुनः पूछा–महाराज, आप तो अवधिज्ञानी हैं, कृपा कर यह भी बता दें कि मैं मृत्यु के पश्चात् क्या बनूँगा। महाराज ने कहा–तुम मरकर अजगर बनोगे। राजा यह सुनकर स्तब्ध रह गया। कालांतर में वह राजा मृत्यु को प्राप्त होकर अजगर बन गया। जब उस अजगर (सर्प) के पास उसका बेटा (जो उस समय राजगद्दी पर था) मणिमाल जाता था, तब तो वह सर्प कुछ नहीं कहता था, किन्तु अन्य लोग जाते थे तो वह सर्प फुंकार मारकर उन्हें डराने और काटने के लिए दौड़ पड़ता।

एक दिन मणिमाल ने मुनिराज से यह रहस्य पूछा– ''महाराज! ऐसा क्यों है कि जब मैं वहाँ जाता हूँ, तो वह सर्प शांत रहता है, और जब कोई और दूसरा जाता है तो उन्हें काटने दौड़ता है? मुनिमहाराज ने बताया–वह अजगर और कोई नहीं, तुम्हारे पिता का जीव है। उसने जीवनभर अपने धन के प्रति इतनी आसक्ति रखी थी कि धन की हानि का विचार मात्र भी उसे व्याकुल कर देता था। यहाँ तक कि रोग होने पर भी वह यही सोचकर आर्त्तध्यान करता रहा कि कहीं मेरा धन नष्ट न हो जाए। यही कारण है कि मृत्यु के पश्चात् वह तिर्यंचायु का बंध कर अजगर हुआ है। आर्त्तध्यान करने वाला नि:संदेह दुर्गति को प्राप्त करता है।

महानुभाव! इसीलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं 'आर्त्तरौद्र परित्यज्य'। आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग करो। रौद्रध्यान क्या है? जिस ध्यान में अत्यन्त क्रूर परिणाम होते हैं उस ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आचार्य भगवन् शुभचन्द्र स्वामी जी ने कहा–

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी, रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।
रुद्रस्य खलु भावो वा, रौद्र मित्यभिधीयते॥1124॥

रुद्र अर्थात् दुष्ट अभिप्राय वाला प्राणी। उस रुद्र की जो क्रिया है, उसे रौद्र कहा गया है अथवा उस रुद्र प्राणी का जो भाव है उसे रौद्र कहते हैं। ऐसे प्राणी की हिंसा करने में कुशलता, पापोपदेश में प्रवीणता, नास्तिकमत के प्रतिपादन में चतुरता, प्रतिदिन प्राणीघात में अनुराग, दुष्टजनों के साथ सहवास तथा निरंतर स्वाभाविक दुष्टता चित्त में रहती है। यह रौद्रध्यान भी नियम से दुर्गति और संसार परिभ्रमण का कारण है।

आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी ने कहा–

''एवमुक्त्वा प्रशस्तध्यानपरिणतात्मा तप्तायस्पिण्ड इवोदकं कर्मादत्ते।''

–(राजवार्तिक-9/34/4)

जैसे अग्नि से संतप्त लोहपिण्ड चारों ओर से जल को खींचता है, उसी प्रकार इन आर्त्त-रौद्र अप्रशस्त ध्यानों में परिणत आत्मा चारों ओर से कर्म रूपी जल खींचता है अर्थात् कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है। और ये पाप कर्म ही इस चतुर्गति रूप 84 लाख योनियों के परिभ्रमण का कारण है। यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं–

'रुद्र भावं इति रौद्रः।' रौद्र रूप, भयंकर परिणाम, कुपितजन्य परिणाम। किन्तु उन रौद्र रूप परिणाम में उसे कुटिलतापूर्वक आनन्द आ रहा है। पुद्गल में आनन्द मान रहा है, दूसरों को दुःख देकर आनंद ले रहा है, हिंसा करके आनन्द ले रहा है, चोरी करके आनन्द ले रहा है, झूठ बोलकर आनन्द ले रहा, परिग्रह का संचय करके आनन्द ले रहा है। धर्मध्यान का आनन्द नहीं ले रहा। चेतना के गुणों का आनन्द नहीं ले रहा अपितु पुद्गल के गुणों का आनन्द ले रहा है।

उस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं। **1. हिंसानन्दी रौद्रध्यान**–हिंसा करते हुए आनन्द लेना। किसी को सताकर, मुर्गों को लड़ाकर, भैंसों को लड़ाकर अथवा तोते, बंदर आदि को लड़ाकर आनन्द मनाना। किसी वृद्ध पुरुष को सता रहे हैं, उनकी लाठी छिपा दी, चश्मा छिपा दिया, इससे वृद्ध परेशान हो रहा है और तुम स्वयं आनन्द ले रहे हो, ये सब हिंसानन्दी रौद्रध्यान के अन्तर्गत आता है। **2. 'मृषानन्दी रौद्रध्यान'**–झूठ बोलकर आनन्द लेना। किसी ने पूछा–क्या अमुक गाँव का रास्ता यहीं से जाता है? उसे गलत रास्ता दिखा दिया, वह बेचारा परेशान हो गया और आप झूठ बोलकर हँस रहे हो, उसे परेशान देखकर आनंद ले रहे हो। ऐसा आनंद भी पाप का कारण है। **3. 'चौर्यानन्दी रौद्रध्यान'**–चोरी करके आनंद मानना। किसी की कोई मूल्यवान वस्तु चोरी कर ली और जब कोई पकड़ नहीं पाया तो आनन्द मना रहा है।

भीतर ही भीतर गर्व और आनंद का अनुभव कर रहा है कि 'देखो कोई मेरी चालाकी पकड़ नहीं पाया।' यह भी अशुभ ध्यान है। **4. 'परिग्रह संरक्षणा-नंदी रौद्रध्यान'**–परिग्रह का संचय करने वाला, उसमें आसक्त रहने वाला रौद्रध्यानी व्यक्ति भी नरकादि दुर्गति को बाँधने वाला होता है।

महानुभाव! आर्त्तध्यानी राजा दण्डक सर्प की पर्याय को प्राप्त हुआ। रौद्रध्यान करने वाला राजा अरविन्द, जो हिंसा में आनन्द मानता था, मिथ्याभाषी, विषयों का लोलुपी था वह नरकगति को प्राप्त हुआ। पापकर्म के उदय से उस राजा अरविन्द के शरीर में दाह पैदा हो गई। उसने अपने पुत्र से कहा बेटा-मेरे लिए शीतल पदार्थ मंगाओ, कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाला पानांग आदि मँगाओ, जिससे मुझे शान्ति मिलेगी। उसके पुत्र ने अपनी विद्याओं को भेजा किंतु विद्याएँ वहाँ तक नहीं पहुँची। लौटकर वापस आ गईं। उसने पिता से कहा-पिता जी, विद्याएँ तो असफल रहीं। पिता ने कहा–मुझसे दाह सहन नहीं हो रही, जो कुछ उपाय बने वह करो। पुत्र ने चंदन का लेप तैयार करवाकर उनके शरीर पर लगवाया, पर राजा अरविन्द को उससे भी शान्ति नहीं मिली।

एक दिन राजा अरविन्द अपनी सभा में विराजमान था। अचानक उसकी दृष्टि ऊपर की ओर गई। वहाँ दो छिपकली आपस में लड़ रही थी और लड़ते हुए एक छिपकली घायल हो गई। उस छिपकली के रक्त की एक बूँद राजा के ऊपर गिरी। रक्त गिरने से उसने यह धारणा मन में बना ली कि इस रक्त की बूँद से मेरी दाह में थोड़ी सी शान्ति मिली है। वह राजा रौद्रध्यानी तो था ही, खोटे कार्यों को करने वाला था। कृष्ण, नील, कापोतलेश्या से युक्त था। उसने अपने पुत्र को आदेश दिया–बेटा, मेरा यह दाह ज्वर रक्त से ही शांत होगा अतः तुम एक काम करो, छोटे-छोटे बच्चों को घानी में पिलवाकर उनका रक्त इस वापिका में भर दो, मैं उसमें अवगाहन करूँगा तो

मुझे शान्ति मिलेगी। वह रक्त चाहे मूक पशुओं का हो या मनुष्यों का, यदि मैं उस रक्त से नहा लूँगा तो मेरा ज्वर शांत हो जाएगा।

बेटा धर्मात्मा था। इतनी हिंसा करना तो दूर की बात, वह तो इसे सुन भी नहीं सकता था। बेटा विचार करता है—मैं क्या करूँ, पिताजी को कैसे समझाऊँ, लगता है उन्होंने खोटी आयु का बंध कर लिया है। फिर भी पिता की मनः स्थिति समझकर उनके स्वस्थता के लिए उसने एक वापिका में लाख का पानी भरवा दिया। वह पानी पूरा लाल ही लाल हो गया। और पिताजी से कहा—पिताजी, ये आपकी खून की वापिका तैयार है। राजा अरविन्द ने उसमें अवगाहन किया और बड़ा आनन्द लेने लगा, किन्तु उसने जैसे ही उसे मुख में लेकर कुल्ला, किया तब उसे पता चला कि यह खून नहीं लाख है। उसे बहुत क्रोध आया और वह क्रोध के आवेश में ज्यों ही तलवार हाथ में लेकर अपने बेटे को मारने दौड़ा, अचानक उसका पैर फिसल गया और वह गिरकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। मृत्यु को प्राप्त कर वह नरक में गया।

महानुभाव! रौद्रध्यान करने वाला जीव मुख्यतः नरक का ही बंध करता है। यह रौद्र परिणाम भवदुःख का कारण हैं, इसीलिए आचार्य महाराज ने कहा 'आर्त्तरौद्र परित्यज्य' आर्त्तरौद्र ध्यान का परित्याग करके। 'धर्मशुक्लं समाचरेत्' धर्मशुक्ल ध्यान करना चाहिए। धर्मध्यान करने से भवसुख की प्राप्ति होती है, स्वर्ग आदि का वैभव प्राप्त होता है, इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, अनिष्ट वस्तु का परिहार होता है, दुःखों का परिहार होता है और धर्मध्यान को करने वाला व्यक्ति परम्परा से मोक्ष का भाजक होता है। शुक्लध्यान करने वाला उसी भव से मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है।

बात उस समय की है—आदिनाथ भगवान के पूर्व का भव; जब वे राजा महाबल थे। महाबल मिथ्यादृष्टि था। उनके चार मंत्री थे—शतमति, सहस्रमति,

संभिन्नमति और स्वयंबुद्ध। तीन मंत्री तो मिथ्यादृष्टि थे, जो राजा को मिथ्यात्व में ही डुबाए रखते थे। किन्तु जो स्वयंबुद्ध मंत्री था वह सम्यग्दृष्टि था। वह निरंतर विचार करता था कि मैं अपने राजा को किस प्रकार धर्म के मार्ग में लगाऊँ।

एक दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम जिनालय की वंदना के लिए गया। वंदना करके लौट रहा था, तभी मार्ग में दो ऋद्धिधारी मुनिराज मिले। उसने मुनिराज से अपने पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने उसके पूर्व भव बता दिए। पुनः उसने पूछा कि हे स्वामिन! क्या हमारे राजा कभी अपना कल्याण करेंगे। मुनिराज ने कहा–आज रात्रि के अंतिम पहर में उन्हें दो स्वप्न आए हैं, एक स्वप्न में उन्होंने कल्पवृक्ष की शाखा टूटी हुई देखी है, और दूसरे स्वप्न में उन्होंने देखा कि राजा महाबल को तीन मंत्री गंदगी के कुण्ड में धकेल रहे हैं और तुम उन्हें उस कुण्ड में से निकाल रहे हो। इन दो स्वप्नों का फल राजा महाबल आज प्रातःकाल अपनी सभा में पूछेगा। वह राजा अपने स्वप्नों को बताए, उनका फल पूछे, कोई और मंत्री उसका उल्टा-सीधा फल बताए, उससे पहले आप जाकर राजा से कहो कि–राजन्! आपने आज जो दो स्वप्न देखे हैं, उनका फल तो पूछो। राजा महाबल यह जानकर कि मेरे स्वप्नों को भी यह जानता है, उनका फल भी जानता, उसकी धर्म के प्रति श्रद्धा हो जाएगी।

स्वप्नों का फल इस प्रकार है–जो कल्पवृक्ष की शाखा टूटी हुई देखी है, उससे कहना–अब आपकी आयु अल्प रह गई है और गंदगी के कुंड में पड़ा हुआ देखने से कहना कि आपको मिथ्यात्व में धकेलने वाले ये तीन मंत्री हैं। मैं आपको धर्म की प्रेरणा देने वाला हूँ। आपको अपना कल्याण करना चाहिए। आपके शब्दों को सुनकर राजा की धर्म के प्रति आस्था जाग्रत होगी।

स्वयंबुद्ध मंत्री ने वही किया, जो मुनिराज ने कहा था। जब सभा में मंत्री का कहा सब सत्य रूप ही हुआ, तो राजा ने पूछा–तुम्हें यह सब कुछ कैसे पता? तब मंत्री ने बताया–सुमेरु गिरि की वंदना से लौटते हुए मुझे मार्ग में ऋद्धिधारी मुनिराज मिले थे, उन्होंने मुझे सच बताया। राजा ने बड़े आश्चर्य से कहा–क्या ऐसा भी कोई जीव है जो दूसरों की बात, बिना कहे जान सके। मंत्री बोला–राजन्! जैनदर्शन की महिमा अगम्य है। जो केवली होते हैं वे तीनलोक की सर्व बातें जानते हैं, जो मनःपर्ययज्ञानी मुनिराज होते हैं वे दूसरों के मन की बात जान सकते हैं और अवधिज्ञानी मुनिराज असंख्यात भवों के आगे-पीछे की बात जान सकते हैं। निःसंदेह जिनशासन से बढ़कर और कोई शासन नहीं है जो आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो। यही सच्ची शरण है। जिनधर्म की महिमा जानकर राजा महाबल ने सम्यक्त्व को प्राप्त किया। राजा शतबल जो राजा महाबल के पिता थे, जिन्होंने पूर्व में दीक्षा ली व धर्मध्यान करते हुए अपने पार्थिव शरीर का परित्याग किया। वे स्वर्ग में जाकर उत्तम जाति के देव हुए। यह है धर्मध्यान का फल।

शुक्लध्यान का फल प्राप्त किया राजा शतबल के पिता सहस्रबल ने। उन्होंने भी दीक्षा ली, घोर तपस्या की और शुक्लध्यान के फल से क्षपक-श्रेणी मांड़ते हुए घातिया कर्मों का नाश किया, अरिहंत बने पुनः अघातिया कर्मों का क्षय करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए।

महानुभाव आचार्य महोदय कह रहे हैं–पहले आर्त्त- रौद्रध्यान को पूर्ण रूप से छोड़ो, पुनः धर्मध्यान और शुक्लध्यान से नाता जोड़ो। यदि किंचित् भी आर्त्त-रौद्रध्यान होगा तो किंचित् भी शुक्लध्यान नहीं हो सकेगा। क्योंकि रौद्रध्यान अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थान तक हो सकता है, आगे नहीं हो सकता। आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान तक है, परन्तु विशेषता यह है कि

निदान छठवें गुणस्थान में नहीं है। वहाँ केवल इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और पीड़ा चिंतन नामक ये तीन आर्त्तध्यान हो सकते हैं, किन्तु फिर भी अपवाद में। यद्यपि मुनिमहाराज शुभध्यान में, धर्मध्यान में लीन होते हैं। चौथे गुणस्थान में धर्मध्यान का प्रारंभ होता है, पाँचवें में मुख्यता से धर्मध्यान होता है, छटवें में धर्मध्यान की प्रगाढ़ता बढ़ जाती है और सप्तम गुणस्थान में निर्विकल्प धर्मध्यान है। अष्टम गुणस्थान से ग्यारहवें तक अर्थात् 8, 9, 10, 11 गुणस्थान में प्रथम नंबर का शुक्लध्यान होता है; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। और कुछ आचार्य मानते हैं कि शुक्लध्यान का प्रारंभ ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। ग्यारहवें में प्रथम शुक्लध्यान, बारहवें में द्वितीय शुक्लध्यान, तेरहवें गुणस्थान में तृतीय शुक्लध्यान और चौदहवें गुणस्थान में चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी जी मानते हैं कि जब तक कषाय रहती हैं तब तक शुक्लध्यान का प्रारंभ नहीं होता, इसलिए शुक्लध्यान दसवें गुणस्थान के बाद ही प्रारंभ होता है।

तो इस अपेक्षा से शुक्लध्यान में किंचित् भी धर्मध्यान नहीं है। और धर्मध्यान के लिए माना है कि वह सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। जिसे निर्विकल्प धर्मध्यान कहते हैं। तो धर्मध्यान में भी आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं हैं। जो धर्मध्यान सविकल्प होता है, चिंतनात्मक होता है वह छठवें गुणस्थान तक होता है। सविकल्पात्मक धर्मध्यान में आर्त्तध्यान संभव है, जो इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतन नाम वाला है किंतु रौद्रध्यान छटवें गुणस्थान में किंचित् भी नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में रौद्रध्यान कदाचित् हो, किन्तु वहाँ जीव अंतर्मुहूर्त बाद पुनः अपने परिणाम संभालने में समर्थ होता है। चौथे गुणस्थान में आर्त्त-रौद्रध्यान की इतनी स्थिति नहीं है, किन्तु कृष्णनीलादि लेश्या के प्रभाव से अपवाद में हो सकते हैं।

वह आर्त्तरौद्रध्यान मुख्यत: मिथ्यादृष्टि के होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव आर्त्तरौद्रध्यान में आकण्ठ डूबे रहते हैं। जितनी कषाय की तीव्रता होगी, जितनी अशुभ लेश्या होगी उतना ही रौद्रध्यान प्रगाढ़ होगा। रौद्रध्यान जितना प्रगाढ़ होता है उतने ही नीचे वाले नरक की आयु का बंध होता है। इसके विपरीत जिसकी कषाएँ मंद हों, लेश्या शुभ हों, तो फिर आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं बनेंगे। शुभलेश्या के बल से वह जीव धर्मध्यान प्राप्त कर सकता है। कदाचित् कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी छहों लेश्या प्राप्त कर सकता है। यदि मिथ्यादृष्टि तीन शुभ लेश्या प्राप्त कर रहा है, तो कषाय की मंदता से प्राप्त कर रहा है। जब कषायों को मंद करने में मिथ्यादृष्टि भी समर्थ हो सकता है, तो क्या सम्यग्दृष्टियों को अपनी कषाय मंद नहीं करना चाहिए? जब मिथ्यादृष्टि भी पीत, पद्मलेश्या को प्राप्त कर सकता है, तो क्या सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपनी लेश्या अच्छी नहीं करनी चाहिए? उसे आत्तरौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए, धर्मध्यान का ही आलम्बन लेना चाहिए।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि को यदि आत्तरौद्रध्यान का प्रसंग भी प्राप्त हो, तब भी उसका परिहार ही करे, यही उसकी साधना है। मात्र भोजन छोड़ देने से साधना नहीं होती, ऐसा नहीं है कि पशुवत् मौन लेकर बैठ गए तो साधना हो गई। अपनी कषायों को शांत रखें, वही सच्ची साधना है। घर-परिवार में संयुक्त रूप से रहते हुए किसी ने कुछ कह भी दिया तो कोई बात नहीं। जहाँ चार बर्तन होते हैं वहाँ खटपट तो होती ही है। परंतु वे टूटते नहीं हैं। पहले महिलाएँ जब एक-एक हाथ में 8-8, 12-12 चूड़ियाँ पहनती थीं, तो बड़ी मधुर आवाज निकलती थी, ऐसे ही यदि सभी मिलकर रहें तो उनकी मधुर ध्वनि निकले, कर्कश नहीं। सभी प्रेमभाव से रहें, उनमें सहनशीलता हो, एक-दूसरे के प्रति परोपकार की भावना हो तभी, धर्मध्यान बन सकता है। यदि इसके विपरीत है तो आर्त्तरौद्र ध्यान बन जाता है।

महानुभाव! पूजा-पाठ, जाप, दान, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा आदि सब कुछ कार्य करते हुए भी यदि अपनी कषायों पर नियंत्रण नहीं कर पा रहे हो, तो आपके किए हुए सभी कार्य पूर्ण फल देने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए सर्वप्रथम अपनी कषायों पर नियंत्रण रखें। क्रोध आने पर क्षमाभाव धारण करो, किसी चीज पर अहंकार आए तो तत्त्व का चिंतन करो, मायाचारी का भाव आए तो अपने आपको संभालो। विचार करो-किसके लिए मायाचारी करना, क्यों छलकपट से धनार्जन करना। क्या मैं अनंतकाल तक यहाँ रहकर ये सब भोगता रहूँगा। अरे! यह शरीर कब छूट जाए पता नहीं, अतः मैं पाप की कमाई नहीं कमाऊँगा। लोभ आए तो विचार करो कि जो चीज मेरे भाग्य की होगी वह मुझे निःसंदेह मिलेगी ही मिलेगी, लोभ करने से क्या? इसीलिए हमारा आपसे इतना निवेदन है कि आप आर्त्त-रौद्रध्यान को छोड़ दें। अपनी कषायों को शांत करें। जहाँ सहनशीलता है वहाँ जीवन धर्मध्यान की समधारा में बहता चला जाएगा और जहाँ सहनशीलता नहीं है वहाँ संक्लेशता बनेगी और दीर्घकाल तक पाप का ही आस्रव होगा।

इसलिए 'धर्म शुक्लं समाचरेत्' धर्म व शुक्लध्यान का आचरण करना चाहिए। जिस ध्यान में वस्तुस्वरूप का अथवा क्षमादि भावों का चिन्तन होता है उस ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी ने कहा-

बाह्यात्मिकभावानां, याथात्म्यं धर्म उच्यते।
तद्धर्मादनपेतं यद्धर्म्यं तद्ध्यानमुच्यते।। -(हरिवंशपुराण-56/35)

बाह्य और आध्यात्मिक भावों का जो यथार्थभाव है, वह धर्म कहलाता है। उस धर्म से सहित है, उसे धर्मध्यान कहते हैं। अनित्यादि बारह भावनाएँ भी सदा धर्मध्यान की कारण होती हैं इसीलिए उनको भी चित्त में स्थिर करके आत्मस्वरूप का अवलोकन करना चाहिए। धर्मध्यानी के बाह्य चिह्न बताते हुए कहा-

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वंगंधःशुभोमूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिःप्रसादःस्वरसौम्यताचयोगप्रवृत्तेःप्रथमंहिचिन्ह्य॥–(ज्ञानार्णव2127)

विषयलंपटता का अभाव, नीरोगता, दयालुता, शरीर की उत्तमगंध, मूत्र-मल की अल्पता, शरीर में दीप्ति, प्रसन्नता, स्वर की मधुरता, ये सभी चिह्न योगी के ध्यान में प्रवृत्त होने पर परिलक्षित होते हैं।

महानुभाव! यह धर्मध्यान का आचरण जीव को स्वानुभवगम्य अतींद्रिय सुख से संयुक्त कराता है। इसी धर्मध्यान के आश्रय को लेकर आगे वृद्धिंगत करते हुए दु:खों की परम्परा को नष्ट किया जा सकता है। शीलादिव्रतों का पालन, गुणानुराग, पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्ति की भावना आदि सद्गुणों के कारण यह धर्मध्यान जीव के लिए मोक्ष का कारण है।

महानुभाव! द्वितीय कहें या अद्वितीय कहें, ऐसा वह 'शुक्लध्यान' जिसके द्वारा आत्मा के निर्मल स्वभाव का चिन्तन किया जाता है, कषायों से रहित ध्यान शुक्लध्यान की श्रेणी में आता है। **'शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्'** शुचि गुण के योग से शुक्ल होता है। राजवार्तिक ग्रन्थ में कहा–**'यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्म-परिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरूप्यते।''** (9/28/4)

जिस प्रकार मैल हट जाने से वस्त्र शुक्ल हो जाता है, उसी प्रकार गुणों के साधर्म्य से निर्मल गुणरूप आत्म परिणति भी शुक्ल कहलाती है।

धर्मध्यान को बढ़ाते हुए वह योगी क्रम-क्रम से उस धर्मध्यान को भी छोड़कर आत्यंतिक शुद्धि का आश्रय लेता हुआ अतिशय निर्मल शुक्लध्यान को प्रारंभ करता है। शुक्लध्यान में लीन योगी के शरीर के छेदे जाने पर, खंडित किए जाने पर, घात किए जाने पर भी वह योगी स्वयं को शरीर से

भिन्न दूरवर्ती जैसा देखते हुए अपने को सर्वथा पृथक् मानता हुआ वर्षा-वायु आदि के दु:खों से भी विचलित नहीं होता। वह उस समय लेपक्रिया से भित्ति पर निर्मित चित्र के समान न घातक की ओर देखता है न कुछ सुनता है, न सूँघता है और न शरीर से स्पृष्ट किसी शस्त्रादि का भी अनुभव करता है। यह शुक्लध्यान कषाय से हीन हो जाने पर अथवा उसके उपशांत हो जाने पर उन वीर पुरुषों के ही बनता है। इस अतिशय निर्मल ध्यानरूप अग्नि के वृद्धिंगत होने पर योगी के घातिया कर्म क्षणभर में भस्म हो जाते हैं, पुनः चतुर्थ शुक्लध्यान के बल से अघातिया कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

धर्मध्यान-शुक्लध्यान की लीनता से परमात्मपद प्रकाशित होता है। जैसे अन्तरिक्ष में सूर्य प्रकाशित होता है, ऐसे ही आत्मा में परमात्मा प्रकाशित होता है। यदि धर्म-शुक्लध्यान नहीं है तो आत्मा कभी परमात्म दशा को प्राप्त नहीं करती। हमें अपने परमात्मा को स्वयं ही प्रकट करना होगा, कोई दूसरा उसे प्रकट नहीं कर सकता। इसीलिए आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग करके धर्मशुक्लध्यान का आलम्बन लो, दूसरों के धर्मध्यान में निमित्त बनो। कभी भी किसी के आर्त्तरौद्रध्यान में निमित्त नहीं बनना। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान के हेतु

वैराग्यं तत्त्व विज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समभावना।
जयः परीषहाणां च, पञ्चैते ध्यान हेतवः॥42॥

अन्वयार्थ–(वैराग्यं) वैराग्य **(तत्त्वविज्ञानं)** तत्त्व विज्ञान **(नैर्ग्रन्थ्यं)** निर्ग्रंथता **(समभावना)** समताभाव **(च)** और **(परीषहाणां)** परीषहों को **(जयः)** जीतना **(एते)** ये **(पञ्च)** पाँच **(ध्यानहेतवः)** ध्यान के हेतु हैं।

अर्थ–वैराग्य, निर्ग्रंथता, तत्त्वविज्ञान, समभावना और परीषहजय, ये पाँच ध्यान के हेतु हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत देख रहे थे कि आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग कर धर्म-शुक्लध्यान का पालन करना चाहिए। कई बार सुनने में आता है कि ध्यान करना चाहिए, ध्यान के बहुत लाभ हैं परंतु ध्यान कैसे करें? मान लीजिए, कोई कुशल महिला कहे कि मैं भोजन बनाने में बहुत कुशल हूँ। तो उससे कहा जाए–कुशल हो तो बनाओ भोजन। वह बोली–लाओ सामग्री–आटा, दाल, सब्जी, घी, तेल, मसाले। यदि यह सब न हो तो वह चाहे जितनी कुशल हो, भोजन नहीं बना पाएगी।

इसी प्रकार कोई कुम्भकार कहे–''मैं बहुत अच्छे मिट्टी के बर्तन, घड़ा व खिलौने आदि बना सकता हूँ।'' तो उससे कहा जाए–''अच्छा, बनाकर दिखाओ। यदि उसके पास चाक, मिट्टी और औजार ही न हों, तो वह कुछ भी नहीं बना सकेगा। स्वर्णकार कहे–''मैं आभूषण बना दूँगा।'' लेकिन यदि

उसके पास सोना ही न हो, तो वह आभूषण कैसे बनाएगा? बिना सामग्री के साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

आप ध्यान करना चाहते हैं, क्योंकि ध्यान के बराबर संसार में कोई तप नहीं है। शुभध्यान कर्मक्षय का साक्षात हेतु है और आर्त्त–रौद्रध्यान संसारवर्धक हैं, अशुभ हैं। संसार में सभी जानते हैं कि जहाँ ज्यादा लाभ मिलता है, वहाँ लेने से कोई नहीं चूकता। उदाहरणार्थ–दो फल विक्रेता एक ही वृक्ष के फल लेकर बाजार में आए। एक 10 रुपये किलो बेचता है, दूसरा 100 रुपये किलो। पहले ने कहा–''मेरे लिए 10 रुपये पर्याप्त हैं, मेरा काम चल जाता है।'' दूसरे ने कहा–''जिसे लेना हो 100 रुपये में ले, अन्यथा मैं प्रतीक्षा करूँगा।'' विवेकी व्यक्ति समझता है–10 रुपये किलो में 10 किलो बेचने पर भी 100 रुपये ही मिलेंगे; पर 100 रुपये किलो में मात्र एक को बेचकर उतना ही लाभ हो जाएगा। साधक भी ऐसा ही विचार करे–यदि व्यापार में लगकर 2% लाभ, कृषि में लगकर 5% लाभ ओर श्रेष्ठ कार्य में लगकर 10% लाभ मिल सकता है, तो क्यों न अपने पुरुषार्थ को वहाँ लगाया जाए जहाँ 50%, 100% अथवा 200% का आध्यात्मिक लाभ हो।

साधक भी सोचता है कि मैं शुभक्रिया करूँ, सराग सम्यक्त्व, सरागसंयम का पालन करना उत्तम है। जब वह साधक राग सहित अपने 28 मूलगुणों और 34 उत्तर गुणों का पालन करता है तो लाभ कम होता है और जब निर्विकल्प ध्यान में लीन होता है तो लाभ बहुत अधिक होता है। सराग संयम में तो सातिशय पुण्य बंध है, किंचित् निर्जरा है किन्तु निर्विकल्प ध्यान में प्रविष्ट होने पर प्रचुर मात्रा में कर्म निर्जरा है। कदाचित् पुण्य का आस्रव भी हो रहा है, तो उत्कृष्ट कोटि का पुण्य प्राप्त होता है।

आप सोचेंगे कि साधु से बड़ा जौहरी कौन है, जो इतने उच्चकोटि का व्यापार करता है। वह सोचता है–ध्यान करूँ, क्यों मैं अपना मन शास्त्रों के अक्षर गिनने में लगाऊँ? क्यों मैं माला फेरने में, या बाह्य क्रियाओं में समय लगाऊँ, जब एकांत में बैठकर, स्थिर चित्त होकर अपनी आत्मा का ध्यान कर सकता हूँ। ध्यान ही वह साधन है, जो अपने परिणामों को शुद्ध कर देता है। ध्यान के माध्यम से करोड़ों भवों के अर्जित पापों को क्षणभर में नष्ट किया जा सकता है। एक अन्तर्मुहूर्त का ध्यान अनंत पापों को नष्ट करने में समर्थ है। जिस प्रकार बीज बोये बिना, खेत जोतना व्यर्थ होता है। ऐसे ही आत्मा का ध्यान किए बिना, धर्म-शुक्लध्यान किए बिना संयम-तप भी निष्फल माना जाता है। ध्यान करना परम आवश्यक है। इसीलिए आचार्यों ने कहा– हे योगी! हे श्रमण! हे मुनिवर! आप तत्त्वचिंतन करो, आत्मध्यान करो।

यहाँ आचार्य महोदय ने ध्यान के पाँच कारण कहे। ध्यान के लिए सबसे पहली शर्त है–**'वैराग्य'** अर्थात् संसार- शरीर-भोगों से विरक्ति। यदि साधक संसार, शरीर, भोगों से विरक्त नहीं है, तो व्यक्ति ध्यान तो करेगा किन्तु वह संसार का सुख चाहेगा। यदि वह नहीं मिलेगा तो इष्टवियोग नाम का आर्त्तध्यान बन जाएगा। यदि दुःख आ गया तो अनिष्ट संयोग नाम का आर्त्तध्यान बन जाएगा। यदि पीड़ा हो रही हो तो पीड़ाचिन्तन नाम का आर्त्तध्यान बनेगा और कुछ माँगने की भावना बन गई तो निदान नाम का आर्त्तध्यान बनेगा। या कहीं पुण्य के उदय से कुछ प्राप्त कर लिया तो फिर दूसरों को सताने में आनन्द लेगा, हिसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी परिग्रह संरक्षण या विषयों के संरक्षण में आनन्द लेगा। तो यहाँ कहा संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति ध्यान का प्रथम हेतु है।

संसार वह है जहाँ अनादिकाल से छह द्रव्य भरे हैं। पर्याय को मत देखो, द्रव्य को देखो तो संसार से विरक्ति होती है। शरीर नश्वर है, पुद्गल है, सबको मालूम है। जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं तो लोग कहते हैं, यह तो माटी है, इसे जल्दी से फूंक दो। शरीर को जब पुद्गल जान लोगे तो फिर शरीर में आसक्ति नहीं होगी, शरीर से विरक्ति हो जाएगी। तब चित्त शरीर के पोषण में नहीं लगेगा। पंचेन्द्रियों के माध्यम से भोग-उपभोग किया जाता है। साधक तो इनसे विरक्त होता है। यह तो संसारी लोगों की, मोही प्राणियों की चेष्टा है। ज्ञानी-विवेकी व्यक्ति पागल जैसी चेष्टा नहीं करता। जो व्यक्ति समझदार है, जो गंदगी को गलत जानता है, तो वह गंदगी में क्यों कूदेगा, क्यों गंदी नाली में लोटेगा? भोगों को वही गलत कहता है जो ज्ञानी है, भेद विज्ञानी है, जो स्वचिंतन करने वाला है। इसलिए ध्यान के लिए पहला हेतु कहा-'वैराग्य', संसार-शरीर-भोगों से विरक्त व्यक्ति ही धर्मध्यान की ओर बढ़ सकता है।

आचार्य भगवन् सकलकीर्ति जी महाराज ने सुभाषित रत्नावली ग्रन्थ में कहा -

वैराग्यत्वमनासाद्य दीक्षादानं करोति यः।
तस्य जन्म वृथा हि स्यादजाकण्ठे स्तनाविव।।147।।

जो वैराग्य भाव को प्राप्त किए बिना जिनदीक्षा को ग्रहण करता है, उसका जन्म बकरी के कण्ठ में लटकते हुए स्तन के समान ही व्यर्थ है।

अर्थात् बिना वैराग्य के दीक्षा भार स्वरूप ही है। न तो उससे कोई पुण्यास्रव होता है और न ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। जो जीव वैराग्य से युक्त होकर, बाह्य परिग्रह का त्याग कर, अपने स्वाधीन विषयों से विरक्त, तत्त्वचिंतन में तल्लीन हो, संसार-शरीर-भोगों के व्यापार से रहित होकर, निराकुल सुख से

परिपूर्ण ज्ञान में आरूढ यम, शम, दम, तप व ध्यान में अवस्थित हो जाता है, वह जीव निश्चय ही केवलज्ञान का अनुभव कर मोक्षसुख को प्राप्त होता है।

महानुभाव! संसार अटवी में भटकाने वाले और आत्मीय ज्ञान-धन को चुराकर आत्मा को निर्धन बनाने वाले कर्म ही आत्मा के परमशत्रु हैं। उन शत्रुओं के आगमन का कारण है-विषयाभिलाषा और कषाय। जिन्होंने इन दो पर विजय प्राप्त की है, वे ही कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए सन्त पुरुष को कर्मजयी होने के लिए बुद्धिमानीपूर्वक संसार-शरीर और भोगों के प्रति निर्वेद भावना भानी चाहिए। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती, उसी प्रकार संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हुए बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि मोक्षमार्ग पर निराकुल, निर्बाध रूप से गमन करने के लिए वैराग्य पहला व मुख्य हेतु है। आचार्यों ने कहा है-

वैराग्यात् स्वसुखं चैव, वैराग्याद् दुःखनाशनम्।
वैराग्यात् काय आरोग्यं, वैराग्याद् मोक्षजं सुखम्।।

वैराग्य से आत्मसुख प्राप्त होता है, दुःखों का नाश होता है, शरीर में निरोगता रहती है और वैराग्य से मोक्ष सुख प्राप्त होता है। संसार-शरीर-भोगों की पंक में उलझा जीव अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर पाता। परद्रव्य की आसक्ति मन को चंचल बनाती है और मानसिक चंचलता के सद्भाव में ध्यान नहीं होता। अतः ध्यानासक्त में वैराग्य नामक गुण होना चाहिए। इस गुण का अभाव होने पर, भोगों की आसक्ति, ध्यान-साधक को दिग्भ्रमित कर सकती है।

दूसरी शर्त कही-**'तत्त्वचिंतन'**। जिसे द्रव्य के स्वभाव का भान है, वह द्रव्य के स्वभाव का चिंतन करता है। जीवादि छह द्रव्यों के स्वभाव का

चिंतन करने से तत्त्व का चिंतन होता है, आत्मा शुद्ध दशा की ओर गमन करती है, कर्म निर्जीर्ण होने लगते हैं।

ध्यान साधक सदैव अनुकूल वा प्रतिकूल परिस्थितियों में तत्त्व-विज्ञ रहता है। वह प्रिय वा इष्ट पदार्थों के वियोग पर विषाद नहीं करता और संयोग होने पर हर्ष नहीं करता। यह उनकी तत्त्वबुद्धि का फल है। ऐसे तत्त्वज्ञानी संसार से स्वयं तरते हैं तथा दूसरों को भी तारते हैं। और निश्चित ही जो अन्यों को भी भवदधि तारने में समर्थ निमित्त हैं, ऐसे ज्ञानी-ध्यानी इस संसारसागर में जलयान के समान हैं। तत्त्वज्ञानी के लिए कषाएँ शत्रुवत्, विषयभोग विष सम और मोह तो बीमारी के समान ही प्रतीत होते हैं। वे हर उपसर्ग को, कष्ट को तत्त्वज्ञान रूपी जल से बुझाने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं।

महानुभाव! ज्ञान के बिना चारित्र निरर्थक है, ज्ञानवान का चारित्र ही मोक्षफल को फलता है। ज्ञान के द्वारा ही आत्मा निजके हित व अहित को जानता है। साधना का लक्ष्य, साधना की विधि और साधना में आवश्यक सावधानी इन सब बातों का बोध तत्त्वविज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। आचार्यों ने कहा है-

तत्त्वज्ञानं भवेद्येषां त एव ज्ञानिनो मताः।
त एवं जन्मसिन्धोश्च पारं यान्ति न चेतरे॥

जिन्हें आत्मज्ञान है, जो तत्त्वविज्ञानी हैं वे ही ज्ञानी माने गए हैं, और वे ही संसारसागर के पार को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं। अतः ध्यान साधक में तत्त्वविज्ञान नामक गुण होना चाहिए।

आचार्य महोदय ने तीसरी शर्त कही **'निर्ग्रन्थता'** ग्रन्थ का अर्थ है परिग्रह। परिग्रह के द्रव्य-भाव रूप दो भेद हैं। दोनों का ही त्याग करके

परम निस्पृहता को धारण करना ही निर्ग्रन्थता है। आचार्य भगवन् श्रुतसागर जी ने कहा **'निर्ग्रन्थाः परिग्रहरहिताः'** इसी को स्पष्ट करते हुए नियमसार में कहा–

'बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहग्रन्थिभ्यो निष्क्रान्तः निर्ग्रन्थः''।

अर्थात् जिनकी बाह्य व अभ्यंतर परिग्रह की ग्रंथियाँ विनष्ट हो चुकी हैं वे निर्ग्रंथ हैं। प्रवचनसार की टीका में आचार्य भगवन् जयसेनस्वामी जी ने कहा–''**यथाजातरूपधरः व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्म- रूपं तदित्थं भूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थी जात इत्यर्थः।**'' अर्थात्–व्यवहारनय से नग्नत्व यथाजातरूपपना है और निश्चय से अपनी आत्मा का जो यथार्थ रूप है, वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनों को धारण कर निर्ग्रंथ हो जाता है।

आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने भी धवला. पु. 9 पृष्ठ 323 में कहा–व्यवहारनय की अपेक्षा से क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं क्योंकि वे आभ्यन्तर ग्रन्थ के कारण हैं, इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय से मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

महानुभाव! यह परिग्रह मकड़ी के जाल की भाँति है। जिसमें जीव एक बार भी उलझ जाता है, फिर वह अपने आपको मुक्त नहीं कर पाता है। यही कारण है कि ध्यान साधक का निर्ग्रंन्थ होना आवश्यक है। अतः अंदर की ग्रंथि को खोल दो, निर्ग्रंथ हो जाओ, तो ध्यान हो जाएगा। ग्रन्थि रहेगी तो मन वहीं अटक कर रह जाएगा। जैसे पैर में काँटा लग जाए तो ऐसा लगता है आत्मा के समस्त प्रदेश वहीं सिमट कर आ गए हों। कहीं शरीर में गाँठ हो जाए, उसमें पस पड़ जाए तो उपयोग वहीं–वहीं रहता है। यहाँ तक कि दाँत टूट जाए या हिल जाए तो जीभ वहीं–वहीं जाती है। दाँत में तिनका

फँस जाए तो जीभ दिन भर वहीं चक्कर काटती रहती है। ऐसे ही चित्त में कोई गाँठ पड़ी हो तो उपयोग बार-बार वहीं जाता है। जहाँ समस्त ग्रंथियों से रहित दशा हो अर्थात् बाहर शरीर पर एक धागा भी नहीं एवं अंतरंग में भी किसी विकारों की गाँठ नहीं, तो निर्ग्रंथ हो गया। पहले लोग धोती पहनते थे तो गाँठ लगाते थे। अंटी में, पोटली में पैसे बाँधकर रखते थे। अब सर्व गाँठ छोड़ो, न अंटी में न कँठी में बस निर्ग्रंथी में सुख है।

आचार्य महोदय ने चौथी शर्त रखी **'समताभाव'।** समताभाव समस्त साधना की रीढ़ है। क्योंकि यदि साधक में समता भाव नहीं होगा तो वह प्रतिकूल परिस्थितियों में विलाप और अनुकूल परिस्थितियों में विलास करते हुए आत्मनिधि को भूल जाएगा। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने प्रवचसार में कहा-

समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठ कंचणो पुण, जीविदमरणे समो समणो।।241।।

शत्रु-मित्र वर्ग में समता, सुख-दु:ख में समता, निंदा-प्रशंसा में समता, पत्थर-कंचन में समता और जीवन-मरण में भी समता धारण करना श्रमण का लक्षण है। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने ध्यान के हेतुओं में समता भाव को रखा और कहा-हे भव्य! तू मोहरूपी अग्नि को शांत करने के लिए संयम रूप संपत्ति को प्राप्त कर। उसके उत्कृष्ट फल को प्राप्त करने के लिए, रागरूप वृक्षों को नष्ट करने के लिए समताभाव का अवलंबन कर। आचार्य भगवन् शुभचंद्र स्वामी ने कहा-

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमेषान्तेन तज्जन्यकोटिभिस्तपसेतर:।।1158।।

समता के शिखर पर आरूढ़ हुआ योगी जिस कर्म को निमेषमात्र में ही जीत लेता है, उसी को समताभाव से रहित जीव तपश्चरण द्वारा करोडों जन्मों में जीत पाता है। अतः साधक को समताभावी होना चाहिए। समताभावी के चरण कमलों में प्राणी परस्पर मत्सरता को त्यागकर मित्रता को प्राप्त हो जाते हैं। समताभाव का आश्रय लेने वाला जीव स्वयं को परमात्मा के स्वरूप में देखता है और साधना के बल से एक दिन स्वयं आराध्य बन जाता है। उसका आराध्य अन्य कोई नहीं रहता। अतः समभावना रखो। ये भावना तभी आती है जब ग्रंथियों को खोल देते हैं। ग्रंथि जब तक रहती है तब तक यह अच्छा है, यह बुरा, इस प्रकार की निर्णायक बुद्धि रहती है। समबुद्धि कर्मों के बंधनों को खोलने वाली होती है। समत्व की चाबी को ग्रहण किए बिना कर्मों के बंधन को खोला नहीं जा सकता। कर्मों की बेड़ियाँ तभी खोली जाएँगी जब समत्व की चाबी होगी।

आगे आचार्य महोदय ने कहा–**'जयः परीषहाणां'** जो परीषहों को जीतने में समर्थ है वहीं स्वयं को जीत सकता है। वीतरागी भगवान को जिनेन्द्रप्रभु भी कहते हैं। जितेन्द्रिय अर्थात् जिसने मन–इन्द्रियों को जीत लिया। जब इन्द्रिय व मन को जीत लेता है तब परीषहों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्षुक्षा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक इत्यादि बाह्य प्रकृति प्रकोप हैं। वह जानता है कि इन परीषहों से यह शरीर तो जर्जर हो सकता है, नष्ट भी हो जाए किन्तु ये बाईस के बाईस परीषह मिलकर भी आत्मा के एक प्रदेश को भी नष्ट नहीं कर सकते। तो परीषहजय करने में क्या खेद, कैसा विकल्प? जो कर्म मैंने बांधे हैं वे ही उदय में आ रहे हैं, उन्हीं के फलस्वरूप इष्ट–अनिष्ट वस्तु का संयोग–वियोग प्राप्त हो रहा है अतः समभाव रखो। परीषहों को जीतने से योगी का चित्त सबल हो जाता है। वह ऐसा सुभट, वीर योद्धा बन

जाता है कि ज्ञान की तलवार और संयम-समता की ढाल को लेकर जब आगे बढ़ता है, तो बस कर्मों को चूर-चूर करता चला जाता है, कर्म रूपी शत्रु धराशाही होते चले जाते हैं।

ये पाँच चीजें जिसके पास हैं वही ध्यान को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जैसे एक सुभट योद्धा के पास तलवार भी हो, ढाल भी हो, कवच भी हो, दो सबल भुजाएँ हों, दो सबल पैर हों, तब वह युद्ध में जा सकता है। ऐसे ही कर्म रूपी शत्रु को जीतने के लिए योगी ध्यान का आलम्बन लेता है, और ध्यान उसे ही प्राप्त होता है जिसके पास वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रंथता, समभाव और परीषयजय हो। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ध्यान के स्थान

नेत्र - द्वन्दे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे,
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यात्मदेहे,
तिष्ठैकस्मिन् विगत विषयं चित्तमालम्बनीयं।।43।।

अन्वयार्थ–(अमलमतिभिः) निर्मल बुद्धिधारी आचार्यों ने **(आत्मा)** अपने **(देहे)** शरीर में **(नेत्र-द्वन्दे)** नेत्र युगल **(श्रवणयुगले)** कर्ण युगल **(नासिकाग्रे)** नासिका के अग्र भाग पर **(ललाटे)** ललाट **(वक्त्रे)** मुख **(नाभौ)** नाभि **(शिरसि)** मस्तक **(हृदये)** हृदय **(तालुनि)** तालु **(भ्रूयुगान्ते)** भ्रू-युगल **(ध्यानस्थानानि)** ध्यान के स्थान **(कीर्तितानि)** कहे हैं। **(एकस्मिन्)** एक स्थान पर **(तिष्ठ)** रह कर **(विषयम्)** विषय से **(विगत)** रहित **(चित्तं)** चित्त कर **(आलम्बनीयं)** आलम्बन लेवें।

अर्थ–निर्मल बुद्धिधारी आचार्यों ने अपने शरीर में नेत्रद्वय, कर्ण युगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भ्रू-युगान्त में ध्यान के स्थान बताए हैं। हे योगी! तुम्हें ध्यान में बैठकर इन स्थानों में से किसी एक स्थान पर विषयों की वांछा से रहित होकर अपना चित्त एकाग्र करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित इस 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत ध्यान की सामग्री के विषय में देख रहे थे कि किस प्रकार ध्यान के हेतु होने पर ध्यान संभव है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए उपादान और निमित्त दोनों की आवश्यकता

होती है। जिस भव्यजीव के पास यह सामग्री (वैराग्य, तत्त्वविज्ञानादि) हो, तो वह शुभध्यान को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान से श्रेष्ठ कोई ध्यान नहीं ,ऐसा भगवंतों ने कहा है। **''एकस्मिन् वस्तूनि चित्तं एकाग्रकरणं ध्यानं''** अथवा **''चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानं''** चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।

जब कोई भव्यजीव अपने चित्त को एक विषय में एकाग्र करता है, तो ध्यान बनता है। अब यहाँ बताया कि वह भव्यजीव, साधक अथवा योगी अपने चित्त को कहाँ एकाग्र करे? पूर्व में कारिका नम्बर चौदह में पिण्डस्थध्यान, पदस्थध्यान, रूपस्थध्यान और रूपातीतध्यान के विषय में बताया था; आत्मा को अरिहंत आदि पिण्ड रूप बनाकर ध्यान करना, मंत्र वाक्य का आलम्बन लेकर ध्यान करना, अपनी चैतन्य आत्मा का ध्यान करना और नित्य निरंजन निर्विकार आत्मा का ध्यान करना। ये क्रमशः पिण्डस्थादि ध्यान के आलंबन बताए थे। अब यहाँ अपने शरीर में ही चित्त एकाग्र करने व अरिहंतादि की स्थापना करने की विधि बता रहे हैं।

आचार्यों ने लिखा है–सिद्धों की स्थापना ब्रह्मस्थान पर करो, अरिहंतों की स्थापना मस्तक पर करो, आचार्यों की स्थापना दक्षिणकर्ण पर, उपाध्यायों की स्थापना पश्चिमकर्ण पर, साधुपरमेष्ठी की स्थापना मुखाग्र पर करो। अथवा अरिहंतों की मस्तक पर, सिद्धों की ब्रह्मस्थान पर, आचार्यों की मुखाग्र पर, उपाध्यायों की कंठ में और साधु की हृदयस्थान पर। अथवा अरिहंतों की मुखाग्र पर, सिद्धोंकी ब्रह्मस्थान पर, आचार्यों की कंठ पर, उपाध्यायों की हृदयस्थान पर और साधुपरमेष्ठी की नाभिकमल पर अथवा अन्य-अन्य प्रकार से उत्तमांग पर स्थापना कर ध्यान किया जा सकता है। मुख्यतया से यह आनन जिसे मुखमण्डल कहा जाता है, जिसमें मस्तक से सोचने-समझने की क्षमता होती है, यह उत्तमांग कहा जाता है। रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये चार इंद्रियाँ

इस मुख्याग्र अर्थात् मुख्य स्थान पर हैं, और स्पर्शन इंद्रिय तो है ही इसलिए ये पूरे शरीर में सबसे उत्तम स्थान कहा जाता है। अन्य जगह तो केवल एक स्पर्शन इंद्रिय है, किंतु यहाँ पर पूरी पाँचों इंद्रियाँ हैं। इसलिए शरीर में कोई श्रेष्ठ स्थान होता है तो आनन, मुख या मुखारविन्द है। 'अमलमतिभिः' अर्थात् निर्मल ज्ञान के धारक आचार्यवर, गणधर, मुनि, ऋषि अथवा निर्मलज्ञान आदि केवलज्ञान के धारी भगवंत, जिन्होंने सभी आवरणों का क्षय कर दिया है, उन्हें चित्त को कहाँ-कहाँ स्थित करना चाहिए?

इस छन्द में ध्यान के दस स्थानों का वर्णन किया गया है।

1. **नेत्रयुगल**—योगशास्त्रानुसार नेत्र चाक्षुष केन्द्रस्थान है। ध्यान की मुद्रा में आँखें बन्द रखनी हों तो सहजतया कोमलता से बन्द कर लेवें। इस केन्द्र का ध्यान करने से ज्ञानतन्तु स्वयमेव सक्रिय हो जाते हैं, जिससे ज्ञान विकसित होता है। दृष्टिकोण को निर्मल करने का कार्य इसी केन्द्र से सम्पन्न होता है।

2. **कर्णयुगल**—कर्ण में एक केन्द्र है-अप्रमाद। यह संवेदन का केन्द्र है। इस केन्द्र पर चित्त को स्थिर करने से जागरूकता का विकास होता है। निद्रा पलायन कर जाती है। प्राचीन भारतीय परम्परा में कर्णवेधन करने की जो प्रथा थी, उसका यही रहस्य था। शरीरशास्त्र में भी कनपटी व उसके आसपास के क्षेत्र को बहुत महत्त्व प्राप्त है। उससे ध्यान की निर्विघ्न सिद्धि होती है।

3. **नासिकाग्र**—ध्यान के समय नासाग्रमुद्रा का होना अत्यावश्यक माना गया है। प्राणवायु शरीर में सम्पूर्ण व्याप्त है, परन्तु नासिका पर उसकी उपस्थिति अधिक मानी गई है। इसलिए यहाँ ध्यानविदों ने प्राणकेन्द्र माना है। नासाग्र होते ही मूलनाड़ी तन जाती है, जिससे मूलबन्ध स्वतः ही हो जाता है। इस केन्द्र का ध्यान करने से जैविक शक्तियों का विकास होता है। इससे मनुष्य इच्छित कार्य को पूर्ण करने के तन्त्र को प्राप्त कर लेता है। यह ध्यान प्रसन्नतावर्द्धक है।

4. ललाट—ललाट के भीतर गहराई में ज्योतिकेन्द्र स्थित है। यह केन्द्र वासना, आवेग तथा विकारों को उपशम करने वाला है। यदि इस केन्द्र पर श्वेतवर्ण का ध्यान किया जावे तो अधिक लाभप्रद व शीघ्र फलदायी है। उत्तेजना को समाप्त करके शान्त बनाने में इस केन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस केन्द्र पर ध्यान करने से असंयम विलय को प्राप्त होता है, हृदय परिवर्तित हो जाता है तथा मनःताप नष्ट होकर चिन्तन को सुव्यवस्थित दिशा प्राप्त होती है।

5. मुख—मुख में जिह्वा के अग्रभाग में ब्रह्मकेन्द्र है। इस केन्द्र पर ध्यान करने से दमित वासनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। उसके फलस्वरूप ब्रह्मचर्य विशुद्ध हो जाता है, साधना में परिपक्वता आने लगती है तथा वचनसिद्धि हो जाती है। ऐसा साधक अपने ध्येय को अवश्य प्राप्त करता है। दृढ़ इच्छाशक्ति के विकास के लिए व इन्द्रियों के नियमन के लिए इस केन्द्र पर चित्त का एकाग्र करना लाभप्रद माना गया है।

6. नाभि—नाभिस्थान पर मणिपुर नामक चक्र है। इस चक्र का ध्यान करने से आरोग्य का विकास होता है, ऐश्वर्य वृद्धिगत होता है तथा आत्मसाक्षात्कार होता है। यहाँ तैजसकेन्द्र भी है। यह केन्द्र अग्नि का स्थान है। अतः वृत्तियों को उभार लाने के लिए यह अपना योगदान देता है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इसके साथ विशुद्धिकेन्द्र का ध्यान करना चाहिए, अन्यथा वासना के उद्दाम वेग को रोक पाना असम्भव होगा और साधनाच्युत होना पड़ेगा।

7. मस्तक—मस्तिष्क में सहस्रार नामक चक्र होता है। योगशास्त्र में इस चक्र का अत्यधिक महत्व है। इसी को ही योगशास्त्र में ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। शरीर में स्थित पीयूष ग्रन्थि का सन्तुलन इसी केन्द्र से होता है। यदि चित्त को इस केन्द्र पर केन्द्रित किया जाए तो चेतना का विकास समग्र रूप से

हो जाता है। अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास, ज्ञान का विकास तथा तत्काल निर्णय की क्षमता इस केन्द्र पर ध्यान करने से प्राप्त होती है।

8. हृदय–छाती का मध्य भाग हृदय कहलाता है। यह भावना, करुणा, प्रेम और आत्मचिंतन का केन्द्र है। यहाँ ध्यान करने से साधक भावनाओं को शुद्ध करता है और भीतर स्थिर शांति पाता है।

9. तालु (जिह्वामूल)–जीभ का पीछे का हिस्सा, जहाँ वह गले से जुड़ता है, तालु कहलाता है। यह स्वाद और वाणी के नियंत्रण का केन्द्र है। साधक यहाँ ध्यान करके वाणी को मधुर और सत्य रखने का अभ्यास करता है।

10. भ्रू-युगान्त–यह दोनों भौहों के बीच का भाग है। इसे आज्ञा-चक्र क्षेत्र भी कहते हैं। मन को एक बिंदु पर केन्द्रित करने का श्रेष्ठ स्थान है। यहाँ ध्यान करने से विचार शांति की ओर जाते हैं और अंतर्ज्ञान बढ़ता है। इसे उर्ध्वगामी चेतना का द्वार भी माना गया है।

ज्ञानार्णवकार ने ध्यान के लौकिक फलों का विस्तार से वर्णन किया है। तदुपरान्त उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि साधक को इसमें अपने मन को भटकाना नहीं चाहिए। सांसारिक प्रलोभन से दूर रहकर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि ध्यान करते समय जब तक विषयों की वांछा होगी, तब तक ध्यान की सिद्धि नहीं होगी। अतएव ध्यान के समय वांछा से विहीन हो जाना चाहिए। साधक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि–

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युत्यक्त्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत्॥

–(स्वरूप सम्बोधन-21)

जिसकी मोक्ष में भी अभिलाषा नहीं होती, वह मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः हितान्वेषक को किसी प्रकार की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

जब मोक्ष की वांछा भी मोक्ष के लिए अवरोधक है तो अन्य प्रकार की वांछाएँ मोक्ष में अवरोधक क्यों न होंगी? अतएव साधक का निर्वांछक बनना ही श्रेयस्कर है।

विशुद्धध्यान की प्रशंसा करते हुए आचार्यश्री पूज्यपाद जी महाराज लिखते हैं–

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थिते।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः॥

–(इष्टोपदेश–47)

व्यवहार से रहित होकर जो आत्मानुष्ठान में निष्ठ हो चुका है–ऐसा योगी योग के प्रसाद से परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

आत्मनिष्ठत्व परमानन्द का जनक, शुद्धत्व का उत्पादक, परविकल्पों का संहारक तथा संसार का विनाशक है। अतः आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करना चाहिए।

महानुभाव! जब तक चित्त में पंचेन्द्रिय के विषयों का उद्रेक हो रहा है, तब तक चित्त धर्मध्यान–शुक्लध्यान में लीन नहीं हो सकता। विषयों की आँधी चल रही है तो चित्त स्थिर नहीं हो सकता। जैसे तेज हवा में कोई पीपल के पत्ते को स्थिर करने का साहस करे, तो वह स्थिर नहीं होगा। यह मन भी पीपल के पत्ते की तरह से डोलता रहता है।

'पीपल पात सरस मन डोला।'

विषयों को देखकर मन ऐसे ही हिलता–डुलता है, जैसे किंचित् भी हवा चलने पर पीपल के पत्ते का डंठल लम्बा होने और पत्ते का वजन ज्यादा होने से वह डोलने लगता है। जिस पत्ते का डंठल छोटा, मोटा और मजबूत होता है, वह पत्ता उतना ज्यादा नहीं डोलता; जैसे बरगद या आम का पत्ता हवा में इतनी जल्दी नहीं डोलते।

इसी प्रकार जिनका चित्त विषयों में चंचल होता है, उन्हें एकाग्र करना मुश्किल होता है। जैसे कई घोड़े, बकरे, भैंसे, गाय आदि मार्ग में जा रहे हों और उन्हें रोकने के लिए कोई ग्वाला आदि न हो, अथवा उनके गले में रस्सी आदि न हो तो फिर उनको रोकना मुश्किल होता है, और यदि वे खेतों में मुँह मारते हुए आगे बढ़ रहे हों, तो उन्हें रोकना और भी कठिन हो जाता है। ऐसे ही पञ्चेन्द्रिय के विषय सामने हों तो चित्त को एकाग्र करना मुश्किल हो जाता है। इसलिए विलासिता- पूर्ण भवन में साधना मुश्किल होती है, जबकि निर्जन वन में साधना सरल होती है।

जिसने निर्जन वन में चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास कर लिया हो, उसका चित्त विलासितापूर्ण भवन में भी चंचल नहीं होता। किन्तु अभ्यास से पूर्व वहाँ रहकर चित्त को स्थिर रखना कठिन है। निर्जनवन में चित्त को पंचेन्द्रिय के विषय नहीं मिलते हैं। कर्णप्रिय शब्द नहीं हैं, नेत्रप्रिय कोई दृश्य दिखाई नहीं दे रहे, जिह्वा इन्द्रिय के लिए प्रिय कोई खाद्य पदार्थ नहीं है। जंगल है–जहाँ पर ऐसे रौद्र दृश्य हैं जिन्हें देखकर विरक्ति बढ़ती है, संसार-शरीर-भोगों का यथार्थ बोध होता है। विलासितापूर्ण नगरियों में राग की वृद्धि होती है, द्वेष की वृद्धि होती है और निर्जन वनों में वैराग्य स्थिरीभूत होता है। स्थान का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है।

महानुभाव! विषयों से चित्त हटने के बावजूद भी यदि कषायों का उद्रेक हो जाए तो चित्त फिर चंचल हो जाता है। कषाय की ज्वाला चित्त को झुलसाती रहती है। यदि कहीं अरण्य में आग लग जाए, हवा चल रही हो तब कुछ ही देर में पूरा अरण्य स्वाहा हो जाता है। हवा नहीं भी चल रही हो, तब भी आग लगी है, तो वह भी धीरे-धीरे पूरे जंगल को जला देती है। कषाय अग्नि की तरह से है, चित्त हवा की तरह से है। विषय-कषाय दोनों मिलकर आत्मा का जितना ज्यादा पतन कर दे, वह भी कम है। अर्थात् वे

आत्मा का सब कुछ लूट सकते हैं और कषाय-विषय दोनों में से एक-एक है तब भी ये कुछ समय के लिए अनर्थ करने में समर्थ होते हैं।

महानुभाव! निर्मल बुद्धि के धारक आचार्यों ने यह ध्यान के स्थान कहे हैं। अपने शरीर में ही यह स्थान बना लो। यदि कहीं और चित्त को स्थिर करने का कारण नहीं मिल रहा हो तो इन अंग-उपांगों पर ध्यान लगाना चाहिए। एक-एक अंग पर ध्यान का आलम्बन लेने से चित्त निर्मल व एकाग्र होता है, पूर्वबद्ध कर्मों की विपुल मात्रा में कर्मनिर्जरा होती है, अशुभ का संवर होता है, सातिशय पुण्य का बंध होता है, इस प्रकार यहाँ ध्यान का विषय बताया। हे योगी! तुम्हें ध्यान में बैठकर इन दस स्थानों में से किसी एक स्थान पर, विषय की वांछा से रहित होकर अपना चित्त एकाग्र करना चाहिए। आज बस इतना ही।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

ग्रन्थाध्ययन का फल

ज्ञानांकुशमिदं चित्त प्रमत्तकरिणां कुशम्।
योऽधीतेऽनन्यचेतस्कः, सोऽभ्युपैति परं पदम्।।44।।

अन्वयार्थ–(इदम्) यह **(ज्ञानांकुशं)** ज्ञानांकुश ग्रंथ **(चित्त)** मन के **(प्रमत्त)** प्रमत्त **(करिणाम्)** हाथी के लिए **(कुशम्)** अंकुश है **(यः)** जो **(अनन्यचेतस्कः)** अनन्यचेता इसका **(अधीते)** अध्ययन करता है **(सः)** वह **(परम्)** परम **(पदम)** पद को **(अभ्युपैति)** प्राप्त करता है।

अर्थ–मन रूपी प्रमत्त हाथी को वश करने के लिए यह ज्ञानांकुश अंकुश के समान है, जो अनन्यचेता होकर इसका अध्ययन करता है, वह परम पद को प्राप्त करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव द्वारा विरचित 'ज्ञानांकुश' ग्रन्थ की वाचना के अन्तर्गत आज हम इसके अंतिम मङ्गलाचरण रूप उपसंहार नामक काव्य का अध्ययन कर रहे हैं। आचार्य महोदय ने यथानाम तथा गुणों की व्याख्या इस ग्रन्थ में की। इस ग्रन्थ का नाम है 'ज्ञानांकुश' अंकुश शब्द लोक व्यवहार में बहुत प्रचलित है। 'ज्ञान' शब्द आगे आने से यथार्थ बोध हो रहा है कि ज्ञानरूपी अंकुश। लोहे का अंकुश तो हाथी पर लगाया जाता है। ज्ञान का अंकुश किस पर लगाना है? इस चित्त रूपी हाथी पर ज्ञान का अंकुश लगाने की बात कही। सामान्यतः यह कहा जाता है कि यदि हाथी पर अंकुश लगाया जाए, तो वह वश में हो जाता है। उसी प्रकार चित्त को साधने में भी ज्ञानांकुश की उपमा दी गई है।

आचार्य महोदय ज्ञानांकुश ग्रन्थ की महिमा को उपसंहार रूप कह रहे हैं कि यह ज्ञानांकुश नामक ग्रन्थ चित्त के लिए वैसा ही है, जैसे उच्छृंखल हाथी को वश में करने के लिए अंकुश होता है। हाथी मदोन्मत्त हो जाए अथवा उसके मनोनुकूल कार्य न होने से उच्छृंखल हो जाए तो वह बंधन को तोड़कर, वृक्षों को उखाड़कर, गृह-भवनादि को गिराकर, फसलों को रौंदकर, नरसंहार और धनसंहार कर भारी विनाश कर देता है। हाथी को वश में करना बड़ा मुश्किल होता है। उसका बल इतना प्रचंड होता है कि कोई भी जीव-जन्तु उसकी शक्ति का सामना नहीं कर सकता। एक उच्छृंखल हाथी इतना संहार कर सकता है कि हजार हाथी मिलकर के भी इतना सृजन नहीं कर सकते।

इस मन को, चित्त को भी हाथी की उपमा दी, क्यों? क्योंकि चित्त में व हाथी में कुछ समानता है। समानता यह है कि विशालकाय हाथी जब मस्ती में झूम-झूम कर चलता है, तो अपनी सूँड को हिलाता चलता है और रास्ते में जो भी वस्तु आती है उसे अपनी सूंड से भरकर मुँह में डालने की कोशिश करता है। उस हाथी को स्वयं नहीं मालूम कि मेरा शरीर इतना विशाल है, क्योंकि उसकी गर्दन और शरीर मिले हुए होते हैं, इसलिए उसकी गर्दन मुड़ नहीं पाती। वह मुड़ता है तो पूरा शरीर मुड़ जाता है। यदि गर्दन मुड़ न पाए तो पूरा शरीर जड़ हो जाता है। यही कारण है कि छोटे बच्चे भी जब हाथी की गर्दन पकड़ लेते हैं तो उसकी गति कम हो जाती है। लोक व्यवहार में छोटी गर्दन वाले व्यक्ति को कह दिया जाता है कि, यह आ गए 'गजानन साहब' अर्थात् हाथी के जैसे मुख वाले।

हाथी इतना विशालकाय होता है, लेकिन उसे इसका भान नहीं है। यदि उसे यह भान हो जाए कि मेरी इतनी विशालकाय है तो वह शेर को भी परास्त कर सकता है। अपनी सूंड में शेर व शेर के बच्चे को उठाकर कहीं का कहीं फेंक सकता है। किन्तु उसे अपनी विशालता का ज्ञान नहीं है। इसी

तरह से यदि चित्त अपनी शक्ति को पहचान ले, चित्त को ज्ञात हो जाए कि ये कर्म मुझे मार रहा है, तो कर्मों को अपनी ज्ञान-संयमरूपी सूंड में लपेटकर चूर-चूर ही कर दे। किन्तु ऐसा हाथी यदि उच्छृंखल हो जाए तो संहार ही करता है। ऐसे ही मन भी उच्छृंखल हो तो संहार ही करता है।

उच्छृंखल हाथी स्वयं को तो हानि पहुँचाता ही है, साथ ही मार्ग में आने वाले अनगिनत प्राणियों का भी संहार कर डालता है। उसी प्रकार, जब मन उच्छृंखल होकर अहंकार और वासनाओं पर चल पड़ता है, तो वह साधक को पतन की ओर ले जाता है। हाथी को वश में करने के लिए कुशल महावत लोहे का एक कोल (अंकुश) लेकर उसकी कनपटी पर लगाता है और पीछे खींचता है। हाथी उस चोट से विचलित होकर वहीं रुक जाता है और उच्छृंखल नहीं होता। हाथी उस छोटे से अंकुश के कारण वश में हो जाता है। यदि महावत के हाथ में अंकुश नहीं हो तो वह कभी भी हाथी पर सवारी नहीं कर सके। हाथी पर बैठना तभी संभव है जब उसके पास अंकुश हो। जैसे किसी गाड़ी में बैठने से पहले यह देखा जाता है कि इसके ब्रेक ठीक हैं या नहीं। जिस गाड़ी के ब्रेक फेल हों, उस गाड़ी में यात्रा करना मृत्यु का कारण बन सकता है। घोड़े की सवारी भी बिना लगाम के नहीं हो सकती; अन्यथा वह उच्छृंखल होकर सवार को कहीं भी गिरा सकता है।

महानुभाव! यह अंकुश वास्तव में संयम का प्रतीक है। जहाँ-जहाँ संयम है वहाँ-वहाँ उत्थान है, विकास है, आध्यात्मिक उन्नति है। और जहाँ संयम नहीं है, वहाँ विकास नहीं विनाश है, ह्रास है, पतन है। इसीलिए आचार्य महोदय ने कहा—यह मन भी हाथी के समान है। यदि इस पर ज्ञान और संयम का अंकुश न हो, तो वह साधक को कहीं भी गिरा देगा। ज्ञान के साथ जो संयम है, वही अंकुश का कार्य करता है। **'सम्यग्ज्ञानं क्रिया सहितं'** क्रिया सहित सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण होता है और क्रिया रहित ज्ञान भववर्धक

होता है। सम्यग्ज्ञान के साथ यदि संयम,है, तो भव्यजीव मोक्षमार्गी बन जाएगा और संयम नहीं है तो कितना भी शब्दज्ञान हो, उससे मस्तक एवं कंठ की खुजलाहट को दूर किया जा सकता है, अपने अहंकार का पोषण किया जा सकता है, दूसरे का तिरस्कार किया जा सकता है, किन्तु आत्मा का कल्याण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार अंकुश लगते ही हाथी के नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। ऐसे ही माना कि सद्‌गुरु के सद्ज्ञान रूपी वचन का भव्यात्मा पर जब अंकुश लगता है, तब उसका मन नियंत्रित होता है और उसके नेत्र भी नम होने लगते हैं। वह पश्चाताप करने लगता है कि मैंने ऐसा क्यों किया? अपने मन को उच्छृंखल क्यों कर दिया? अपने मन पर नियंत्रण क्यों नहीं किया?

आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि यह ज्ञानांकुश ग्रन्थ 'चित्त प्रमत्तकरिणं' चित्त रूपी प्रमत्त हाथी के लिए अंकुश के समान है। बिना अंकुश के हाथी को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, तो बिना ज्ञान के मन को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः'** मनुष्यों का मन ही कर्म बंध का कारण है, वही कर्म विच्छेद का कारण है और वही निर्जरा और संवर का भी कारण है। इसलिए मन पर नियंत्रण करना जरूरी है। जिन्होंने मन को उच्छृंखल छोड़ दिया है, वे शरीर को खूब तपाएँ, खूब सुखाएँ, चाहे पशु की तरह से मूक- मौन भी बैठे रहें तब भी आत्मा का कल्याण संभव नहीं। इसलिए मन को बस में करना परम आवश्यक है।

मन को वश में करने का बसएक ही उपाय है **'सिद्धान्त के मनन से मन हाथ आता'** सिद्धान्त का चिन्तवन करने लग जाओ, मन अपने आप स्थिर हो जाएगा। आँख बंद करके करुणानुयोग के चिन्तवन में लग जाओ। कब घंटों निकल जाते हैं मालूम नहीं चलता। सोचो–यह तीन लोक कैसे हैं,

अधोलोक की रचना कैसी है? इसमें कौन-कौन से नरक हैं और वे किस प्रकार पीड़ा देते हैं। वहाँ कितने बिल उष्ण हैं, कितने शीत बिल हैं, किस नरक में कौन-कौन सी लेश्याएँ हैं? मध्यलोक में मनुष्य और पशु किस प्रकार भोगों में आसक्त रहते हैं? और ऊर्ध्वलोक में देव किस प्रकार सुखों में रमे रहते हैं?-इन सबका चिंतवन करो।

मध्यलोक कितना विशाल है, उसकी कल्पना करो। यहाँ असंख्यात द्वीप- समुद्र हैं और सब दूने-दूने विस्तार वाले हैं। अकेले जम्बूद्वीप का चिंतन करो कि उसमें सात क्षेत्र हैं, छह पर्वत हैं, मध्य में नाभिवत् सुमेरु पर्वत है। विदेह क्षेत्र के स्वरूप का चिंतन करो। मध्यलोक में कहाँ-कहाँ अकृत्रिम जिनालय हैं, इनका चिन्तवन करते चले जाओ। आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने मनरूपी बंदर को वश में करने का उपाय बताया-**'श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनो कर्कट ममु'** श्रुत रूपी वृक्ष के तने पर इस मन रूपी बंदर को रमाओ। ये वहीं विश्राम पाता है, अन्यथा यह विक्षिप्त रहता है।

महानुभाव! किसी भी सिद्धान्त को लेकर मन को उसी दिशा में लगाना ही अंकुश लगाना है। कर्म बंध की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति का चिन्तवन करें, चौबीस ठाणा का चिन्तवन करें, जीवसमास का अन्वेषण करें कि कहाँ-कहाँ जीव हैं। इस प्रकार मन के विषय के लिए यह श्रुत रूपी समुद्र अगाध है। इसलिए यहाँ कहा कि इस प्रमत्त हाथी रूपी मन को एकाग्र करने के लिए जो 'अधीते अनन्यचेतस्कः' इस ज्ञानांकुश ग्रन्थ को एकाग्र चित्त होकर पढ़ता है 'सः अभ्युपैति परम पदम्' वह निःसंदेह परम उत्कृष्ट मोक्ष पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

जो साधक इन गाथाओं को कंठस्थ कर हृदय में बसाता है, उसके लिए यह गाथाएँ जीवनभर संयम की अंकुश बनकर चलती हैं। संकट की घड़ी में स्मरण करने पर ये गाथाएँ चित्त को स्थिर करती हैं, और आत्मा को निरंतर

आत्मबोध का स्मरण कराती हैं। जितनी शुद्ध भावना और जितनी गहरी श्रद्धा से साधक इस ग्रंथ का अध्ययन करेगा, उतना ही वह आत्मकल्याण के पथ पर तीव्रता से अग्रसर होगा। भावनाओं से किया गया पाठ केवल शब्दों का उच्चारण नहीं, बल्कि आत्मा का स्पंदन बन जाता है। शुद्ध भावनाओं से किया गया अध्ययन अदृश्य पुण्य को देने वाला होता है।

महानुभाव! यह ज्ञानांकुश ग्रन्थ आपने वाचना के रूप में सुना, पढ़ा। इसमें जो आपके हित के योग्य लगे, आपको प्रिय और हितकारी प्रतीत हो-उसे अपने जीवन में ग्रहण कीजिए। जो लगे कि ये तत्त्वविहीन है, उसका परिमार्जन कर छोड़ दें। जब हम फल खरीदते हैं तो अच्छे, बुरे, छोटे-बड़े सब प्रकार के फल दिखाई देते हैं, परन्तु हम वही फल खरीदते हैं जो हमें अच्छा लगता है, और हमारे काम का होता है। इसी प्रकार इस वाचना में से सारभूत-तत्त्वभूत जो शब्द-भाव हैं उन्हें अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करना चाहिए। यह ग्रन्थ हमारे जीवन में आत्मज्ञान, संयम और मोक्षमार्ग की सतत प्रेरणा देता रहे—इसी भावना के साथ इसका समापन करते हैं। आप सभी का हित हो, मङ्गल हो, शुभ हो, ऐसी मङ्गल भावना भाते हैं। इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

श्री शान्तिनाथ भगवान की जय!

आचार्य भगवन् श्री योगीन्द्रदेव की जय!

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)			
क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)	6.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
7.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)	8.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
9.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)	10.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
11.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)	12.	तच्चसारो (तत्त्व सार)
13.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)	14.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
15.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)	16.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)
17.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)	18.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
19.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)	20.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
21.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)	22.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
23.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)	24.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
25.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)	26.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
27.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)	28.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
29.	को विवेगी (विवेकी कौन)	30.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
31.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)	32.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)
33.	धम्मस्स सुत्ति संगहो	34.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
35.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)	36.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
37.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)	38.	समणायारो (श्रमणाचार)
39.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)	40.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)
41.	समणभावो (श्रमण भाव)	42.	झाणसारो (ध्यानसार)
43.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)	44.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)
45.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)	46.	पसमभावो (प्रशम भाव)
47.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)	48.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)
49.	विणयसारो (विनय सार)	50.	तव-सारो (तप सार)
51.	भाव-सारो (भाव सार)	52.	दाण-सारो (दान सार)
53.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)	54.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)
55.	णाण-सारो (ज्ञान सार)	56.	णीदि-सारो (नीति सार)

57.	आयंस-सिक्खाविही (आदर्श शिक्षाविधि)	58.	दंसण-परिक्खा (दर्शन परीक्षा)
59.	महाणुभावो (महानुभाव)	60.	उववासो (उपवास)
61.	संजम-सारो (संयमसार)	62.	सम्मत्त-सारो (सम्यक्त्व सार)

टीका ग्रंथ			
1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य			
1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य			
1.	इष्टोपदेश (मुक्ति का वाग्दान)	2.	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (बोधि वृक्ष)
3.	सामायिक पाठ (शिवपथ का रथ)	4.	समाधि तंत्र (स्वात्मोपलब्धि)
5.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्रावकधर्म-संहिता)	6.	ज्ञानांकुश (तत्त्व चिंतन के सूत्र)

प्रवचन साहित्य			
1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दुःखदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दुःख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	गुरुत्तं भाग 18	32.	चूको मत
33.	जय बजरंगबली	34.	जीवन का सहारा
35.	ठहरो! ऐसे चलो	36.	तैयारी जीत की
37.	दशामृत	38.	धर्म की महिमा
39.	ना मिटना बुरा है न पिटना	40.	नारी का धवल पक्ष

41.	शायद यही सच है	42.	श्रुत निर्झरी
43.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा	44.	सीप का मोती (महावीर जयंती)
45.	स्वाती की बूँद		

हिंदी गद्य रचना

1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा
27.	स्वप्न विचार	28.	सद्‌गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना

1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दुःखों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान

17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना
27.	अभिनव सिद्धचक्र मंत्रार्चना		

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)

1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुत्रद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य			
1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बरैया)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य	
1.	अरिष्ट निवारक त्रय विधान • नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)
2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक

4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य			
1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		

परम पूज्य आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज कृत

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं

हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं

णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं

भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं

लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं

तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं

पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।